## समर्पण

आचार्य शुक्ल के सर्वोत्तम व्याख्याता, हिन्दी आलोचना के
एवरेस्ट, हिन्दी (भाषा, साहित्य एवं जाति) के
अप्रतिम गौरव एवं महान् विचारक
'भारत भानु' डॉ० रामविलास
शर्मा को सादर-सविनय
समर्पित

रामविलास शर्मा
प्र.पू. निदेशक

टेलीफोन { निवास [illegible]
कार्यालय [illegible]

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान
विद्यापीठ, आगरा



दिनांक ४.६.६८

डा. रामकृपालु पाण्डेय ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर शोध कार्य करके हिन्दी अनुसन्धान-क्षेत्र में [illegible] स्थापित किया है। यद्यपि आचार्य शुक्ल पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, फिर भी इस शोध प्रबन्ध में जैसी विवेचना है, वैसी अन्यत्र अप्राप्य है।

शोध-कार्य संपन्न करने के बाद वह आलोचना-क्षेत्र में निरंतर आगे बढ़ते रहे हैं। उनके लगभग १५ निबन्ध प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से प्रत्येक निबन्ध लिखने में उन्होंने इतना परिश्रम किया है जितना सामान्यतः अन्य लोग एक पुस्तक लिखने में करते हैं। इन निबन्धों से उनके गहन अध्ययन, स्पष्ट चिन्तन और पुष्ट गद्य-लेखन का परिचय भली भाँति मिल जाता है।

वह डी. सी. कालेज [illegible] में छह वर्षों से सफलतापूर्वक अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। वह अत्यन्त मृदुभाषी, सहृदय, अध्ययनशील और प्रगतिशील विचारों के अध्यापक हैं। उनमें जो क्षमता है, उसके विकास की बहुत बड़ी संभावना है। मैं आशा करता हूँ कि शिक्षा-जगत के सूत्रधार उनकी सेवा से लाभ उठाकर इस क्षमता के विकास में योगदान करेंगे।

रामविलास शर्मा

# निवेदन

मेरा विषय 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्त' सर्वथा नया नहीं है। आचार्य शुक्ल के विषय में अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त दो शोधप्रबन्ध भी पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। पहला शोध प्रबन्ध डॉ० जयचन्द्रराय का है, जिसे उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए १६५७ ई० में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक अध्ययन' शीर्षक से प्रस्तुत किया था, जो किंचित् संशोधित रूप में भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली से १६६३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक भी बदल कर 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य' कर दिया गया है। दूसरा शोध प्रबन्ध डॉ० रामलाल सिंह का है, इसका शीर्षक है—'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त। यह तद्वत् रूप में कर्मभूमि प्रकाशन, वाराणसी से १६५८ ई० में ही प्रकाशित हो गया था। इससे स्पष्ट है कि मेरा विषय नया नहीं है, किन्तु मेरा विश्लेषणात्मक विवेचन, मेरी उपलब्धियाँ और उनका संश्लिष्ट स्वरूप निश्चय ही पर्याप्त सीमा तक नवीन है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

पाश्चात्य भाववादी विचारक क्रोचे और उनके अभिव्यंजनावाद के प्रति अपनाए गए शुक्ल जी के दृष्टिकोण और उनकी स्थापनाओं को विद्वानों की कतार उनके चिन्तन-मयंक का कलंक समझती रही है, और बेहिचक निःसंकोच होकर यह कहती रही है कि उन्होंने (शुक्ल जी ने) क्रोचे को समझा ही नहीं अथवा उनकी अभिव्यंजना को भ्रमवश बाह्य-अभिव्यंजना समझा है, लेकिन तुलनात्मक विश्लेषणात्मक विवेचन के अनन्तर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वस्तुतः शुक्ल जी द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण और उनकी स्थापनाएँ पर्याप्त सीमा तक उचित हैं, अतः वह उनके चिन्तन का कलंक नहीं गौरव है और यह कहना कि उन्होंने क्रोचे को समझा ही नहीं अथवा उनकी अभिव्यंजना को भ्रमवश बाह्य अभिव्यञ्जना समझा है, एक सहजानुभूति जन्य भ्रान्ति और निराधार निर्णय है। मुझे एक भी पुस्तक ऐसी नहीं मिली, जिसमें अन्वेषणात्मक वास्तविकता की खोज का प्रयास होता और अपेक्षाकृत भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया होता, सभी में एक ही स्वर की गूंज मिली। इसी प्रकार प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में सापेक्ष नवीनताओं का मैंने युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। परिणामतः मेरे प्रबन्ध का पूर्ण स्वरूप अपेक्षाकृत नवीन है।

अपनी सापेक्ष नवीन दृष्टि के स्पष्टीकरण के लिए यह कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि यदि मैं 'दर्शन' का विद्यार्थी न होता और प्राच्य और प्रतीच्य, प्राचीन

और नवीन, दार्शनिक अवधारणाओं से परिचित न होता, विशेषकर यदि मार्क्सवाद का गहन और विस्तृत अध्ययन न किये होता तो निश्चय ही मैं प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ न होता। उस समय मेरे प्रबन्ध और पूर्व प्रबन्धों में उतना और उस प्रकार का अन्तर न होता, जितना और जिस प्रकार का अन्तर अब है।

मेरा विषय मेरे समक्ष सुस्पष्ट रहा है, उसके समग्र क्षेत्र-विस्तार का समावेश प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है। प्रायः 'समीक्षा-सिद्धान्त' और 'साहित्य सिद्धान्त' को पर्याय के रूप में व्यवहृत किया जाता है किन्तु यह उचित नहीं। सर्वश्री रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन का कथन है कि—'वस्तुतः साहित्य-समीक्षा (Literary Criticism) शब्दावली का प्रयोग प्रायेण इस रूप में किया जाता है कि जैसे उसमें समस्त साहित्यिक सिद्धान्त समाहित हों, किन्तु ऐसा प्रयोग उनके बीच के उपयोगी विभेद की उपेक्षा कर देता है।'[1] वास्तव में 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त' या 'साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त' या 'समीक्षा सिद्धान्त' या 'साहित्य-समीक्षा' पदावलियों का 'साहित्य सिद्धांत' के पर्याय के रूप में प्रयोग करना त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है। निश्चय ही साहित्य-सिद्धान्त का क्षेत्र विस्तार 'समीक्षा-सिद्धान्त' के 'क्षेत्र-विस्तार' से अधिक है। वस्तुतः 'समीक्षा सिद्धांत' साहित्य सिद्धांत के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य-सिद्धान्त अंगी या अंशी है और समीक्षा-सिद्धांत उसका एक प्रमुख अंग या अंशमात्र है।

हिन्दी-साहित्य में प्रायः समीक्षा-सिद्धांत और साहित्य-सिद्धांत में भेद नहीं किया गया है, इसका एक प्रमाण यही है कि डॉ० रामलाल सिंह के प्रबन्ध का शीर्षक है 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत' किन्तु उसके अन्तर्गत इतर साहित्यिक सिद्धांतों का भी समावेश किया गया है, जिनका विवेचन वस्तुतः 'साहित्य-सिद्धांत' शीर्षक के ही अन्तर्गत होना चाहिए, 'समीक्षा-सिद्धांत' के अन्तर्गत नहीं।

साहित्य-सिद्धांत के अन्तर्गत साहित्य सम्बन्धी समस्त सिद्धांत लिए जाते हैं। साहित्य के स्वरूप-लक्षण, परिभाषा, प्रयोजन, आवश्यकता, कार्य, क्षमता या शक्ति, प्रेरणा, हेतु, वस्तु-तत्व, सृजन-प्रक्रिया, विषय, माध्यम, शैली और प्रभाव आदि तत्वों के सम्बन्धित सिद्धांत और साहित्य के विविध रूपों तथा उनके विविध तत्वों से संबंधित सिद्धांत भी साहित्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत आते हैं। कवि, पाठक या सामाजिक आलोचक, जीवन और जगत् के साथ उसके अन्तर्सम्बन्धों के विश्लेषण सम्बन्धी सिद्धांत भी साहित्य सिद्धांत के अन्तर्गत आते हैं। साहित्यशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र आदि अन्य विद्याओं से उसके वास्तविक सम्बन्ध का निरूपण करने वाले सिद्धांत भी साहित्य-सिद्धांत के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त समीक्षा सिद्धांत एवं साहित्यिक इतिहास के सिद्धांत तो साहित्य-सिद्धांत के प्रमुख अंग हैं ही। इन सभी सिद्धांतों का अन्वेषणात्मक एवं विवेचनात्मक प्रतिपादन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

साहित्य-सिद्धांतों के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनके जीवन-सिद्धांतों का

---

१. थीअरी आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन, पृ० ३९।

अध्ययन अनिवार्य समझकर मैंने उसका विस्तृत अध्ययन किया, परिणामत: एक स्वतंत्र प्रबन्ध के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई, जिसका सारांश मात्र मैंने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय—'जीवन सिद्धांत' में दिया है। किन्तु मेरा यह श्रम व्यर्थ नहीं गया, वरन् उससे उनके जीवन-दर्शन की सापेक्षता में उनके विविध साहित्य सिद्धांतों और उनके समग्र साहित्य दर्शन को भली-भाँति समझकर पर्याप्त अनुरूपता के कारण उन्हें परस्पर संबद्ध कर समन्वित रूप देने में मुझे पर्याप्त सहायता मिली।

प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय है—'साहित्य की परिकल्पना' जिसके अन्तर्गत साहित्य और काव्य के स्वरूप-लक्षण, परिभाषा, आत्मा, प्रयोजन, आवश्यकता, कार्य, शक्ति, प्रेरणा, हेतु, वस्तु-तत्व, सृजन-प्रक्रिया, विषय, माध्यम और शैली आदि तत्वों से सम्बन्धित सिद्धांतों तथा कवि और काव्य, कवि गुण, कवि कर्म, कवि-कर्तृत्व, कवि-कोटि, काव्य-अधिकारी, काव्य और कला, काव्य और आलोचना, काव्य और इतिवृत्त, काव्य और शक्ति, काव्य और स्वप्न, काव्य और वाद, काव्य और दर्शन, साहित्य और जन-आन्दोलन, साहित्य और साहित्यशास्त्र, काव्य और सौंदर्यशास्त्र, काव्य और जीवन, काव्य और जगत् आदि विषयों पर शुक्ल जी के विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

प्रबन्ध का तीसरा अध्याय है—'साहित्य के विविध रूप' जिसमें साहित्य के विविध रूपों पर पृथक्-पृथक् रूप से शुक्ल जी के विचारों का सैद्धान्तिक प्रस्तुतीकरण है।

प्रबन्ध का चौथा अध्याय है—'प्राचीन-सिद्धांत' जिसमें रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, शब्द शक्ति, ध्वनि और छन्द तथा लय सम्बन्धी शुक्ल जी के विचारों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन है।

प्रबन्ध का पाँचवा अध्याय है—'आधुनिक सिद्धांत' जिसमें उनकी सौन्दर्य दृष्टि अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीक-योजना, बिम्ब-विधान, प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सिद्धांत और साहित्येतिहास दृष्टि का विशद विवेचन किया गया है।

और अन्त में है—'समाहार', जिसमें समग्र अध्ययन से उपलब्ध विशिष्ट निष्कर्षों के आधार पर उनके जीवन दर्शन के अनुरूप उनके साहित्य-दर्शन या शास्त्र का स्पष्ट स्वरूप प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

जहाँ तक प्रबन्ध के अन्तर्गत अपनायी गई पद्धति का प्रश्न है, मैंने सजगता पूर्वक व्याख्यात्मक-विश्लेषणात्मक आगमनात्मक पद्धति ही प्रायेण अपनायी है और निराधार या प्रमाणहीन निर्णय देने से बचने की भरसक कोशिश की है। युवा-प्रकृति की स्वाभाविक उग्रता के कारण मेरी शैली कहीं-कहीं उग्र हो गई है, किन्तु फिर भी वह मर्यादित है। टंकण की त्रुटियों को शुद्ध करने का मैंने अथक प्रयास किया है, फिर भी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। एतदर्थ क्षमा प्रार्थी हूँ।

इसके पहले कि निवेदन का अन्त करूँ—आभार-स्वीकार कर कर्तव्य निभाना चाहता हूँ। मैं सर्वाधिक आभारी अपने निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर डा० रघुवंश जी का हूँ।

निर्देशन-काल में यथेष्ट समय देने के साथ ही साथ विचार-विनिमय के बीच कभी भी उन्होंने अपना मताग्रह नहीं प्रकट किया, अपितु पुष्ट आधारों पर स्वतन्त्र चिन्तन के लिए ही सदा प्रेरित किया। जैसे कि सामान्यतः सभी शोध-छात्रों को विविध कठिनाइयों से जूझना पड़ता है, मुझे भी अनेक अवसरों पर नाना कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यदि गुरुजनों की सतत् सत्प्रेरणाएँ मेरा उत्साहवर्द्धन न करतीं तो शायद मैं धैर्य खो देता।

जिन विद्वानों की कृतियों से मुझे किसी भी प्रकार की सहायता मिली है, उनका भी मैं आभारी हूँ।

# पुनश्च शुभे प्रकाशनकाले

लगभग २० वर्ष तक अन्धकार में रहने के बाद यह शोध-प्रबन्ध अब सन् '८६ में ज्यों का त्यों प्रकाश में आ रहा है। इस अवसर पर ही कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है :

इस शोध-प्रबन्ध की टाइपिंग आदि का सारा खर्च डॉ० रघुवंश एवं पं० उमाशंकर शुक्ल जी ने (शुक्ल जी दिवंगत हो चुके हैं) स्वेच्छा से वहन किया था, यद्यपि मैं साहित्यिक एवं राजनैतिक विचारों में उनका विरोधी था और चाटुकार नहीं, अपितु अक्खड़ और स्वाभिमानी विद्यार्थी था फिर भी। खर्च में कमी करने के उद्देश्य से डॉ० रघुवंश ने टाइपिस्ट को यह निर्देश दिया था कि वह पादटिप्पणियों को पृथक्-पृथक् पंक्ति में न देकर एक साथ पंक्तिबद्ध कर दे। इस पद्धति के कारण छपाई के समय बड़ी कठिनाइयाँ सामने आयीं और बहुत प्रयत्न के बावजूद उसे परिवर्तित नहीं किया जा सका।

डॉ० रघुवंश अथवा मेरे शोध-प्रबन्ध के परीक्षकों से उसकी प्रशंसा सुनकर डॉ० नामवर सिंह ने उसे देखने की इच्छा सन् '७१ में प्रकट की थी। तदनुसार उसे मैंने राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली के पते पर उनके पास भेज दिया था। पत्र द्वारा उन्होंने मुझे सूचित किया था कि—आपके शोध-प्रबन्ध की जितनी प्रशंसा मैंने सुनी थी उससे भी अधिक अच्छा उसे पाया। राजकमल प्रकाशन इसे अवश्यमेव प्रकाशित करेगा। इसके अतिरिक्त मेरे योग्य सेवा लिखें। और फिर तो नामवर जी ने मुझे सस्नेह बुलाकर जोधपुर विश्वविद्यालय (राजस्थान) के हिन्दी-विभाग में (जहाँ वे प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष और कला संकाय के डीन थे) १ सितम्बर '७१ को अस्थायी प्रवक्ता बना दिया।

अपने शोध-प्रबन्ध में मैंने आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास-दृष्टि के विवेचन के प्रसंग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नामवर सिंह की कुछ आलोचना की थी। यों तो उस समय उन्होंने उस अंश को पढ़ा न था, या पढ़ने के बावजूद वे आहत न हुए थे। लेकिन, सन् '७२ में उन्होंने इतिहास-दृष्टि सम्बन्धी अंश को कुछ संक्षेप में लिखकर 'आलोचना' में प्रकाशनार्थ देने के लिए कहा। मैंने वैसा ही किया, किन्तु अपने विचारों में मैंने जरा भी परिवर्तन नहीं किया। उस निबन्ध को प्रकाशित करने में नामवर जी ने असमर्थता प्रकट की और शोध-प्रबन्ध के कुछ दूसरे अंश 'आलोचना' में प्रकाशित किए।

एक दिन विभाग में बैठे-बैठे शुक्ल जी पर चर्चा छिड़ गयी। नामवर जी ने मुझसे कहा—पाण्डेय जी, आप एक निबन्ध में यह सिद्ध कीजिए कि आचार्य शुक्ल

जातिवादी नहीं थे। मैंने कहा—डॉ० साहब, पहले आप एक निबन्ध में यह सिद्ध कीजिए कि आचार्य शुक्ल जातिवादी थे, तो मैं उसका खण्डन अवश्य करूँगा। वे मुस्करा कर शान्त हो गये। उसके बाद अनेक बार हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी और डॉ० रामविलास की भूमिकाओं को लेकर बहस छिड़ी। मैं आचार्य शुक्ल और डॉ० शर्मा को आचार्य द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी से अधिक महत्व देता था। डॉ० नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी को तो डॉ० नामवर सिंह भी आचार्य शुक्ल और डॉ० शर्मा के बीच में स्थान न देते थे, किन्तु वे आचार्य द्विवेदी को आचार्य शुक्ल से आगे बढ़ा हुआ आलोचक कहते थे। मैं इसे मानने से साफ इन्कार करता था।

जोधपुर विश्वविद्यालय में डॉ० नामवर सिंह के विरोध में राजस्थानी प्राध्यापकों के समर्थन से क्षेत्रीयतावाद का नारा देकर डॉ० नित्यानन्द शर्मा आन्दोलन चला रहे थे। मेरी वजह से भी यह आन्दोलन कुछ अधिक तेज हुआ; क्योंकि आन्दोलनकारियों के विरोध के बावजूद डॉ० नामवर ने मुझे (एक गैर राजस्थानी को) जोधपुर में प्रवक्ता बना दिया था।

ऐसी स्थिति में नामवर जी ने शायद यह सोचा होगा कि यह विचित्र व्यक्ति है! मैं ही इसे लाया और यह मेरा ही विरोध करता है। इसकी वजह से मेरे विरोध में आन्दोलन भी और भड़क उठा है। इससे मुक्ति ही श्रेयस्कर होगी। कुछ भी हो, पहला शिकार मैं ही हुआ। १६ जुलाई '७२ को मुझे विश्वविद्यालय से हटा दिया गया। मुझे हटाने के लिए पूरे विश्वविद्यालय के लगभग ३५-४० समस्त अस्थायी प्रवक्ताओं को हटाया गया जिन्हें ४-५ महीने बाद पुनः ले लिया गया। तत्कालीन कुलपति ने बताया था कि दबाव राज्य के मुख्यमन्त्री और राज्यपाल का पड़ रहा है। उन्होंने मुझे व्यक्तिगत स्तर पर सलाह दी थी कि—पाण्डेय जी, अभी आप चले जाइए। उचित अवसर आने पर मैं आपको अवश्य बुला लूँगा। लेकिन मैं दरवाजा खटखटाने न गया। ८ सितम्बर '७३ को मैंने पहला इण्टरव्यू दिया था पी० सी० बागला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हाथरस, में और संयोग से चुन लिया गया था।

जोधपुर से हटते समय अपना शोध-प्रबन्ध मैं अपने साथ लेता आया और फिर मैंने उसके प्रकाशन के लिए न तो डॉ० नामवर सिंह के माध्यम से राजकमल प्रकाशन को लिखा और न किसी अन्य प्रकाशन को। सन् '७६ में मैं 'लोकभारती' प्रकाशन इलाहाबाद व्यक्तिगत उपयोग के लिए कुछ पुस्तकें खरीदने गया। वहाँ मैंने श्री दिनेश चन्द्र जी से, जिनसे मैं पूर्व परिचित था, अपना शोध-प्रबन्ध प्रकाशित करने के लिए निवेदन किया। थोड़ी-बहुत कठिनाइयों का उल्लेख करने के बाद उन्होंने कहा—अच्छा, आप अपना शोध प्रबन्ध भेज दीजिएगा। मैंने बिना समय खोये वैसा ही किया। उनकी और उनके बड़े भाई की कृपा से वह अब प्रकाश में आने ही वाला है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ कि वे अपनी पूँजी फँसाने का जोखिम उठा रहे हैं।

हिन्दी के जो महान् विद्वान् आचार्य शुक्ल और डॉ० रामविलास शर्मा से मीलों आगे, बिना उन्हें समझे ही, बढ़ गये हैं, उनके काम की यह पुस्तक नहीं है। यह पुस्तक तो उन सहस्रों साधारण पाठकों के लिए है जो परिश्रमपूर्वक आचार्य शुक्ल को समझना चाहते हैं।

यह पुस्तक यदि समय पर प्रकाशित हो गई होती तो अब तक कम से कम डेढ़ दर्जन पुस्तकें लिखकर हिंदी आलोचना में मैंने काफी कूड़ा बढ़ाया होता। अतः बेकार की मेहनत से बच गया। अच्छा ही हुआ।

इत्यलम्। धन्यवाद।

६-१-८८ —रामकृपाल पाण्डेय

# अध्ययन-क्रम

# जीवन सिद्धान्त

जीवन जगत् से सम्बद्ध होता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी का प्रयोजन और विकास होता है।'[1] शुक्ल जी का यह कथन वस्तु-सत्य है। इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति की जीवनदृष्टि उसकी लोकदृष्टि से बद्ध होती है, उसका जीवन-सिद्धांत उसके जगत् सम्बन्धी दृष्टि-कोण अर्थात् विश्व दृष्टिकोण पर आधारित होता है। अतः शुक्ल जी के जीवन-सिद्धांतों के सम्यक् बोध के लिए उनके विश्व दृष्टिकोण से अवगत होना आवश्यक है।

यह युग विज्ञान का है। आज विश्व एक वैज्ञानिक और टेक्नालाजिकल क्रान्ति से गुजर रहा है[2]। पिछले कुछ दशकों में विश्व में अभूतपूर्व रूपान्तरण हुए हैं। डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है कि 'पिछले पचास वर्षों में इतने अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, जितने मानव-इतिहास के किसी एक युग में नहीं हुए थे[3]।' इसी अभूतपूर्व परि-वर्तन को लक्ष्य कर श्री गेराल्ड हर्ड का कहना है कि 'पाषाण युग से लेकर रानी विक्टोरिया के युग तक एक ऐतिहासिक युग मानना चाहिए। हम इस समय दूसरे युग में रह रहे हैं[4]।' आशय यह कि विज्ञान ने जीवन को बहुत ही अधिक प्रभावित किया है।

अपनी महान खोजों द्वारा प्रकृति विज्ञान ने पूंजीवादी उद्योगीकरण का मार्ग तो प्रशस्त किया ही, प्रकृति की उस सहज, अबोध तथा अवैज्ञानिक धारणा का भी खण्डन किया जो पहले की शताब्दियों में लोगों पर हावी थी। सार रूप में इन धारणाओं को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: प्रकृति में कुछ बदलता नहीं, न किसी ऐसी चीज का प्रादुर्भाव होता है जो नयी हो और पहले न रही हो। १६वीं शताब्दी में प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में जो महान खोजें हुईं उन्होंने प्रकृति की इन धारणाओं पर करारी चोट की।'[5]

आचार्य शुक्ल अपने समय तक होने वाली वैज्ञानिक प्रगति से भली भाँति परि-चित थे। उन्होंने विज्ञान को ही अपने विश्व दृष्टिकोण का प्रमुख आधार बनाया। उन्होंने जगत् विख्यात जर्मन प्राणितत्त्ववेत्ता हैकल की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल आव दि यूनिवर्स (Riddle of the Universe) का अनुवाद हिन्दी में 'विश्व प्रपंच' नाम से किया है, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने १६२०-१६२१ में प्रकाशित किया था। इसके आरम्भ में १५५ पृष्ठों की भूमिका उन्होंने स्वयं लिखी है। यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे शुक्ल जी के विज्ञान-ज्ञान और तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होता है।

भूमिका के प्रारम्भिक भाग में आधुनिक भौतिक शास्त्र (Physics) के कतिपय तत्त्वों का परिचय है। मध्य भाग में जीवशास्त्र (Biology) और डार्विन के विकासवाद का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम भाग में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के पक्षों के विभिन्न तर्कों का विश्लेषणात्मक उल्लेख है। साथ ही साथ यत्र-तत्र रसायनशास्त्र (Chemistry) भू गर्भशास्त्र (Geology) आदि अन्य विज्ञानों का भी प्रसंगानुसार उल्लेख है। डॉ० रामविलास शर्मा का कथन है कि 'संसार के प्रति हमारा दार्शनिक दृष्टिकोण क्या हो---इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हिन्दी में पहली बार इतने विस्तार से विज्ञान का अध्ययन किया गया है।'[६]

शुक्ल जी ने द्रव्य तथा गति के नित्य सम्बन्ध, उनकी अक्षरता एवं अविनाशिता और उनके रूपान्तरण के नियमों का विशद निरूपण किया है। उनका स्पष्ट मत है कि भौतिक विज्ञान ने समस्त जड़ जगत् को द्रव्य और गतिशक्ति का कार्य सिद्ध कर दिया है।[७] उनका कथन है कि वैज्ञानिकों के अनुसार 'द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना नहीं हो सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है।'[८] प्राचीनकाल के भौतिकवादी दार्शनिकों ने यह पहले ही कहा था कि गति भूत-द्रव्य से बाहर नहीं है। १८वीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवादियों ने इस प्रस्थापना का विकास किया।[९]

शुक्ल जी ने बतलाया है कि 'द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। वे अपने एक रूप से दूसरे रूप में जा सकते हैं, किन्तु नष्ट नहीं हो सकते। सिद्धान्त यह कि विश्व में जितना द्रव्य है, उतना ही सदा से है और सदा रहेगा, उतने से न घट सकता न बढ़ सकता है। यही बात शक्ति के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो द्रव्य में समवेत है।'[१०]

शुक्ल जी का कथन है कि यह दार्शनिक अनुमान नहीं परीक्षा-सिद्ध सत्य है।[११] मोमबत्ती जलकर नष्ट नहीं हो जाती, वरन् धुएं के रूप में अर्थात् वायव्य रूप में हो जाती है।[१२] इस वायव्य पदार्थ की तौल मोमबत्ती की तौल के बराबर होगी।[१३] जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वायव्य से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था में लाया जा सकता है उसी प्रकार गति शक्ति भी एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप में, विद्युत् ताप और प्रकाश के रूप में।[१४] १८वीं शताब्दी के पाँचवें दशक के आरम्भ में जर्मन भौतिकीविद् आर० मेयर (१८१४-१८७८) ने ऊर्जा के इस नियम को सूत्रबद्ध किया था, जिसके अनुसार एक प्रकार की गति की एक निश्चित मात्रा दूसरे प्रकार की गति की समान मात्रा में परिवर्तत होती है।[१५]

शक्ति या तो निहित अव्यक्त रूप में रहती है अथवा व्यक्त और क्रियामाण रूप में, जैसे चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी में शक्ति अव्यक्त रूप में रहती है और चलती हुई घड़ी में व्यक्त रूप में।[१६] गति शक्ति दो प्रकार की क्रियायें करती है। यह द्रव्य के पिण्डों, अणुओं और परमाणुओं को अपनी ओर खींचती है अथवा उनको एक-दूसरे से

हटाकर अलग-अलग करती है।[१७] शक्ति की इसी आकर्षण और अपसारण वाली दो-मुँही चाल से जगत् की स्थिति है।[१८] यदि शक्ति अपने एक ही रूप में कार्य करती तो जगत् की यह अनेक रूपता न रहती या यों कहिए कि जगत् ही न रहता।[१९] यदि आकर्षण क्रिया ही स्वतन्त्र रूप से चलती, उसे बाधा देने वाली अपसारिणी क्रिया न होती तो अखिल विश्व के समस्त परमाणु खिंचकर एक केन्द्र पर मिल जाते और विश्व एक ऐसा अचल, जड़ और ठोस गोला होता जिस पर न नाना प्रकार के पदार्थ होते, न जीव-जन्तु और पेड़-पौधे होते और न कोई व्यापार होता।[२०] इसी प्रकार यदि केवल अपसारिणी क्रिया ही होती तो विश्व के समस्त परमाणु अलग-अलग बिखरे होते, मिल कर जगत् की योजना न करते।[२१]

द्रव्य और गति के उक्त नियमों की जानकारी ने शुक्ल जी की चिन्तन-पद्धति एवं जीवन दृष्टि को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उसने उनके दृष्टिकोण को वस्तुवादी और काफी हद तक भौतिकवादी बना दिया है। शक्ति की दोमुँही चाल ने उनकी चिन्तनपद्धति को भी दोमुँही अर्थात् द्वन्द्वात्मक बना दिया है। इसका निदर्शन हम आवश्यकतानुसार यथास्थान करेंगे।

वैज्ञानिकों के परमाणु सिद्धांत की विवेचना और उसकी तुलना आचार्य शुक्ल ने भारत के वैशेषिक दर्शन के परमाणु सिद्धांत से की है। उनका कथन है कि परमाणु-सिद्धांत के अनुसार एक प्रकार के परमाणु के साथ दूसरे प्रकार के परमाणु से मिलने से एक तीसरे रूप के द्रव्य का प्रादुर्भाव होता है।[२२] यह परिणाम एक विशिष्ट मात्रा में परमाणुओं के मिलने से होता है।[२३] भिन्न-भिन्न परमाणुओं की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है अतएव कुछ परमाणु कुछ परमाणुओं के साथ मिलते हैं और कुछ के साथ नहीं। इसी को रासायनिक प्रवृत्ति या राग कहते हैं।[२४]

शुक्ल जी का कथन है कि मूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन में भी हुई है।[२५] वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं की योजना से ही सब पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं की संख्या चार मानी गई है—(१) पृथ्वी परमाणु, (२) जल परमाणु, (३) तेज परमाणु, (४) वायु परमाणु। अर्थात् आकाश को छोड़कर जितने प्रकार के भूत होते हैं उतने ही प्रकार के परमाणु होते हैं।[२६]

शुक्ल जी ने बतलाया है कि आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों ने पृथ्वी, जल और वायु को द्रव्य का अवस्थाभेद और तेज को गतिशक्ति का एक रूपमात्र सिद्ध करके वैशेषिक दर्शन की उपर्युक्त धारणा को पूर्णतया असिद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने वैशेषिक के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है और उसकी सत्यता को उपलब्धि और त्रुटियों को त्याज्य माना है। उनका कथन है कि मूलभूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है, जिस रीति से आधुनिक रसायन शास्त्र ने—यह हमारे लिए कम गौरव की बात नहीं है। ब्यौरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की जरूरत नहीं।'[२७] डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार—

'प्राचीन दर्शन के प्रति उनका यह दृष्टिकोण पुनरुत्थानवादियों और अन्य श्रद्धालुजनों की उपासना-पद्धति से भिन्न है।'[२८]

वैज्ञानिकों के इस परमाणु सिद्धान्त ने जगत् और समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने में शुक्ल जी की सहायता की है।

शुक्ल जी ने विज्ञान की ईथर सम्बन्धी व्याख्या का भी विस्तृत विवेचन किया है,[२९] जिससे खाली कोई जगह नहीं,[३०] जो सर्वत्र अखण्ड और एकरस है।[३१] उन्होंने जगत् के उत्पत्ति-सिद्धांत का भी विशद निरूपण किया है।[३२] किन्तु विज्ञान का वह सिद्धांत जिसने उनके चिन्तन एवं जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया, वह डार्विन का विकास का सिद्धांत है। 'डार्विन ने इस धारणा का उन्मूलन किया कि पशुओं तथा वनस्पतियों की प्रजातियाँ किसी भी प्रकार अन्तः सम्बद्ध नहीं हैं, वे सांयोगिक मात्र हैं, 'ईश्वर द्वारा सृजित हैं' और सदा अपरिवर्तनीय हैं।'[३३] उन्होंने प्रजातियों की परिवर्तनीयता तथा उनकी निरन्तरता स्थापित करके, पहली बार जीव विज्ञान को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

आचार्य शुक्ल ने डार्विन के विकास-सिद्धांत का विस्तृत निरूपण किया है। उनके विवेचन के अनुसार जीवोत्पत्ति का आरम्भ मोनरा और अमीबा के समान अत्यन्त सादे ढाँचे के कलल बिन्दु रूप अणु जीवों से हुआ।[३४] इन अणु जीवों के शरीर का प्रत्येक भाग समान रूप से बाह्य भूतों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्पर्कों को ग्रहण करता था और प्रत्येक भाग प्रत्येक व्यापार कर सकता था।[३५] किन्तु असंख्य पीढ़ियों के पश्चात् धीरे-धीरे यह हुआ कि जिस भाग पर स्थिति के अनुसार संपर्क अधिक हुआ उसमें अभ्यास के कारण संपर्क अधिक ग्रहण करने की विशेषता आ गई आकृति में भी परिवर्तन हुआ[३६] और इस प्रकार इन्द्रियों का विधान हुआ। इन्द्रियों के विकास की विज्ञानसम्मत विवेचना अत्यन्त स्वच्छ रूप में उन्होंने की है।

आगे चलकर उन्होंने बतलाया है कि अत्यन्त क्षुद्र जन्तुओं का शरीर खण्डों में विभक्त नहीं होता। इन्हीं से बहुखण्ड जीवों का विकास हुआ जिनकी शरीर-रचना बहुत से जोड़ों से मिलकर जान पड़ती है, जैसे केंचुए, जोंक इत्यादि।[३७] विकास परम्परा के अनुसार इन्हीं बिना रीढ़ वाले जन्तुओं से ही क्रमशः रीढ़ वाले जन्तुओं की उत्पत्ति हुई।[३८] इसी प्रकार जलचर जन्तुओं से ही स्थल चर जन्तुओं का विकास हुआ।[३९] इन दोनों के बीच में उभयचर जन्तुओं का विकास हुआ, जैसे मेढक।[४०] उभयचारी जन्तुओं से ही विकास-परम्परा द्वारा सरीसृपों की उत्पति हुई।[४१] इसी वर्ग वाले पंजे वाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई।[४२] आगे चलकर विकास-परम्परा में इन्हीं से स्तन्य जन्तुओं की उत्पत्ति हुई।[४३] कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े, बन्दर और मनुष्य आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।[४४]

शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि 'बिना पूछ के वन-मनुष्यों से मिलते-जुलते पूर्वजों से ही क्रमशः विकास-परम्परा द्वारा मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ जो भूमण्डल के

प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है ।'[४५] यही शुक्ल जी द्वारा निरूपित डार्विन के विकास-सिद्धांत का अत्यन्त संक्षिप्त सारांश है ।

यह ध्यातव्य है कि शुक्ल जी ने तटस्थ होकर डार्विन का विकास-सिद्धांत निरूपित ही नहीं किया है, अपितु उस पर उन्होंने अपनी सम्मतियाँ भी दी हैं । उन्होंने लिखा है कि 'डार्विन के विकासवाद से बड़ी खलबली मची । इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्म-पुस्तकों की पौराणिक सृष्टि के विरुद्ध थी । हमारे यहाँ भी पुराणों में योनियाँ स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख गिना दी गई है । गरुड़ पुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की गिनती तक है । डार्विन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई ।'[४६] स्पष्ट है कि शुक्ल जी डार्विन के मत से सहमत हैं और धार्मिक विश्वासों के अनुसार लोगों की इस समझ को कि जीव योनियाँ ईश्वर की रची हुई हैं और सदा ऐसी हैं, गलत मानते हैं । अतः उन्हें डार्विन के सिद्धान्त का प्रस्तुतकर्ता मात्र नहीं, अपितु उसका समर्थक भी माना जायगा । एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है—'विकास सिद्धांत के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं, सब के सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किए गए । डार्विन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीव से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है, स्थिर योनि सिद्धांत का खण्डन कर दिया ।'[४७]

शुक्ल जी का कथन है कि 'दार्शनिक अनुमान के रूप में तो विकास सिद्धांत बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चला आ रहा था, किन्तु वैज्ञानिक निश्चय और दार्शनिक अनुमान में बहुत भेद होता है । दार्शनिकों ने संकेत मात्र किया था, वैज्ञानिकों ने अनुसंधान और परीक्षणों से इसे विधिपूर्वक निश्चय की कोटि तक पहुँचाया ।'[४८] स्पष्ट है कि वे डार्विन के विकास सिद्धांत को अनुमान रूप में नहीं, अपितु वैज्ञानिक निश्चय रूप में ग्रहण करते हैं ।

प्राणि-जगत् में विकास प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए उन्होंने परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तनों को निर्दिष्ट किया है । उन्होंने विकास के उस बिन्दु का भी उल्लेख किया है, जहाँ पहुँचकर 'क' जंतु 'ख' बनता है और उसमें गुणात्मक परिवर्तन होता है और उस बिन्दु का भी उल्लेख किया है, जहाँ वह न तो 'क' रहता है और न 'ख' रहता है, अर्थात् दोनों अवस्थाओं के मध्य में होने के कारण उसमें दोनों के ही गुण विद्यमान रहते हैं ।[४९] डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार 'संक्रमण बिन्दुओं पर पदार्थ का गुण बदलना, कुछ समय के लिए संक्रमण की दशा में रहना, पदार्थों और जीवों को स्थिर और अपरिवर्तनशील रूपों वाला न मानना, संक्रमणशील जीवों में भिन्न जातियों के गुणों का होना—यह द्वन्द्वात्मक पद्धति शुक्ल जी के अध्ययन की विशेषता है ।'[५०]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी डार्विन के विकास-सिद्धांत के समर्थक हैं । साथ ही साथ वे उसकी सीमाओं से भी भली भाँति परिचित हैं । उनका कथन

है कि जड़ से चेतन की, निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति का ब्योरा वह (विकास-सिद्धांत) स्पष्ट रीति से नहीं समझा सका है।'[51] विकासवाद के अनुसार सजीव द्रव्य की उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से माननी पड़ती है। पर कोई रासायनिक आज तक अपनी योजना द्वारा इसे उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुआ।'[52]

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शुक्ल जी विज्ञान की असफलता सिद्ध करके उसमें अविश्वास प्रकट कर रहे हैं, प्रत्युत उनके कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि विज्ञान के लिए जानने और अनुसंधान करने के लिए अभी बहुत कुछ शेष है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि विकास सिद्धांत के नियमों की चरितार्थता के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करते जा रहे हैं, जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की योजना में अब तक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के आदिम रूप की उन्हें ठीक धारणा ही नहीं रही है।'[53] स्पष्ट है कि शुक्ल जी इस समस्या को विज्ञान के लिए दुर्लंघ्य नहीं मानते अपितु इसके समाधान की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

इसी सन्दर्भ में उन्होंने यह भी लिखा है कि किण्व सम्बन्धी रसायन बराबर उन्नति करता जा रहा है। कई प्रकार के किण्व या खमीर, पौधों या जन्तुओं से प्राप्त शरीर द्रव्य के आश्रय के बिना, कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से बना लिए गए हैं। सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक यही विधान पहुँच सका है और इसी से बहुत कुछ आशा है। सजीवता या जीवन वास्तव में किण्व परम्परा ही है।'[54] स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मतानुसार विज्ञान सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक पहुँच चुका है और आशा है कि शीघ्र ही वह इस समस्या को पूरी तौर पर हल कर लेगा।

आधुनिक विज्ञान के उपर्युक्त मत के समानान्तर पाद-टिप्पणी में उन्होंने चार्वाक का मत उद्धृत किया है,'[55] जिसके अनुसार किण्वादि से मदशक्ति के समान चैतन्य उत्पन्न होता है।'[56] प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धांत का ज्ञान चार्वाक को भी था। उसे उद्धृत कर उन्होंने वैशेषिक की भाँति भारत के प्राचीन भौतिकवाद के महत्व की ओर संकेत किया है।

विकासवाद शुक्ल जी की दृष्टि में पूरी तौर पर समा गया है। उनकी ब्रह्म, ईश्वर, जगत्, जीवन, धर्म, मंगल, सौन्दर्य एवं साहित्य सम्बन्धी समस्त धारणाएँ विकास सिद्धांत के अनुरूप हैं। इसका संकेत हम आगे आवश्यकतानुसार करते चलेंगे।

विज्ञान के प्रबल प्रभाव के कारण शुक्ल जी ने विश्व के प्रति वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया है। श्री जयनाथ नलिन का यह कथन सच है कि 'वह शंकर या अन्य भारतीय संतों और अध्यात्मवादियों के समान जगत् (संसार) को अनित्य नहीं मानते, नित्य मानते हैं।'[57] आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के पूर्व प्रकृति को जड़ और चेतन, चर और अचर दो बिल्कुल भिन्न रूपों में देखा जाता था। लोग समझते थे कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। किन्तु शुक्ल जी की विज्ञान सम्मत धारणा है कि

जन्तु और पौधे दोनों सजीव सृष्टि के अन्तर्गत हैं और उनमें चर-अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जीव हैं जो अचर हैं, जैसे स्पंज, मूँगा आदि और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते फिरते रहते हैं।[५८] शुक्ल जी का कथन है कि पौधे जन्तुओं की ही भाँति संवेदनशील होते हैं।[५९] इस सन्दर्भ में उन्होंने श्री जगदीश-चन्द्र वसु के अनुसंधानों का भी उल्लेख किया है।[६०]

भौतिक जगत् के प्रति यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण शुक्ल जी के समस्त चिन्तन की आधार-भूमि और दार्शनिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण अंग है। उनके प्रकृति सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर ही उनका काव्य में प्रकृति चित्रण सम्बन्धी सिद्धांत समाधारित है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल भौतिकवादी थे या भाव-वादी ? यद्यपि उनके समग्र विवेचन से उनका झुकाव भौतिकवाद की ओर प्रतीत होता है, तथापि उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं की है। उन्होंने इतना अवश्य बताया है कि जब छोटे-बड़े स्थूल धार्मिक अन्धविश्वासों को लेकर झगड़ा करने का समय नहीं है। अब सीधा मोर्चा भाववाद और वस्तुवाद अर्थात् अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के बीच है।[६१] अब पौराणिक कथाएँ ढाल-तलवार का काम नहीं कर सकतीं, इसलिए अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी एक ओर जड़-वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझना चाहिए, क्योंकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्व दृष्टि है।[६२]

स्पष्ट है कि उन्होंने इन दो पक्षों में से किसी एक को पूरी तौर पर गलत या सही नहीं कहा है तथापि उनका 'यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई विचारणीय है। इसे उनकी सदिच्छा यही प्रतीत होती है कि वही चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो जाए। अत. डॉ० रामविलास शर्मा का यह निष्कर्ष निकालना कि 'इस कारण भौतिकवाद की ओर अधिक झुकाव होने पर भी शुक्ल जी को सुसंगत भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता[६३] युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

एक स्थान पर शुक्ल जी ने आत्मवादियों की ओर से आधिभौतिक पक्ष की शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करते[६४] हुए आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—'आत्मा एक वस्तु या सत्ता है, द्रव्यगुण या वृत्तिमात्र नहीं है + + +।'[६५] प्रश्न उठता है कि फिर आचार्य शुक्ल को आत्मवादी क्यों न कहा जाय ? वस्तुत: उन्हें मात्र आत्मवादी कहना उनके साथ अन्याय होगा, उन्हें आत्मवादियों से भिन्न मानना होगा, क्योंकि वे आत्मवादियों की भाँति प्रकृति को गति-हीन नहीं मानते, उनके लिए प्रकृति गतिशील है। नाना धार्मिक अन्धविश्वास भी उन्हें मान्य नहीं, वस्तुत: वे पूर्वरूपेण विज्ञानवादी हैं किन्तु वहीं तक जहाँ तक विज्ञान प्रमाणों द्वारा अपनी स्थापनाओं को सिद्ध कर सका है।

चैतन्य अथवा आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का प्रश्न उठने पर वे इसी पक्ष में हैं कि चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता सम्भव है, यह उनका दार्शनिक अनुमान है। इस अनुमान का कारण यही है कि विज्ञान निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति स्पष्ट नहीं कर सका है, वह चैतन्य की उत्पत्ति बताने में असमर्थ रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ तक विज्ञान सफल है वहाँ तक वे पूर्णरूपेण विज्ञानवादी (भौतिकवादी) हैं और उसका समर्थन करते हैं, किन्तु जहाँ विज्ञान असमर्थ है वहाँ वे उसका समर्थन आँख मूँदकर नहीं करते। ऐसी अनिश्चय की स्थिति में एक ओर तो वे अपने पुराने विश्वास को (अंधविश्वास ही सही) आत्मा की स्वतन्त्र स्थिति के बारे में बनाये रखते हैं और दूसरी ओर यह आशा भी व्यक्त करते हैं कि विज्ञान इस समस्या का समाधान करने में भविष्य में सफल होगा। इस प्रकार जहाँ वे एक ओर विज्ञानवादी और भौतिकवादी हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मवादी भी। अतः उन्हें 'विज्ञानवादीआत्मवादी' या 'आत्मवादीविज्ञानवादी' कहा जा सकता है, उन्हें मात्र आत्मवादी कहना निश्चय ही अनुचित होगा किन्तु उन्हें विज्ञानवादी कहना अनुचित न होगा, क्योंकि वे विज्ञान को पूरी तरह स्वीकार करते हैं—आत्मवादी तो वे मजबूरी में हैं, विज्ञान के चेतना की उत्पत्ति बताने में असफल होने के कारण। यदि विज्ञान ने इस समस्या का समाधान कर दिया होता तो वे आत्मवाद का पूर्ण त्याग कर दिये होते। यह एक वास्तविकता है कि उन्होंने पर्याप्त सीमा तक आत्मवाद का त्याग कर दिया है और उसके स्थान पर विज्ञान को ग्रहण कर लिया है, आत्मवाद की केवल 'चोटी' ही अब उनके हाथ में है।

शुक्ल जी अंततः विकासवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण में जो उपर्युक्त असंगतियाँ परिलक्षित होती हैं, उनका मूल उनकी अति जागरूकता में है। जागरूक तो वे इस सीमा तक थे कि उन्होंने डार्विन के विकास-सिद्धांत को अपनाते हुए भी उसका अति प्रसिद्ध 'प्राणि जगत् में संघर्ष और योग्यतम के जीने का सिद्धांत' नहीं ग्रहण किया है। डार्विन ने इंगलैण्ड के एक पादरी अर्थशास्त्री माल्थस के प्रभाव से पूँजीवादी समाज की हिंसा को एक प्राकृतिक नियम मान लिया था। यही कारण है कि शुक्ल जी के विवेचन में इस सिद्धांत का अभाव है। इसके स्थान पर उन्होंने श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के आधार पर 'परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति' का उल्लेख किया है।[६६]

आचार्य शुक्ल के जीवन-सिद्धांतों की विवेचना के पूर्व ही हमें उनकी ब्रह्म और ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। चेतना की उत्पत्ति आदि की व्याख्या में विज्ञान की असमर्थता के कारण नित्य सत्ता के विवेचन के लिए उन्हें विज्ञान के क्षेत्र से निकल कर पराविद्या या शुद्ध-दर्शन के क्षेत्र में जाना पड़ा है। दर्शन के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर वे ब्रह्म या चैतन्य की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं।[६७] अनात्मवादी परमाणु की शक्ति का मूल स्रोत नहीं बतला सके हैं अतः शुक्ल जी दार्शनिक अनुमान के आधार पर परमाणु की शक्ति का मूल स्रोत ब्रह्म या चैतन्य ही मानते हैं।[६८] उनके मतानुसार ब्रह्म अनन्त शक्ति सम्पन्न एवं अनन्त स्वरूप है।[६९]

इस शक्ति को वे ब्रह्म का संकल्प कहते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति सृजनोन्मुख गति या क्रिया के रूप में होती है।[७०] इस अर्थ में उन्होंने ब्रह्म को कारण ब्रह्म कहा है।[७१] ज्ञाता ज्ञेय रूप में अपना अवस्थान कर वह क्रिया रूप में अपनी संकल्प शक्ति को व्यक्त करता है।[७२] चारों ओर की क्रम-व्यवस्था उसी चैतन्य के कारण है।[७३] समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है, अत्यन्त रंजनकारी है, अतः 'आनन्द' है।[७४] 'सत्' और 'आनन्द' के अतिरिक्त 'चित्' भी उसका स्वरूप है।'[७५] किन्तु अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।[७६]

अपनी कृति 'सूरदास' में शुक्ल जी ने ब्रह्म की व्याख्या विकासवादी दृष्टिकोण से की है। उनके मतानुसार भारत में प्राचीन आर्य जाति ने आरम्भ ही से सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जगत् में काम आने वाली प्राकृतिक शक्तियों को देव रूप में प्रतिष्ठित किया था।'[७७] आगे चलकर उन सब देवताओं का तत्त्व दृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा हुई।'[७८]

शुक्ल जी की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा उपनिषदों के ब्रह्मवाद की व्याख्या कर जगत् को मिथ्या बतलाने वाले मायावादियों की धारणा से भिन्न है। उसके मतानुसार 'सारा बाह्य जगत् ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है'[७९] अतः जगत् को मिथ्या बतलाना ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप को ही मिथ्या बतलाना है।[८०] उन्होंने अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की एकता तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मोपासना की पद्धति से प्रतिपादित की है।[८१] इस स्थापना के आधार पर ब्रह्मवाद बाह्य जगत् का निषेध या अस्वीकार नहीं वरन् मन, ज्ञान आदि और बाह्य जगत् को एकता का स्वीकार है।

अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की एकता और भौतिकवाद दोनों काफी निकट हैं। भौतिकवाद पर बाह्य जगत् तक सीमित रहने का आरोप निराधार और मन गढ़न्त है, इसे डॉ० रामविलास शर्मा ने स्पष्टतया स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "वैज्ञानिक भौतिकवाद मनुष्य के अन्तर्जगत् को अस्वीकार नहीं करता, वह उसे बाह्य जगत् की प्रतिच्छबि मानता है।"[८२]

यह दृष्टि शुक्ल जी ने सर्वत्र अपनायी है। 'रस मीमांसा' में उन्होंने लिखा है— 'ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति जगत् नामक अपार और अगाध समुद्र में छोड़ दी गई है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप तरंगों से उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध मनोविकारों का विधान हुआ है।'[८३] स्पष्ट है कि शुक्ल जी मनुष्य की कल्पना भावों, एवं मनोविकारों का विधान इसी जगत् की रूप-तरंगों के द्वारा मानते हैं, यही अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की लौकिक एकता है।

कालान्तर में ब्रह्म की भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया और वह नारायण स्वरूप तक पहुँची।[८४] पहले उसकी उपासना विष्णु के रूप में हुई। शुक्ल जी अनेक भक्तों की तरह विष्णु को कोई वास्तविक देवता नहीं मानते, अपितु उसे भी विकासवादी दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। उनका मत है कि इसी अन्नोपासना की पद्धति

से (ब्रह्म को अपनी अन्तस्सत्ता के बाहर बाह्य जगत् में देखने की विधि से) ब्रह्म की भावना विष्णु रूप में प्रतिष्ठित हुई।[८५] विष्णु का स्वरूप भी विकसित होता रहा। पहले विष्णु के प्रतीक सूर्य थे किन्तु बाद में *'नर समष्टि का आश्रय'* लेकर विष्णु की नराकार भावना 'नारायण' के रूप में हुई।[८६]

इसी प्रकार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों का भी शुक्ल जी ने इतिहास बताया है। उनके अनुसार ब्रह्म के उक्त दोनों रूप सत् और नित्य हैं।[८७] किन्तु उनका कथन है कि 'व्यक्त और सगुण की नित्यता प्रवाह रूप है, अव्यक्त और निर्गुण की स्थिर।' उनकी यह स्थापना संगत नहीं प्रतीत होती। डॉ० रामविलास शर्मा ने भी इस स्थापना को असंगत माना है। उनका कथन है कि 'यदि अव्यक्त और निर्गुण वह विश्व है जो हमारे अनुभव में नहीं आया तो उसके लिये ज्ञात विश्व से भिन्न नियमों की घोषणा नहीं की जा सकती।'[८८]

थोड़ा-सा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी की ब्रह्म संबंधी धारणा भी 'लोक-बद्ध' है, उनके वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण से अनुशासित है। ब्रह्म का विवेचन करते हुए उनका यह कहना कि 'विश्व के भीतर असंख्य खण्ड प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं पर समष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर चला चलता है।'[८९] विश्व की नित्यता की घोषणा है और विज्ञान की महती उपलब्धि *भूत-द्रव्य तथा गति की अविनाशिता के नियम के*, जिसकी चर्चा प्रारम्भ में ही की गई है, अनुकूल है।

स्पष्ट है कि शुक्ल जी उन अध्यात्मवादियों और हवाई चिन्तकों में नहीं हैं जो भारतीय-विचारणा की मुख्य और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता 'जगत् के मिथ्यात्व' की धारणा बताते हैं। उन्होंने वेदों और उपनिषदों से अनेक अंश प्रमाणस्वरूप उद्धृत करते हुए ऐतिहासिक रूप से दिखलाया है कि भारतीय विचारणा की प्रधान एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता उसकी जगत् सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टि है। उन्होंने भक्ति-मार्ग का सम्बन्ध इसी विचारणा से जोड़ा है। डॉ० रामविलास शर्मा के इस कथन से कि 'शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण मूलतः सही है, वैज्ञानिक है और एकमात्र दृष्टिकोण है, जिससे हम भारतीय दर्शन के प्रगतिशील तत्वों का उद्घाटन कर सकते हैं'[९०] पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है।

ईश्वर के स्वरूप को लेकर नाना धर्मों के बीच चलने वाली बहस के बारे में उन्होंने लिखा कि 'ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ीवाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे।'[९१] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे अनीश्वरवादी हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों और उनके संप्रभावित विविध ज्ञानों के उल्लेख के अनन्तर एक ओर उन्होंने कहा कि 'ज्ञान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए मज़हबी झगड़े बन्द कर देने चाहिए'[९२] और दूसरी ओर कहा कि 'सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य

भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है।[९३] स्पष्ट है कि वे अब भी शिक्षितों के लिए ईश्वर की आवश्यकता महसूस करते हैं।

किन्तु ईश्वर की आवश्यकता महसूस करते हुए भी उन्होंने उसकी व्याख्या अंध विश्वासों से ग्रस्त धार्मिक दृष्टिकोण से न कर विकासवादी दृष्टिकोण से की है। उन्होंने लिखा है—'इतिहास से प्रकट है कि आदि में सब देशों के बीच प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों और विभूतियों या उनके भिन्न-भिन्न अधीश्वरों की भावना हुई और बहुदेवोपासना प्रचलित हुई। कुछ देशों में 'भेद' में 'अभेद' की तत्व दृष्टि का क्रमशः विकास हुआ और सब देवों की समष्टि के रूप में एक ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई।'[९४]

विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनके द्वारा की गई ईश्वर की यह व्याख्या ऐतिहासिक और वैज्ञानिक एवं तत्त्वतः मार्क्स तथा एंगेल्स की ईश्वर की विकासवादी व्याख्या के अनुरूप है। इन विचारकों ने भी एकेश्वरवाद का जन्म इसी प्रकार बताया है। एंगेल्स ने लिखा है—'विकास की और भी आगे की एक अवस्था में पहुँचकर नाना देवताओं के समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक गुण एक सर्वशक्तिशाली ईश्वर में स्थानांतरित हो जाते हैं।[९५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि शुक्ल जी ने अपने को अनीश्वरवादी घोषित नहीं किया है, किन्तु उनकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा निश्चय ही अनीश्वरवादियों की है और विकासवाद के अनुकूल है। ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार उन्होंने अन्यत्र भी व्यक्त किए हैं।[९६] अपनी पुस्तक 'सूरदास' में उन्होंने उन कारणों को भी स्पष्ट किया है जिनसे प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को मनुष्य ने देवों का रूप दिया।[९७]

अब तक जिन वैज्ञानिक अवधारणाओं और दार्शनिक उपपत्तियों का अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया उनका समुच्चय शुक्ल जी के समग्र जीवन-दर्शन एवं साहित्य-दर्शन की आधारभूमि है। इसी भूमि से रस-ग्रहण कर इसी के पृष्ठ पर उनके विविध जीवन एवं साहित्य-सिद्धांत अंकुरित और विकसित हुए हैं। अब हम उनके जीवन-दर्शन की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

'सप्राणता' अथवा 'सजीवता' चाहे द्रव्य (Matter) का विकसित गुण हो या उसकी नित्य, निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता हो, दोनों ही स्थितियों में उसका लक्षण है—'अनुभूति'। आचार्य शुक्ल का कथन है कि—'अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है।'[९८] अनुभूति के द्वन्द्व से उनका आशय सुख और दुःख की सामान्य अनुभूतियों से है।[९९] उनकी दृष्टि में इन्हीं अनुभूतियों के आधार पर नाना विषयों के बोध का विधान होने पर उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार नाना भावों या मनोविकारों का विधान होता है।[१००] भाव या मनोविकार ही मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक होते हैं।[१०१] मनुष्य के सभी कोटि के कर्म—सत्कर्म और दुष्कर्म, धर्म और अधर्म, कोमल और कठोर—भाव या मनोविकार द्वारा ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में भाव या मनोविकार ही मानव जीवन के आधार सिद्ध होते

हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में भावों की तत्परता में है'[१०२] और 'यदि मनोवेग न हो तो स्मृति अनुमान बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है।'[१०३]

यद्यपि शुक्ल जी की दृष्टि में अनुभूति भी प्रवृत्ति की प्रेरक होती है वह अनुभूतिकर्ता को किसी न किसी ओर प्रवृत्त करती है, किन्तु अपने मूल रूपों में सुख-दुःख की सामान्य अनुभूतियों और विभिन्न भावों या मनोविकारों की विभिन्न अनुभूतियों द्वारा प्रेरित प्रवृत्तियों की दिशाओं, सीमाओं एवं रूपों में बहुत अन्तर होता है।[१०४] उनके कथनानुसार अपने मूलरूपों में सुख और दुःख दोनों ही अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं। उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता।'[१०५] आशय यह कि सुख दुःख की सामान्य अनुभूति की प्रेरणा मात्र शारीरिक प्रतिक्रिया ही तक सीमित रहती है, इच्छापूर्वक प्रयत्न या कर्म तक नहीं पहुँचती, किन्तु भाव या मनोविकार प्रयत्न या कर्म के लिये प्रेरित करते हैं, इच्छापूर्वक शारीरिक क्रिया के लिए प्रेरित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इच्छापूर्वक शारीरिक क्रिया या कर्म और प्रयत्न ही मानव जीवन के आधार होते हैं—शारीरिक प्रतिक्रिया नहीं, जो पौधों तक में होती है। अतः कर्म के एकमात्र आधार अथवा प्रेरक होने के कारण भावों या मनोविकारों का जीवन में सर्वाधिक महत्त्व सिद्ध होता है। शुक्ल जी के इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि समाज कर्मों पर टिका है तो कर्म भावों पर टिका है और भाव मानवीय सजीवता के लक्षण हैं। यदि हम नीचे से ऊपर की ओर जायँ तो मानवीय सजीवता से भाव, भाव से कर्म और कर्म से समाज तक पहुँचेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी की जीवन-दृष्टि में एक निश्चित व्यवस्था एवं क्रमबद्धता विद्यमान है।

शुक्लजी के मतानुसार भाव एक नहीं, अनेक होते हैं। उनका कथन है कि 'विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।'[१०६] उनका यह कथन तत्वतः सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि यदि विषय-बोध में विभिन्नता होगी, तो निश्चय ही उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं में भी विभिन्नता होगी और इच्छाओं में विभिन्नताओं के परिणामस्वरूप मनोविकारों में भी विभिन्नता होगी और मनोविकारों में विभिन्नता का अर्थ ही है मनोविकारों की अनेकरूपता। उन्होंने भावों या मनोविकारों की कोई निश्चित संख्या नहीं निर्दिष्ट की है। किन्तु अपने मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में उन्होंने जिनका विवेचन प्रमुख रूप से किया है और जिनका उल्लेख प्रसंगवश प्रमुख विवेच्य भाव के स्पष्टीकरण के लिये किया है, उन्हें उल्लिखित किया जा सकता है। प्रमुख विवेच्यभावों में उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा, ग्लानि, लोभ, प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध हैं। प्रसंगतः उल्लिखित भावों में—उमंग, संकोच, आशंका, बैर, स्पर्धा, द्वेष, चिड़चिड़ाहट, अमर्ष आदि हैं।

शुक्ल जी के मतानुसार प्रत्येक भाव उपयोगी होता है। उनका कथन है कि

'अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं, उनमें से कोई निरर्थक नहीं, सबका उपयोग है, इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं, यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा।'[१०७] स्पष्ट है कि वे भावों या मनोविकारों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हैं, अंधमत नहीं। यही उनके द्वारा निर्धारित किसी मनोविकार के अच्छे या बुरे होने की कसौटी से भी प्रमाणित होता है। उन्होंने लिखा है —'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है।' कहना चाहिए कि उनका यह वाक्य समूचे आचारशास्त्र (Ethics) का वैज्ञानिक निचोड़ है। मध्यकालीन संतों अथवा गाँधी की भाँति वे यह नहीं स्वीकार करते हैं कि कोई मनोविकार या भाव अपने आप में सदा अच्छा या बुरा होता है, वरन् किसी भाव द्वारा प्रेरित प्रवृत्ति के परिणाम पर ही उस भाव की अच्छाई या बुराई आधारित मानते हैं। उदाहरण द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक ही भाव किसी परिस्थिति विशेष में अच्छा हो सकता है तो किसी दूसरी परिस्थिति में बुरा भी हो सकता है। उन्होंने लिखा है—'वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखायी पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता।'[१०८] इसी तात्विक दृष्टि के कारण शुक्ल जी मूर्ख धार्मिकों एवं नीतिज्ञों की भाँति किसी भी भाव या मनोविकार की आँख मूँदकर निन्दा करते हुए उसे दूर करने का उपदेश नहीं देते। वे सभी भावों के उचित उपयोग पर अर्थात् सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के साथ, परिस्थिति के अनुकूल, उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर बल देते हैं। वे ललकार कर कहते हैं कि—'नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर (साधारण नहीं) पाखण्ड है।[१०९] उनकी दृष्टि में इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देते हैं।[११०] उनका मत है कि संसार में मनुष्यमात्र की समान वृत्ति कभी हो नहीं सकती[१११] अतः उनकी दृष्टि में रागों के संपूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आने वाली बात है।[११२] हम कह सकते हैं यही 'भाव-परिष्कार' ही वह साधन है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् को सुव्यवस्था देने का शुक्ल जी दम भरते हैं। इसे हम भाव-परिष्कार का सिद्धान्त कहेंगे जो उनके जीवन एवं सामाजिक दर्शनों का मूलाधार हैं।

भावों के परिष्कार द्वारा ही अधर्म या दुष्कर्म में तत्पर किसी व्यक्ति को उससे विमुख कर धर्म और सत्कर्म में तत्पर बनाया जा सकता है, और लोक जीवन से तटस्थ व्यक्ति को अत्याचार विरोधी एवं सदाचार समर्थक बनाया जा सकता है। भावों के परिष्कार द्वारा ही सृष्टि के नाना वस्तुओं के बीच के वर्तमान पारस्परिक सम्बन्धों को उद्दिष्ट रूप प्रदान किया जा सकता है।

सबसे पहले 'भाव परिष्कार' के सिद्धान्त को हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए। इसके लिए हमें भाव और कर्म के रिश्ते को समझना होगा। भाव या मनो-

विकार ही कर्म के प्रेरक होते हैं, यह कहा जा चुका है। किन्तु बदले में कर्म भी भावों को प्रभावित करते हैं। अतः 'भाव-परिष्कार' के दो मार्ग सम्भव हैं—पहला—भाव द्वारा भाव-परिष्कार और दूसरा कर्म द्वारा भाव परिष्कार। स्वयं भाव परिष्कार के भी दो रूप होते हैं—पहला निज-भाव परिष्कार और दूसरा परभाव परिष्कार। दोनों ही भाव परिष्कार उपर्युक्त दोनों ही मार्गों से संपन्न होते हैं। शुक्ल जी दोनों ही मार्गों को अपनाने के पक्ष में हैं, उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। अतः उनके 'भाव-परिष्कार' का अर्थ हृदय-परिवर्तन मात्र नहीं, प्रचण्ड आघात भी है, व्यक्तिगत साधना मात्र नहीं—सामाजिक अनुष्ठान भी है। इनका उपयोग परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यह बात शुक्ल जी के निम्न कथन से बिलकुल स्पष्ट है। उन्होंने लिखा है कि 'किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस क्रम में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा।'[११३]

ध्यातव्य है कि 'भाव परिष्कार' का उद्देश्य अथवा प्रयोजन कर्म-परिष्कार है, भाव परिष्कार अपने आप में सब कुछ नहीं है, अतः वह निरुद्देश्य नहीं है। इसी प्रकार कर्म परिष्कार भी निरुद्देश्य नहीं, उसका प्रयोजन है 'लोक-मंगल का विधान'। भाव-परिष्कार और कर्म-परिष्कार एक दूसरे के पूरक हैं। परिवर्तन की शुरुआत चाहे भाव-परिष्कार से हो या कर्म-परिष्कार से वह दोनों को ही परिष्कृत करेगी। ज्यों-ज्यों भावपरिष्कृत होते जायँगे त्यों-त्यों कर्म भी परिष्कृत होते जायँगे और ज्यों-ज्यों कर्म परिष्कृत होते जायँगे त्यों-त्यों भाव भी परिष्कृत होते जायँगे। यही भाव और कर्म का वास्तविक सम्बन्ध है।

यहाँ यह प्रश्न उठाना अनुचित न होगा कि क्या इस क्रम से—चलते जाने पर किसी समाज की ऐसी स्थिति हो सकती है, जिसमें उसके समस्त सदस्यों के भावों एवं कर्मों का पूर्ण परिष्कार हो जायगा और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए सुखद ही सुखद होगा, दुःखद नहीं। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि—'ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो या तो लम्बी-चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है।[११४] यह बात शुक्ल जी ने यों ही नहीं कह दी, उनके पास ठोस तर्क है। वे यह जानते हैं कि मानवी प्रकृति कुछ सीमा तक शेष प्रकृति से अनुशिष्ट होती है, वह पूर्णतया स्वतन्त्र अथवा सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, अतः वे कहते हैं कि—'मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी।'[११५] अतएव एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं—और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था एक शाही से लेकर साम्यवाद तक इस दोरंगी झलक को दूर नहीं कर सकता।'[११६] शुक्ल जी का कथन यथार्थ सत्य है, जहाँ तक साम्यवाद का प्रश्न है, वह

कभी यह दावा नहीं करता कि साम्यवाद में सभी प्रकार के मनुष्य-मनुष्य के बीच के अन्तर्विरोध समाप्त हो जायेंगे, हाँ, मानव द्वारा मानव का शोषण अवश्य साम्यवाद में समाप्त हो जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह भ्रान्ति हो सकती है कि शुक्ल जी ने 'बुद्धि' को 'कर्म' के परिप्रेक्ष्य में उपेक्षित कर दिया है, और एकांगी दृष्टिकोण अपनाने के कारण मात्र भावों का ही विवेचन किया है। कुछ आलोचकों को यह भ्रम हुआ भी है। वे शुक्ल जी के 'मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं[११७]।' वाक्य को उद्धृत कर उन पर एकांगी होने का दोष लगाते हैं। किन्तु वस्तुतः यह आरोप निराधार है। शुक्ल जी का उपर्युक्त कथन सत्य है। मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। बुद्धि तो कुछ गिने-चुने सीमित और विशिष्ट कर्मों की ही प्रवर्तिका होती है, सम्पूर्ण आचरण की नहीं। शुक्ल जी ने इसे स्वीकार भी किया है। शुक्ल जी के विवेचन के अनुसार बुद्धि दो तरह से मनुष्य के आचरण अथवा कर्मों को प्रभावित करती है—(१) भावों पर अंकुश रखकर वह कर्म को प्रतिबन्धित करती है[११८] और (२) वासना रहित व्यापारों का निश्चय कर उनका विधान कराती है।[११९] उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ 'भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई, वासना जन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया।'[१२०] ऐसी दशा में उनकी विचारणा को एकांगी कहना निराधार है।

अब हम जीवन के सामाजिक पहलू पर विचार करेंगे। विज्ञान के अनुसार विश्व की स्थिति विद्युदणुओं में निहित शक्ति के आकर्षण और अपसारण स्वरूपों के कारण है। अणुओं से लेकर विशाल ग्रह नक्षत्र तक आकर्षण शक्ति से परस्पर सम्बद्ध हैं। आकर्षण विहीन होने पर कोई भी पिण्ड अपनी अस्तिता ही खो देता है। आचार्य शुक्ल की समाज सम्बन्धिनी धारणा असंदिग्ध रूप से विज्ञान से प्रभावित है। उन्होंने लिखा है—'सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित होओ, जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव-जीवन की विशद् अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।'[१२१] स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में इस प्रकार सामाजिकता परस्पराकर्षण से उद्भूत मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। वस्तुतः यह सत्य भी है, क्योंकि यदि व्यक्ति व्यक्ति के प्रति आकर्षित न हो और आकर्षित भी न करे तो हर व्यक्ति एक पृथक् अणु होगा, अतः समाज की संरचना सम्भव न हो सकेगी। समाज की सत्ता के लिए मानवाणुओं का संघात आवश्यक है।

समाज के बीच आकर्षण नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है। जितने भी प्रकार के सम्बन्ध समाज में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी आकर्षण के ही रूप होते हैं। यौन सम्बन्धों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तक इसी के परिणाम होते हैं। आदान-प्रदान (भावात्मक, वैचारिक अथवा अन्य) रक्षा और रंजन, परस्पर हित चिन्तन, सुख-समृद्धि

वर्धन, करुणा, सहानुभूति, उपकार, श्रद्धा, उदारता, अनुदान, सेवा-सहयोग, स्नेह आदि भी सामाजिक आकर्षण के ही अंग हैं। किन्तु आकर्षण के साथ ही साथ अपसारण की क्रिया भी चलती रहती है अतः ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि का भी उदय होता है और विविध सम्बन्धों में परिवर्तन घटित होता रहता है।

मनुष्य विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसमें शक्ति की सत्ता स्वयं सिद्ध है अतः आकर्षण के कारण लोक से पृथक् उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। 'आकर्षण विहीन होकर सम्पूर्ण से टूटकर, लोक से विच्छिन्न होकर वह जी नहीं सकता।'[१२२] आचार्य शुक्ल इस वस्तु-सत्य से अवगत थे। इसे ही दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा है कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है।'[१२३] लोकबद्ध होने के कारण वह समाज से असंग नहीं हो सकता। इसीलिए वह अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है।[१२४]

मनुष्य की लोकबद्धता अथवा सामाजिकता को शुक्ल जी ने लाखों वर्ष की विकास परम्परा का परिणाम कहा है। वे यह नहीं मानते कि प्रारम्भ से ही मनुष्य आज की भाँति लोकबद्ध रहा है।

जीवन की लोकबद्धता अथवा सामाजिकता प्रमाणित हो जाने पर उसके स्वरूप का निर्धारण होना चाहिए। जीवन की लोकबद्धता व्यक्ति का समाज से घनिष्ठ और अविच्छेद्य सम्बन्ध प्रतिपादित करती है, अतः उपर्युक्त प्रश्न व्यक्ति और समाज के संबंध का ही प्रश्न ठहरता है। शुक्ल जी व्यक्ति हित और समाज या लोकहित के मध्य विरोध की स्थिति नहीं स्वीकार करते हैं। उनके विचारों के अनुसार व्यक्ति और व्यक्ति के हितों में संघर्ष हो सकता है, वे एक-दूसरे के विरोधी हो सकते हैं, किन्तु व्यक्ति हित और लोकहित के बीच विरोध नहीं हो सकता। वे व्यक्ति-हित को लोकहित के अधीन कर देते हैं। उनके अनुसार मानव जीवन की सार्थकता इसी बात पर आश्रित है कि वह अपने स्वार्थ को परार्थ में लीन कर दे—उसके अपने स्वार्थों और ( अशेष विश्व के ) परार्थों के बीच का संघर्ष लुप्त हो जाय और विश्व के साथ उसके जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित हो जाय।[१२५] इस प्रकार शुक्ल जी व्यक्ति के निज मंगल और लोक मंगल के बीच संगम की स्थापना की कामना करते हैं। शुक्ल जी के अनुसार जो लक्ष्य जीवन का है, जिसमें जीवन की सार्थकता है, उसी में कविता की भी सार्थकता है, इसे हम यथावसर और स्पष्ट करेंगे।[१२६]

यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी लोक मंगल को ही परम साध्य स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार मानव का कर्तव्य अपने मंगल और लोक मंगल के संगम की स्थापना करना है। इसीलिए वे मानवमात्र के कर्तव्य का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि 'इस संगम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए।'[१२७] जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख, सौंदर्य के साथ हो जायगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्षलता, पशु-पक्षी, कीट-

पतंग, सब की रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य-पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा।'[१२८] प्रश्न यह उठता है कि विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित कैसे हो ? शुक्ल जी ने बताया है कि रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृति सामंजस्य घटित नहीं हो सकता।'[१२९] अतः रागात्मिका वृत्ति का प्रसार ही मानव का कर्तव्य सिद्ध होता है। आचार्य शुक्ल मनुष्य के हृदय को उसके स्वार्थ मंडल के संकुचित घेरे से ऊपर उठाकर मुक्त करना चाहते हैं।[१३०] और उसे रसदशा में पहुँचाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि 'जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के (जगत्) के नाना रूपों और व्यापारों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। हृदय की यही मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।[१३१] हृदय की यही मुक्तावस्था या रसदशा ही मानव जीवन का चरम साध्य है। चूँकि व्यक्ति के हृदय की रसदशा या मुक्तावस्था का अर्थ है—लोक मंगल और निज के मंगल के बीच समन्वय या अविरोध, अतः यह कहा जा सकता है कि जिस समाज में जितने ही अधिक 'मानव' हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा को संप्राप्त होंगे वह समाज उतना ही अधिक मंगल-मय होगा। अस्तु लोक या समाज या विश्व में पूर्ण मंगल की स्थापना तभी संभव हो सकती है जब उसके सारे हृदय रसदशा को पहुँचकर एक अथवा समन्वित होकर लोक-हृदय का रूप ले लें। अर्थात् उस समाज के सभी सामाजिकों के पृथक्-पृथक् हित और संपूर्ण सामाजिक हित के मध्य विरोध की समाप्ति होने पर ही पूर्ण मंगल की स्थापना हो सकती है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि हृदय प्रसार या रागात्मिका वृत्ति के प्रसार का सिद्धांत अथवा हृदय की मुक्तावस्था अथवा रसदशा का सिद्धान्त प्रारम्भ में साध्य होने के बाव-जूद अन्ततः साधन सिद्धान्त ही माना जायगा क्योंकि उसकी साधना लोक मंगल के लिए ही बतलाई गई है। शुक्ल जी के अनुसार लोकमंगल ही परम साध्य है और अशेष सामाजिक उपकरण साधनमात्र है, साहित्य भी लोकमंगल का साधन ही है। यह बात इससे भी सत्य प्रमाणित होती है कि उनकी सारी कृतियों में लोकमंगल का लक्ष्य व्याप्त है।

आचार्य शुक्ल ने लोक-मंगल को भी विकासवादी दृष्टि से देखा है। उनका लोक-मंगल का सिद्धान्त 'परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति' के विकास का परिणाम है।[१३२] जीव की यह प्रवृत्ति निरन्तर उत्कृष्टतर होती गई और अन्ततः लोकमंगल की कामना के रूप में पहुँची। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव की संप्राप्ति इसी प्रवृत्ति की उत्कृष्टतम अवस्था है।[१३३] संप्रति मंगल की भावना विकसित होते-होते लोक-मंगल का स्वरूप धारण कर चुकी है।

शुक्ल जी के मतानुसार लोकमंगल के दो पक्ष होते हैं---(१) दुःख से निवृत्ति का पक्ष और (२) नवीन सुख की प्राप्ति का पक्ष। उनमें से नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता मनुष्य के लिए अत्यन्त अधिक है।[१३४] मनुष्य रक्षा पहले चाहता है, रंजन बाद में।[१३५] अतः 'रक्षा' और 'रंजन' की पदावली में इन्हें लोकरक्षा और लोकरंजन का पक्ष कहा जा सकता है। उनकी दृष्टि में लोक-मंगल का अर्थ इसी लोक का दुःख-निवारण और सुख का विधान है, स्वर्ग या किसी अन्य कल्पित लोक का नहीं, क्योंकि वे इसी लोक को सत्य मानते हैं।[१३६] उनका विश्वास पुराणों के स्वर्ग और नरक लोकों की कल्पनाओं में नहीं है।

शुक्ल जी के अनुसार लोकमंगल मानव जीवन के सामाजिक विकास की वह अवस्था है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों का खाद्य नहीं बनता, निर्बल सबल का आहार नहीं बनता और जिसमें केवल शक्ति की ही पूजा नहीं होती, वरन् प्रत्येक मनुष्य के उदात्त गुणों तथा वृत्तियों का सर्वाधिक मूल्यांकन होता है।[१३७]

शुक्ल जी ने मंगल-विधान की प्रक्रिया को निरन्तर गत्यात्मक दशा में देखा है, स्थिर दशा में नहीं। वे मंगल की दो अवस्थाएँ स्वीकार करते हैं---(१) साधनावस्था और (२) सिद्धावस्था[१३८]। वे उक्त दोनों ही अवस्थाओं में सौंदर्य की स्थिति स्वीकार करते हैं, उनकी दृष्टि एकांगी नहीं। मंगल की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष के दो पहलू हो सकते हैं। प्रथम प्रकार के प्रयत्नपक्ष के भीतर पीड़ितों की सेवा-सुश्रूषा के लिए दौड़-धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि आते हैं।[१३९] और दूसरे प्रकार के भीतर अत्याचार, अन्याय, शोषण के दमनकारी कठोर और तीक्ष्ण कोटि के नाना कर्म आते हैं।[१४०] शुक्ल जी इनमें से किसी एक के ग्रहण को एकदेशीय मानते हैं, वे दोनों के समन्वय के पक्ष में हैं।

शुक्ल जी की द्वन्द्वात्मक चिन्तन-पद्धति उनकी मंगल चर्चा में भी मौजूद है। उन्होंने मंगल को अमंगल की सापेक्षता में ही देखा है। उनका कथन है कि 'मंगल पक्ष में सौंदर्य, हास-विलास, प्रफुल्लता, रक्षा और रंजन इत्यादि हैं, अमंगल पक्ष में विरूपता, विलाप, क्लेश और ध्वंस इत्यादि हैं। इन दोनों पक्षों के द्वन्द्व के बीच से ही मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखायी पड़ा करती है।'[१४१]

शुक्ल जी का यह मंगल सिद्धान्त सौंदर्य-सिद्धांत के रूप में काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्र में परिव्याप्त है। उनके मतानुसार सौंदर्य और मंगल पर्याय हैं।[१४२] कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है। जीवन की ही भाँति काव्य के क्षेत्र में भी मंगल की साधना और सिद्धांत दोनों ही अवस्थाओं की सम्यक् प्रतिष्ठा वे स्वीकार करते हैं और साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष पर काफी बल देते हैं।[१४३]

लोकमंगल को अन्तिम साध्य मान लेने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लोक में मंगल का विधान सम्पन्न कैसे हो? ऊपर प्रसंगवश यह बताया जा चुका है कि लोकमंगल की स्थापना का एक साधन-सिद्धांत है हृदय या रागात्मिका वृत्ति का प्रसार।

किन्तु आचार्य शुक्ल मात्र व्यक्तिगत साधना से सन्तुष्ट होने वाले नहीं, अतः वे कहते हैं कि 'वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, अभ्युदय की सिद्धि होती है, धर्म है ।'[१४४] अतः सिद्ध होता है कि अन्ततः धर्म के ही द्वारा लोक में मंगल का विधान करने वाली व्यवस्था स्थापित होती है । अब हमें धर्म पर विचार करेंगे ।

शुक्ल जी 'धर्म' शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में करते हैं और कभी संकुचित अर्थ में । जब वे उसका व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं तो उसके अन्तर्गत कर्म, ज्ञान और भक्ति या उपासना तीनों को समाविष्ट करते हैं और संकुचित अर्थ में वे उससे कर्ममात्र का ग्रहण करते हैं ।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं । मानव जीवन की पूर्णता तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती ।'[१४५]

कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में जीवन की पूर्णता की बात उन्होंने अन्यत्र भी कही है ।[१४६] अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय ही उनका पूर्ण जीवन-सिद्धांत है ।

श्री जयनाथ नलिन का कथन है कि 'धर्म और भक्ति का जो स्वरूप उन्होंने (शुक्ल जी ने) प्रस्तुत किया, वह सार्वभौमिक, सर्वमान्य और चिरन्तन है ।'[१४७] श्री नलिन जी ऐसा दावा भले ही करते हों, किन्तु शुक्ल जी ने ऐसा दावा कभी और कहीं नहीं किया । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि— धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में मनुष्य-जाति की जबसे उत्पत्ति हुई, तब से अब तक बराबर मान्य रहा हो ।'[१४८] वस्तुतः नलिन जी के उपर्युक्त कथन से यह भ्रान्ति हो सकती है कि शुक्ल जी ने धर्म को स्थिरतावादी दृष्टिकोण से देखा है, विकासवादी दृष्टिकोण से नहीं, किन्तु वास्तविकता और ही है ।

शुक्ल जी का कथन है कि 'विकास सिद्धांत के अनुसार जिस प्रकार यह असिद्ध है कि मनुष्य ऐसा प्राणी सृष्टि के आदि में ही एकबारगी उत्पन्न हो गया उसी प्रकार यह भी असिद्ध है कि मनुष्य जाति के बीच धर्म, ज्ञान और सभ्यता आदिम काल में भी उतनी ही या उससे बढ़कर थी, जितनी आजकल है ।'[१४९] उनका मत है कि धर्मभाव भी पहले बहुत स्वल्प और सादे रूप में था, पीछे सामाजिक व्यवहारों की वृद्धि के साथ-साथ उसका भी अनेक रूपों में विकास होता गया ।[१५०]

शुक्ल जी ने धर्म के जिस स्वरूप की स्थापना की, वह निश्चय ही सम्पूर्ण परम्परा से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है । क्योंकि प्रायेण समस्त भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों में धर्म और भक्ति को परलोक या स्वर्ग-सुख या मोक्ष-निर्वाण या मुक्ति-प्राप्ति का ही साधन समझा गया है । किन्तु शुक्ल जी धर्म की व्याख्या परलोक या निर्वाण के साधन के रूप में नहीं, अपितु इसी लोक के मंगल-विधान के साधन के रूप में करते हैं । उन्होंने लिखा है— 'लोक-व्यवहार और समाज-विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं ।'[१५१] वे कहते हैं कि 'विकासवाद

की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।'[152]

शुक्ल जी की दृष्टि में वस्तुतः धर्माधर्म या कर्तव्यशास्त्र की नींव रक्षा और आत्म रक्षा पर डाली गई है।[153] पारस्परिक व्यवहार और आचार के द्वारा क्रमशः मानव में सदसद् विवेक बुद्धि के उत्पन्न होने पर व्यवहार सम्बन्ध जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक समझा गया, परस्पर मिलकर कार्य करने में उन बातों की प्राप्ति अधिक सुगम प्रतीत हुई जिनसे सबको समान लाभ था।[154] अतः एक ही पूर्वज से उत्पन्न अनेक परिवार इसी ( रक्षा सम्बन्धी ) समानहित की भावना से प्रेरित होकर कुलबद्ध होकर रहने लगे। एक के जिस कर्म से सबका जितना हित या अहित होता—उसी हिसाब के उस कर्म की स्तुति या निन्दा होती। इस प्रकार कुलधर्म की स्थापना हुई।[155] समाज की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गई धर्म की भावना में भी देश कालानुसार परिवर्तन होता गया।[156]

शुक्ल जी ने विकासवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज के आदिम युगीन धर्म की विवेचना की है। उन्होंने बताया है कि 'कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियों को चुराना या लड़कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओं पर नर बलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइबिल में इसके कई उल्लेख हैं, शुनःशेफ की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस संबंध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनों वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को लेकर चलता हुआ। श्वेतकेतु को बड़ा बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कहकर शान्त किया कि यह सनातन धर्म है—एष धर्मः सनातनः—ऐसा सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़कर जायेगी उसे भ्रूण हत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीनकर ले जायेगा उसे भी पातक लगेगा।'[157] इस प्रकार शुक्ल जी ने भारतीय समाज को असभ्यता से सभ्यता की ओर उसी प्रकार विकसित होते हुए माना है जैसे अन्य देशों के समाज। इसे लक्ष्य कर कही गई डॉ० रामविलास शर्मा की यह बात कि 'सन् बीस तो क्या, सन् अट्ठावन-उनसठ में भी बहुत कम लोग हैं जो धर्म और समाज के प्रति यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हों।'[158] सन् अरसठ-उनहत्तर के बारे में भी कही जा सकती है।

शुक्ल जी की दृष्टि में 'शील या धर्म से ही समाज की स्थिति है।'[159] इसके अभाव में समाज की स्थिति सम्भव नहीं। उनका कथन है कि 'चोर और डाकुओं तक के दल में यह धर्म-व्यवस्था पाई जाती है। चोर चाहे दुनिया भर का माल चुराया करें पर अपने दल के भीतर उन्हें धर्म-व्यवस्था रखनी पड़ती है। वे यदि आपस में अन्याय और बेईमानी करने लगें तो उनका दल टूट जायेगा। अतः सिद्ध हुआ कि लोक या समाज को धारण करने वाला है। इसी से कहा गया है कि—'धर्मो रक्षति रक्षितः'।'[160]

शुक्ल जी धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि मानते हैं।[161] एक स्थान पर उन्होंने उसे 'ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति' कहा है।[162] उनके मतानुसार 'परिवार और समाज की रक्षा में लोक-परिचालन में और समष्टि रूप में,

अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।'[163]

आचार्य शुक्ल धर्म को उसकी व्यापकता के आधार पर कई ऊँची-नीची भूमियों में प्रतिष्ठित करके देखते हैं—जैसे व्यक्ति धर्म, कुलधर्म, समाज धर्म, लोक धर्म और विश्व धर्म या पूर्ण धर्म।[164] उनका कथन है कि धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है।'[165] अतः किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्चकोटि का होता है।[166] इस सूत्र के अनुसार गृह धर्म या कुल धर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक धर्म से विश्व धर्म।[167]

शुक्ल जी के अनुसार विश्व धर्म में धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है।[168] यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग।[169] पूर्ण धर्म अथवा विश्व-धर्म का सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति रक्षा से है।[170] शुक्ल जी का कथन है कि वस्तुतः पूर्ण धर्म पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जनसाधारण में नहीं।[171]

शुक्ल जी का कथन है कि 'धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियाँ ऊपर कही गई हैं, वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में, उसके पालन के स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटने वाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं, अकाल पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देने वाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।'[172] इस कथन से शुक्ल जी की सूक्ष्मतत्त्वग्राहिणी दृष्टि का परिचय मिला है। उन्होंने धर्म के हृदय या प्राणतत्त्व को पहचाना है। इस दृष्टि के अनुसार गरीबों का गला काटकर चींटियों की बिल पर आटा फैलाने वाले धर्मी की अपेक्षा अकाल पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देने वाला किन्तु अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण को संकट में डालने वाला धर्मी कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

सर्वप्रथम मनुष्य का अपने प्रति कुछ कर्तव्य होता है, इसे निज धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। इसके उद्देश्य निज-रक्षा, रंजन, मंगल और सर्वांगीण उन्नति आदि हैं। इसका विस्तृत विवेचन शुक्ल जी ने 'आदर्श जीवन' में किया है।[173]

मनुष्य का जहाँ अपने प्रति कुछ कर्तव्य होता है, वहीं परिवार के प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य होता है। इसका भी विस्तृत उल्लेख उन्होंने 'आदर्श जीवन' में किया है।[174] पारिवारिक सम्बन्धों के कुछ उत्कृष्ट स्थलों का निर्देश उन्होंने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रन्थ के 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक के अन्तर्गत भी किया है।[175]

समाज या लोक-धर्म का शुक्ल जी ने सर्वाधिक विशद सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यह धर्म केवल सीमा विस्तार की ही दृष्टि से नहीं, वरन् स्वरूप की दृष्टि से भी परिवार या कुल धर्म से गुणात्मक स्तर पर भिन्न होता है।

सर्वप्रथम लोकधर्म का आदर्श विवेच्य है। शुक्ल जी के अनुसार लोकधर्म का सम्बन्ध समस्त मनुष्य जाति की स्थिति-रक्षा और अभ्युदय विधान से है,[176] अतः

उसका आदर्श है—रागात्मिकावृत्ति के प्रसार के द्वारा विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित करना,[१७७] निजमंगल और लोकमंगल का संगम उपस्थित करना,[१७८] मनुष्य को जगत् का सच्चा प्रतिनिधि बनाना,[१७९] व्यक्ति तथा लोक के सम्बन्ध को विरोधहीन बनाकर घनिष्ठ करना,[१८०] अत्याचार और अत्याचारी के आशु दमन द्वारा समाज की रक्षा और दुःख मुक्ति का विधान करना,[१८१] व्यावहारिक जीवन के विविध रूपात्मक सम्बन्धों की रक्षा करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित एवं मर्यादित करना,[१८२] भौतिक सुख-समृद्ध की वृद्धि तथा प्रतिभा का विकास करना, लोक अभ्युदय के विधायक उपादानों का विकास करना,[१८३] प्राकृतिक साधनों का अनुसंधान करना,[१८४] धरती के गर्भ में छिपी सम्पत्ति का उद्घाटन करना आदि ।[१८५]

लोक-धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि 'संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा ।'[१८६] स्पष्ट है कि उनका लोक-धर्म निरपेक्ष और शाश्वत नहीं, अपितु लोक-सापेक्ष और गत्यात्मक है । उनकी दृष्टि में वही धर्म लोक-धर्म होगा जो समग्र लोक में व्याप्त होगा, जीवन के किसी एक अंग को स्पर्श करने वाला धर्म लोक-धर्म नहीं ।[१८७] लोकधर्म के तत्त्व को सूत्रबद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि 'जनता की विविध प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है वही लोक-धर्म है ।[१८८]

शुक्ल जी ने व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है ।'[१८९] यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ पर लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज उसका अधिकारी नहीं ।[१९०] इसीलिए वे लोक-धर्म को व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा बहुत अधिक उपयोगी और उत्कृष्ट मानते हैं । उनका कहना है कि 'ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य प्रधानमतों में साधना के जो उपदेश दिए गए उनका पालन अलग-अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो पर सारे समाज ने नहीं किया । किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्यायपूर्वक अग्रसर होने वाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा । वहाँ भी समष्टि रूप में जनता के बीच लोक-धर्म ही चलता रहा । अतः व्यक्तिगत-साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता है, जिसके बीच काया पली है ।'[१९१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों को पाखंड और लोक-धर्म को अनुपेक्षणीय एवं अनिवार्य मानते हैं । लोक-धर्म के प्रति उनका यह दृष्टिकोण पूर्णतया बुद्धिवादी है । यहाँ यह संकेत करना अनुपयुक्त न होगा कि उनका यह दृष्टिकोण गांधीवाद पर जबर्दस्त प्रहार है और उसकी कटु किन्तु सत्यतम आलोचना है । इससे यह भी प्रकट है कि गांधी जो अपनी व्यक्तिगत साधना और उच्च-

वर्ग की विविध सहायता से—लोगों की श्रद्धा का पात्र बना था, हमारे बुद्धिवादी विज्ञानवादी आचार्य को प्रभावित न कर सका था। यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। उनका यह दृष्टिकोण ग्रहण करने में हिन्दुस्तान के बुद्धिजीवी वर्ग का अधिकांश आज भी असमर्थ है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने बहुत ही ठीक लिखा है कि 'सर्प को दूध पिलाकर उसका स्वभाव बदलने वाले को शुक्ल जी व्यक्तिगत साधना करने वाला कहते हैं, यह लोक-धर्म नहीं है। लोक-धर्म वह है जिस पर आम जनता चल सके। व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म का यह भेद उन अहिंसावादियों के लिए बहुत अच्छा उत्तर है जो जनता के लिए दंड और कारागार का विधान करते हैं और निहित स्वार्थों का हृदय-परिवर्तन करने का ऐलान किया करते हैं।'[११२]

शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्याय-संगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है।'[११३] उनका तर्क है कि 'किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता।'[११४]

यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि शुक्ल जी को ऐसे क्रान्तिकारी विचारों को ग्रहण करने की प्रेरणा पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण के जीवन-चरित से मिली है, जो अपने युग के नियन्ता और महानतम बौद्धिक एवं शारीरिक योद्धा थे।

लोक-धर्म सम्बन्धी अपनी धारणा के महत्त्व के प्रति शुक्ल जी पूर्णरूपेण सचेत थे। उन्होंने लिखा है कि भारतीय जन-समाज में लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्णरूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।' उनका यह कथन सच प्रतीत होता है, क्योंकि जनता के जीवन-आदर्श उसके कर्मों को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करते हैं और 'जनता के हृदय में घर कर लेने पर सिद्धांत भी एक भौतिक शक्ति बन जाता है।'[११५]

यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि शुक्ल जी के लोक-धर्म के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप क्या होगा? भारतीय आर्य-धर्म में शुक्ल जी की महती आस्था थी, अतः भारतीय आर्य-धर्म का ही सामाजिक आदर्श उन्होंने अपनाया, जिसकी प्रेरणा उन्हें तुलसी से मिली। डॉ० रामलाल सिंह का यह कथन कि "शुक्ल जी का समाज-धर्म वैदिक हिन्दू वर्णाश्रम धर्म के आधार पर बना है, तुलसी के वर्णाश्रम धर्म के आधार पर नहीं[११६] ठीक नहीं। कारण यह कि तुलसी का वर्णाश्रम धर्म वैदिक वर्णाश्रम धर्म ही है, उससे भिन्न नहीं। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है—'गोस्वामी जी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।'[११७]

वैदिक धर्म का सामाजिक आदर्श स्वीकार करने के कारण शुक्ल जी का भी सामाजिक आदर्श वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा ठहरता है। उनका मत है कि वर्णों की सृष्टि भारतवर्ष में सभ्यता के विकास के साथ हुई। वह भगवान् कृष्ण या किसी व्यक्ति विशेष की सृष्टि नहीं। डा० राधाकृष्णन् का भी ऐसा ही मत है। उनके अनुसार 'समाज का श्रेणी विभाग कोई बलपूर्वक थोपी गई क्रिया नहीं है, वरन् प्रकृति का नियम है। हिन्दू समाज के चतुर्वर्ण हमारे जीवन के विकास की चार मंजिलों के प्रतिनिधि हैं।'[१९८]

शुक्ल जी का वर्ण-विभाग श्रीकृष्ण द्वारा गीता में प्रतिपादित वर्ण-विभाग से कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'वर्ण विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं, भाव-विभाग भी है।'[१९९] इस प्रकार गीता में चातुर्वर्ण्य की जो सृष्टि 'गुण कर्म विभागशः' कही गई है, वह शुक्ल जी की दृष्टि में 'कर्म भाव विभागशः' ठहरती है। यहाँ शुक्ल जी की दृष्टि के औचित्य-अनौचित्य के विवेचन का अवकाश नहीं है।

शुक्ल जी का मत है कि समाज में ऊँची-नीची श्रेणियाँ सदैव रहेंगी। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—'परिवार में जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं, उसी प्रकार शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि की विचित्रता से समाज में भी ऊँची-नीची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति।'[२००]

प्रश्न यह उठता है कि समाज की विभिन्न ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हों? इस प्रश्न का उत्तर शुक्ल जी की विवेचना में अनेक स्थलों पर मिलता है, जिसे उन्होंने वैदिक अथवा भारतीय आर्य धर्म से ही लिया है। उनका कथन है कि भारतीय आर्य धर्म का प्रधान लक्षण लोक को व्यवस्थित करने वाली 'मर्यादा' है।[२०१] मर्यादा के ही द्वारा समाज की उक्त विभिन्न श्रेणियों के बीच परस्पर सहयोगी एवं परिपूरक सम्बन्धों का निर्वाह सम्भव होता है।[२०२] शुक्ल जी की इस मर्यादा-दृष्टि के अनुसार समाज में ऊँची-स्थिति वालों के लिए छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक होता है और छोटी स्थितिवालों के लिए बड़ी स्थिति वालों के प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना।[२०३] यही उनकी दृष्टि में समाज की विभिन्न श्रेणियों के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप है।

शुक्ल जी सभी श्रेणियों को अपने-अपने अधिकार तथा उत्तरदायित्व का पालन करते हुए देखना चाहते हैं। उनका मत है कि यदि ऐसी व्यवस्था स्थिर हो जाय तो विश्व की अशान्ति दूर हो जाय। वे बड़ी स्थिति वालों को दूसरों को छोटा मानने या प्रकट करने का अधिकार नहीं देते। उनका स्पष्ट कथन है कि 'न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटें जोड़ता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो।'[२०४] उनके अनुसार जिस जाति में छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो

जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।[२०५] कहने की आवश्यकता नहीं कि आज भारत इसी भीषण रोग से पीड़ित है।

शुक्ल जी ने अभिमान के मूल को खोज निकाला है। उनकी दृष्टि में शान या अभिमान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग में अधिक समझा जाता है।[२०६] कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है, तब यह नहीं कहता कि 'मैं जिस बदमाश को चाहूँ पकड़ कर तंग कर सकता हूँ बल्कि यह कहता है कि मैं जिसको चाहूँ उसको पकड़ कर तंग कर सकता हूँ।'[२०७] आशय यह है कि उसे अपनी शक्ति के अनुचित प्रयोग कर सकने का अभिमान रहता है। इसीलिए वे सुझाव देते हैं कि 'यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की संभावना दूर कर दी जाय तो स्थान-स्थान पर अभिमान की जमी हुई मैल साफ हो जाय और समाज के कार्य-विभाग चमक जायँ।'[२०८]

शुक्ल जी की दृष्टि में छोटाई-बड़ाई हर समय तमाशा दिखाने के लिए नहीं है, बल्कि अवसर पड़ने पर संशोधन या शिक्षा के लिए है।[२०९] किसी अवध के तअल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वांग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन में आये तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीब को पिटवाता चले।[२१०] किसी देहाती थानेदार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह सिर पर लाल पगड़ी रख गँवारों को गाली देकर हर समय अपनी बड़ाई का अनुभव करता और कराता रहे।[२११] इसीलिये वे कहते हैं कि 'समाज में स्थान-स्थान पर अभिमान के अजायबघर स्थापित होना अच्छा नहीं। इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्तव्य है कि धर्म और राग बल से प्रतिष्ठित संस्थाओं के अन्तर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ।[२१२]

यही संक्षेप में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित समाज की विभिन्न छोटी-बड़ी श्रेणियों के लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों का व्यावहारिक जीवन दर्शन है। जिस प्रकार जीवन में उन्होंने अभिमान और खुशामद का विरोध किया है, उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में अभिमान जाग्रत करने वाली खुशामदी दरबारी कविता का भी।

शुक्ल जी ने सारे विश्व में वर्ण व्यवस्था की स्थापना की बात की है।[२१३] इससे प्रकट है कि उनकी दृष्टि में हिन्दू समाज की ही व्यवस्था का प्रश्न नहीं वरन् देश तथा विश्व की भी समाज-व्यवस्था का प्रश्न है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठ सकता है आज के इस वैज्ञानिक युग में विश्व में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की बात करना संगत है अथवा असंगत ? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर विवेचन के पश्चात् ही दिया जा सकता है। किन्तु विस्तार के अनवकाश के कारण पूरा-का-पूरा विवेचन प्रस्तुत करना असम्भव है और विषय की दृष्टि से अनावश्यक भी अतः कुछ संकेतों से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा।

सबसे पहले ध्यातव्य यह है कि वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था समझने की

भूल न की जानी चाहिए। वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था नहीं है। अधिकांश विचारक वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का वस्तुगत भेद समझने में असमर्थ रहे हैं।

वर्ण व्यवस्था पर बहुत आरोप लगाए गए हैं, इसी पर भारत की अवनति का बहुत कुछ दायित्व रखा गया है। ऐसे लोगों का मत है कि वर्ण व्यवस्था ने ही समाज में फूट डाल दी, परस्पर ऊँच-नीच भाव पैदा कर दिया, और सब अवनति की जड़ हुई। किन्तु वस्तुतः ये सब बातें जाति-व्यवस्था के बारे में सच हैं, वर्ण व्यवस्था के बारे में नहीं। वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था समझ कर ही उस पर ये सब आरोप लगाये गये हैं, किन्तु वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था नहीं है अतः उस पर ये आरोप ग़लत हैं।

जहाँ तक जाति-व्यवस्था का प्रश्न है, उसके बारे में शुक्ल जी इन आरोपों को स्वीकार करते हैं और वे जातिवादी नहीं, जातिवाद विरोधी हैं।[२१४] डॉ० राधाकृष्णन् भी उक्त आरोपों को जाति व्यवस्था के ही बारे में सच मानते हैं—वर्ण व्यवस्था के बारे में नहीं। जाति-व्यवस्था के बारे में उनका कहना है कि 'जाति प्रथा अनैक्य एवं दुष्टता का एक साधन बन गई है और यदि यह अपने वर्तमान स्वरूप में बनी रही और चलती रही तो इससे चिपके रहने वाले लोगों को यह निर्बल और प्रवंचक बना देगी।'[२१५] किन्तु वर्ण-व्यवस्था के बारे में उनका मत है कि 'यथार्थ में चतुर्वर्ण की योजना लोकतांत्रिक है।'[२१६] और 'समाज का श्रेणी विभाग कोई बलपूर्वक थोपी गई क्रिया नहीं है, वरन् प्रकृति का नियम है। हिन्दू समाज के चतुर्वर्ण हमारे जीवन के विकास की चार मंजिलों के प्रतिनिधि हैं।[२१७] यह भी ध्यातव्य है कि वैदिक ऋचाओं में (जिनके रचना-काल १५०० ई० पूर्व से ६०० ई० पू० में वर्ण थे, जातियाँ नहीं थीं) हम विवाह या सहभोज सम्बन्धी प्रतिबन्धों का कोई उल्लेख नहीं पाते।'[२१८]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था पर लगाये गये आरोप निराधार हैं। श्री गिरिधर शर्मा शास्त्री ने भी वैदिक वर्ण व्यवस्था के बारे में उक्त आरोपों को अपने ग्रन्थ 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में अस्वीकृत कर दिया है'।[२१९]

डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार वर्ण व्यवस्था में किसी मनुष्य की शक्ति या गुण के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण होता था, जन्म के आधार पर नहीं। किन्तु जब जन्म को अधिक महत्त्व प्राप्त होने लगा तब चतुर्वर्ण ह्रासोन्मुख होकर जातियों के रूप में परिणत हो गये।[२२०] उनके अनुसार जाति के मुख्य लक्षण ये हैं—(१) वंशानुक्रम। कोई व्यक्ति अपनी जाति नहीं बदल सकता। (२) सगोत्र-विवाह। एक जाति के प्रत्येक सदस्य को अपनी जाति के ही स्त्री या पुरुष से विवाह करना चाहिए, उससे बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं। (३) सहभोज सम्बन्धी प्रतिबन्ध। दूसरी जाति के सदस्यों के हाथ से खाद्य और पेय पदार्थ ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। (४) वर्ण जब कि चार ही हैं, तब जातियाँ असंख्य हैं।

जाति के इन लक्षणों से स्पष्ट है कि उक्त आरोप वस्तुतः इसी के बारे में सच हैं। अतः अपने समय की जातियों का नानाविधिक कटुताओं से परिपूर्ण और जर्जर

समाज को देखकर यदि शुक्ल जी ने यह विचार प्रकट किया कि इस व्यवस्था को समाप्त कर वर्ण व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए तो यह स्वाभाविक ही है। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या आज पुन: वर्ण व्यवस्था की उसी रूप में स्थापना की जा सकती है, जिस रूप में वह वैदिक काल में थी ?

वस्तुत: आज समाज में इतने विराट् रूपान्तरण स्थान ले चुके हैं कि कोई भी प्राचीन व्यवस्था उसे सुव्यवस्थित रूप नहीं दे सकती है। आज के समाज को सुव्यवस्थित रूप वही व्यवस्था दे सकेगी जो यह समझे कि समाज आज इस रूप में क्यों है, और वह कल किस रूप में होने जा रहा है ? यह सही है कि वैदिक आर्य तत्कालीन समाज के आन्तरिक एवं बाह्य गठन से भली भाँति परिचित थे और उसे उन्होंने सुव्यवस्थित किया था, किन्तु आज उनकी व्यवस्था में हमारा समाज समा ही नहीं सकता। हाँ, यदि वैदिक वर्ण व्यवस्था के ब्योरों को छोड़कर उसका अर्थ शक्ति के अनुसार श्रम विभाग ( Division of Labour ) ग्रहण किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था की स्थापना आज भी की जानी चाहिए। साम्यवादी व्यवस्था में भी शक्ति पर आधारित श्रम-विभाजन ( Division of Labour ) किसी न किसी रूप में रहेगा ही।

जब शुक्ल जी वर्ण व्यवस्था की स्थापना सारे विश्व में चाहते हैं तो उनका तात्पर्य वर्ण-व्यवस्था के इसी रूप से है, जिसमें प्रत्येक से उसकी शक्ति के अनुसार कार्य का नियम लागू होगा। यह ध्यातव्य है कि 'गुण कर्म विभाग' का तात्त्विक तात्पर्य यही है।

प्रत्येक को किस हिसाब से मिले, यह बात उन्होंने कहीं नहीं बतायी है। उन्होंने मात्र इतना कहा है कि वर्ण व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं कि छोटी श्रेणी के लोग दु:ख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहे।'[२२१]

स्पष्टता के लिए ऊपर विवेचित लोक-धर्म की तुलना आधुनिक अन्तर्राष्ट्रवाद से करना उपयोगी होगा। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रवाद के दो रूप हैं—(१) पूँजीवादी अन्तर्राष्ट्रवाद, (२) सर्वहारा या समाजवादी अन्तर्राष्ट्रवाद। पूँजीवादी अन्तर्राष्ट्रवाद का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण है, उसका सम्बन्ध मात्र पूँजीपति वर्ग से है शेष जनता उसके भीतर नहीं आती। इसके विपरीत सर्वहारा या समाजवादी अन्तर्राष्ट्रवाद अपेक्षाकृत कई गुना अधिक व्यापक है, किन्तु उसके भीतर भी पूँजीपति वर्ग नहीं आता। सारांश यह कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रवाद वर्ग-दृष्टिकोण पर समाधारित हैं, लोक-दृष्टिकोण पर नहीं। किन्तु शुक्ल जी का लोक-धर्म लोक-दृष्टिकोण पर आधारित है, वर्ग दृष्टिकोण पर नहीं। उसकी सीमा में लोक की समस्त जनता का समावेश है। अत: तात्त्विक दृष्टि से उनमें कोई मौलिक समता नहीं। शुक्ल जी की चिन्तन-पद्धति द्वन्द्वात्मक अवश्य है किन्तु उनकी दृष्टि वर्ग दृष्टि न होकर लोक दृष्टि ही है। यही कारण है कि वे अपने समग्र सामाजिक दर्शन में प्रायेण 'अत्याचार' और 'सदाचार' की नैतिक और

धार्मिक शब्दावलियों का ही प्रयोग करते रहे हैं।

यह यथास्थान निर्दिष्ट किया जा चुका है कि शुक्ल जी जीवन और लोक-धर्म की पूर्णता कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय में मानते हैं। धर्म के इन तीनों अंगों का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

कर्म के सम्बन्ध में पहले कुछ बातें प्रसंगवश बताई जा चुकी हैं, किन्तु कुछ और प्रमुख बातों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। शुक्ल जी गीता के 'निष्काम कर्म योग' से प्रभावित थे। उसी का कच्चे माल की भाँति उन्होंने इस्तेमाल किया और उसे परिमार्जित कर, वैज्ञानिक शैली द्वारा मौलिक बनाकर हमारे सामने रखा। उन्होंने कर्म और कर्मफल के बीच जिस वैज्ञानिक सम्बन्ध की स्थापना की है, वह गीता में नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि 'फल पहले से कोई बना बनाया पदार्थ नहीं होता अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है।'[२२२]

अपनी इसी वैज्ञानिक धारणा के आधार पर वे कर्म के क्षेत्र में अलौकिकता और रहस्यात्मकता के प्रवेश का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि 'जिस फल की प्राप्ति उपयुक्त श्रम और सोचे समझे उद्योग से होती है उसे अनायास एक अलौकिक सिद्धि के रूप में रहस्यात्मक ढंग से प्राप्त करने की वासना के कारण चिरकाल से मनुष्य जाति अपने समय, धन और शक्ति का अपव्यय करती चली आ रही है।'[२२३] उनकी दृष्टि में कर्म के क्षेत्र में रहस्य की प्रवृत्ति का परिणाम अत्यन्त बुरा होता है।[२२४]

इस 'कर्म-फल' के सिद्धान्त को लेकर डॉ० रामलालसिंह ने लिखा है कि 'इस सिद्धान्त को मानने से व्यक्ति अपने जीवन में दुर्भाग्य अथवा दुःख के आने पर समाजवादियों की तरह समाज अथवा शासन-पद्धति की कुत्सा नहीं करता, + + + वरन् सारा दोष अपनी प्रयत्न-विधि में मान लेता है।'[२२५] वस्तुतः डॉ० सिंह का यह कथन शुक्ल जी के उपर्युक्त सिद्धान्त की मनगढ़न्त व्याख्या है, वस्तुगत नहीं। यदि हिन्दुस्तान के लाखों ऐसे युवक जिनके पास जमीन नहीं कि खेती कर सकें, पूँजी नहीं कि कोई व्यापार कर सकें, कोई ऐसा विषय नहीं जिस पर श्रम लगा सकें, किन्तु जिन्होंने अनगिनत कठिनाइयों को अपने कर्म और प्रयत्न से परास्त करते हुए—भूखों रहकर चिथड़ा पहनकर, नंगे पाँव रहकर किसी प्रकार उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त कर ली है और अब एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देने के बावजूद खाली हाथ और खाली पेट हैं—बेरोजगारी के कारण, जो पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली एवं व्यवस्था का सहज परिणाम है, विपन्न हैं, समाजवादियों की भाँति शासन-पद्धति की कुत्सा करते हैं, तो क्या वे आचार्य शुक्ल के उक्त कर्म-फल-सिद्धांत के विपरीत आचरण करते हैं ? डॉ० सिंह ही ऐसा कह सकते हैं।

शुक्ल जी के कर्म-दर्शन में गीता के कर्मयोग से एक प्रमुख भेद और है। शुक्ल जी ने फल कामना का निषेध न करके फलासक्ति का निषेध किया है और आनन्दपूर्वक कर्म-सौंदर्य की उपासना का उपदेश दिया है। उन्हें निष्कामता से छुट्टी मिल गई है। उनके इस कर्म-दर्शन को 'सानन्द कर्मयोग' या 'सानन्द कर्म दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः गीता में भी श्रीकृष्ण का उद्देश्य फलासक्ति को ही हटाना था, जो

असीम शक्ति के साथ लोगों के दिलों में जमी थी, अतः उसे हटाने के लिए फल-कामना तक का निषेध उन्हें करना पड़ा।

शुक्ल जी के कर्मयोग में 'आनन्द' एक विशेष तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। वे आनन्दपूर्वक कर्म किये जाने के पक्ष में हैं। उनके मतानुसार 'कर्म के मार्ग पर आनन्द-पूर्वक चलता हुआ उत्साही यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करने वालों की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी, क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जो जीवन बीता वह सन्तोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया।'[२२६]

इसके विपरीत आनन्दशून्य कर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया है कि 'कर्म रुचि शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है।'[२२७]

शुक्ल जी ने फलासक्ति के दुष्परिणामों के प्रति लोगों को सचेत किया है और कर्मासक्ति को ही उचित, उपयोगी और श्रेयस्कर माना है। उनका कहना है कि 'फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय।'[२२८] उनके अनुसार 'आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए, फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफी है।'[२२९]

कर्म और कर्म-सौंदर्य पर शुक्ल जी का विशेष बल है। उन्होंने अवतारों (ईश्वरावतारों) की भावना को वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बनाते हुए कर्म-सौंदर्य की ही पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है।[२३०] 'कर्म-सौन्दर्य के ही कारण क्षात्रधर्म को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनकी दृष्टि में 'क्षात्र-धर्म' जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला है।'[२३१] 'कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र जीवन में जितने रूप में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं।'[२३२]

शुक्ल जी के विवेचन के आधार पर ज्ञान 'धर्म-चक्षु'[२३३] प्रमाणित होता है। अपनी द्वन्द्वात्मक दृष्टि के अनुसार वे ज्ञान की सत्ता अज्ञान सापेक्ष मानते हैं। यह सर्वथा उचित भी है। डॉ० बर्ट्रेंड रसेल का भी मत है कि 'ज्ञान प्रदेशों का सीमान्त अज्ञान के विस्तृत क्षेत्र से मिला हुआ रहता है।'[२३४]

शुक्ल जी निश्चयात्मिका बुद्धि को ज्ञान का एकमात्र साधन मानते हैं, वे हृदय, भाव-भक्ति और स्वानुभूति (Intuition) को ज्ञान का माध्यम नहीं मानते।[२३५] उनका स्पष्ट मत है कि 'परोक्ष के सम्बन्ध में, ईश्वर के सम्बन्ध में जो बातें कही जायँगी, वे वास्तव में शुद्ध बुद्धि की क्रिया द्वारा ही प्रस्तुत मानी जा सकती हैं। रागात्मिका वृत्ति द्वारा, भावोन्माद द्वारा, ऐसी बातें तो दूर रहीं साधारण बातें भी नहीं जानी जा सकतीं।'[२३६]

इस प्रकार शुक्ल जी ने ज्ञानप्राप्ति के समस्त अलौकिक मार्गों को अस्वीकृत कर दिया है। इसी दृष्टि के आधार पर उन्होंने रहस्यवाद पर सशक्त आक्रमण किया और उसे इस दशा में पहुँचा दिया कि डॉ० रामविलास शर्मा का यह दावा सत्य प्रतीत होता है कि 'रहस्यवाद को फिर से जीवित नहीं किया जा सकता।'[२३७] उनकी दृष्टि में रहस्यवाद ज्ञानप्राप्ति का साधन नहीं है, वे पूछते हैं—'किसी रहस्यदर्शी भक्त ने आज तक कहीं तत्त्वज्ञान की कोई नई बात बताई है ?'[२३८]

शुक्ल जी के अनुसार 'भक्ति' धर्म का हृदय है,[२३९] जिसके अभाव में धर्म निष्प्राण रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने भक्ति को यौगिक भाव सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।[२४०] जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों में साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।[२४१]

शुक्ल जी ने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'भक्ति धर्म का रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम उसी के भीतर दिखायी पड़ता है।'[२४२] इस परिभाषा को उन्होंने प्रसंगवश अनेक स्थलों पर दुहराया है।[२४३] इससे ज्ञात होता है कि इसे वे पर्याप्त सीमा तक सही और उचित मानते हैं। धर्म की रसात्मक अनुभूति का अर्थ है शील, धर्म या लोक-मंगल के अन्तर्गत जिन सत्कर्मों का समावेश है, उनको देख, सुन, याद या स्वयं करके आनन्द मग्न होना।

शुक्ल जी की 'भक्ति' वैराग्य, उदासीनता, अकर्मण्यता, निरपेक्षता, संघर्षहीनता आदि का उपदेश नहीं देती, अपितु वह भक्त को जीवन के विशाल क्षेत्र में उग्र और कोमल, कठोर और मृदु, तीक्ष्ण और मधुर आदि दोनों प्रकार के कर्म-सौंदर्य के सृजन के लिए प्रेरित करती है। मध्यकालीन भक्तों की भाँति वे नारी-त्याग, गृह-त्याग, दैन्य वैराग्य, अक्रोध आदि को सनातन नियम नहीं मानते और न तो भौतिक समृद्धि से विरत रहकर व्रत-उपवास का ही उपदेश देते हैं।

शुक्ल जी ने भारतीय भक्ति मार्ग के विकास का विशद् विवेचन किया है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। उनका कथन है कि 'भक्ति मार्ग विशुद्ध रूप में धर्म भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है।'[२४४] तात्पर्य यह कि जब बहुदेववाद से विकसित होते-होते एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई तभी भक्ति की स्थापना हुई। उनके मतानुसार आदिम मानव जातियों में जब बहुत से देवों की प्रतिष्ठा थी, तब भय या लोभ की प्रेरणा से उनकी पूजा मात्र की जाती थी, भक्ति नहीं।[२४५] आगे चलकर जब तत्त्व चिन्तन द्वारा ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई तब पूजा की भावना का विकास उपासना या भक्ति के रूप में हुआ। पूजा के विधान में हृदय पक्ष का पूरा योग न था, किन्तु ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के पश्चात् हृदय का योग कुछ अधिक हुआ।[२४६] शुक्ल जी का कथन है कि 'जहाँ से धर्म में हृदय तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की

प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्ति-मार्ग का आरम्भ मानना चाहिए।'[२४७]

भारतीय भक्ति मार्ग के विकास को प्रत्यक्ष करते हुए शुक्ल जी ने बतलाया है कि उपनिषत्काल में ज्ञान-मार्ग की निवृत्ति परक और कर्म-परक दो शाखाएँ थीं। निवृत्तिपरक शाखा कर्म और ज्ञान में नित्य विरोध मानकर साधना के लिए कर्मों का सर्वथा त्याग, रागों या मनोविकारों का पूर्ण दमन आवश्यक ठहराती है और ब्रह्म की केवल निर्गुण और अव्यक्त सत्ता लेकर चलती है। किन्तु कर्मपरक शाखा ज्ञान के साथ ही निष्काम कर्म का भी उपदेश देती है।[२४८] शुक्ल जी का कथन है कि 'इसी कर्मपरक ज्ञान मार्ग से, जिसमें कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था, आगे चलकर भक्ति का विकास हुआ।'[२४९]

ज्ञान और भक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान लेते हैं, वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं।'[२५०] यही बात उन्होंने अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में कही है।[२५१] इस प्रकार भक्ति के लिए ज्ञान अनिवार्य सिद्ध होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्ति की ज्ञान के लिए कोई उपयोगिता ही नहीं। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'पहले-पहले तो मनुष्य कुछ जानकर तब प्रेम करता है, फिर उस प्रेम की प्रेरणा से कुछ और जानने की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार आगे चलकर ज्ञान और भक्ति का पूर्वापर क्रम असंलक्ष्य हो जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान द्वारा भक्ति होती है और यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति द्वारा ज्ञान होता है।'[२५२]

शुक्ल जी के मतानुसार केवल जानने से ही मनुष्य के जीवन में, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में उन्नति नहीं होती। जाने हुए स्वरूप की ओर जब हृदय आकर्षित होता है और उस स्वरूप तक पहुँचने के लिए जब व्यक्ति का स्वरूप उसके मेल में होने लगता है तभी जीवन की साधना का आरम्भ होता है, जाना हुआ स्वरूप जैसा होगा, उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा।[२५३]

यहाँ पर संक्षेप में यह तत्त्व प्रकाशित किया गया है कि भक्त भक्ति के द्वारा भक्ति-भाजन के ही अनुरूप हो जाता है। यही भक्ति की महत्ता है जो ज्ञान द्वारा सम्भव नहीं। इसीलिए शुक्ल जी कोरे ज्ञानी और भक्त ज्ञानी में अन्तर करते हुए कहते हैं कि कोरा ज्ञानी भगवान के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त करता है, उससे तटस्थ रहता है, पर भक्त ज्ञानी उस स्वरूप में हृदय से लीन हो जाता है, जिससे उस व्यक्ति की सम्पूर्ण सत्ता में शुभ परिवर्तन होता है। इसीलिए वे ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही मानते हैं।

जिस प्रकार जीवन में शुक्ल जी कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य चाहते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी। कर्म-सौंदर्य की प्रतिष्ठा लोक मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनों रूपों में, ज्ञान की प्रतिष्ठा आलम्बन विधान या समग्र विभाव पक्ष के रूप में और भक्ति की प्रतिष्ठा भाव या रस रूप में उनके काव्य-दर्शन में है। उन्होंने भक्त

की अनुभूति की तुलना 'काव्य की लीनता' या रस प्रतीति से की है। उनकी दृष्टि में 'भक्त की अनुभूति वही है जिसे काव्य की लीनता या रस-प्रतीति कहते हैं।'[२५४] भक्त की भावानुभूति की प्रक्रिया भी काव्य की रस प्रतीति की प्रक्रिया की तरह स्वाभाविक और सीधी-सादी है जो कल्पना और रागात्मक वृत्तियों के सहारे घटित होती है। कल्पना के द्वारा विज्ञात का भीतरी साक्षात्कार होता है और रागात्मिका वृत्ति से आनन्दानुभूति होती है। इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति की निष्पत्ति होती है।[२५५]

शुक्ल जी की कृतियों में यत्र-तत्र युग की कुछ प्रमुख समस्याओं पर सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं---जिनसे उनकी गम्भीर चिन्तन-शक्ति का परिचय मिलने के साथ ही साथ उनकी जीवन-दृष्टि पर भी गम्भीर प्रकाश पड़ता है। अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। ऐसी समस्याओं में प्रमुख हैं—(१) व्यापारोन्माद, (२) साम्प्रदायिकता और (३) नारी के प्रति दृष्टिकोण। हम इनका क्रमशः उल्लेख करेंगे।

शुक्ल जी को अपने युग के स्वरूप का गहरा बोध था, जो आज भी विस्मय-कारक है। उन्होंने अपने युग को व्यापार-युग की संज्ञा से अभिहित किया है। व्यापार युग पूँजीवाद युग का सटीक पर्याय प्रतीत होता है, अतः यह नाम सार्थक और उचित है। वे पूँजीवाद शब्द से, जो समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का शब्द है, अवश्य परिचित रहे हैं, किन्तु उन्होंने जान बूझकर इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है, संभवतः इसलिए कि वे इसे भारतीय सांस्कृतिक शब्दावली के माध्यम से अभिव्यक्ति देना चाहते थे। यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाय कि व्यापार तो इसके पूर्व भी होता रहा है, तो ठीक है कि व्यापार तो इसके पूर्व भी होता रहा है, किन्तु आधुनिक युग के व्यापार में क्रान्तिकारी अथवा गुणात्मक परिवर्तन घटित हुए हैं, फलतः उसमें असाधारण परिस्थितियों का समावेश हो गया है। यदि पूर्व के युगों में श्रम और उससे उत्पन्न मूर्त वस्तुएँ ही 'माल' थीं तो आज मूर्त और अमूर्त हर वस्तु 'माल' है, कुछ भी ऐसा नहीं जो खरीदा और बेंचा न जा सके। इसके अतिरिक्त आज के व्यापार में शोषण, कलई और मिलावट का प्राचुर्य है जो पूर्व के युग में शायद रहा भी होगा तो बहुत कम। पहले व्यापार रहा है, किन्तु आज व्यापारोन्माद है। आज शायद ही जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसमें धन की पैठ न हो। शुक्ल जी इन सारी बातों से भली भाँति परिचित हैं। उन्हें मालूम है कि इस युग में लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं, वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं।[२५६] उन्हें मालूम है कि आज 'पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिसके पास कुछ रुपया है बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील-बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं।'[२५७] उन्हें मालूम है कि इस व्यापार-युग में 'ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है,

धर्म बिकता है और श्रद्धा ऐसे भाव भी बिकते हैं, यही नहीं नकली भाव, चापलूसी और भीरुता आदि श्रद्धा कहकर बेचे जाते हैं और झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं।'[२५८] इतना ही नहीं, उन्हें यह भी मालूम है कि इस युग में 'राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य क्षेत्रों में करा देने से उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया।'[२५९]

यदि सब धर्मों का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया तो इसे व्यापार-युग क्यों न कहा जाय ?

शुक्ल जी की उक्त बातें पूंजीवाद के मार्क्सवादी विश्लेषण के अनुकूल हैं। स्वयं मार्क्स और एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में लिखा है—'नग्न स्वार्थ के नक़द पैसे' कौड़ी के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध उसने ( पूंजीवाद ने ) बाकी नहीं रहने दिया। ऊँची से ऊँची धार्मिक भावनाओं, वीरोचित उत्साह और भोली से भोली भावुकताओं, सब पर उसने आना-पाई का मुलम्मा चढ़ा दिया है। मनुष्य के गुणों को उसने बाजार की बिकाऊ चीज बना दिया है।[२६०]

शुक्ल जी आगे लिखते हैं—'व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई।[२६१] उनका यह वाक्य पूंजी और प्रशासन, पूंजीपतियों और प्रशासकों के गठ-बन्धन का स्पष्ट संकेत कर रहा है। आज भारत में यही दशा विद्यमान है। उन्होंने लिखा है 'जिस समय क्षात्र धर्म ( सामंतवाद: अपनी ओर से ) की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट पर चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न-भिन्न राज्य की परस्पर सम्बन्ध-समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन रात मरते रहते हैं। [२६२] यहाँ शुक्ल जी ने सामंत-वाद या प्राचीन क्षात्र धर्म और पूंजीवाद या आधुनिक वणिग्धर्म के विभाजक लक्षणों और उनकी भिन्न प्रवृत्तियों का सही उल्लेख किया है। शुक्ल जी की बातें मार्क्सवाद के अनुकूल हैं। अन्तिम वाक्य में पूंजीवादी व्यवस्था के अनियंत्रित अति उत्पादन एवं तज्जन्य आर्थिक संकट का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। माल को किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहने का मतलब यही है।

शुक्ल जी ने न केवल अपने युग की समस्याओं को उनकी अपनी विशिष्टताओं के साथ समझा है, अपितु उनके समाधान तक पहुँचने का सफल प्रयास भी किया है। उनका यह कहना कि 'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगा'[२६३]—पूर्णतया सही है। ध्यातव्य यह है कि उन्होंने व्यापारोन्माद के दूर होने की बात कही है, व्यापार के दूर होने की नहीं। व्यापार तो समाजवादी समाज में भी होगा, किन्तु वह समाज द्वारा नियंत्रित होगा। उन्हें विश्वास है कि यह व्यापारोन्माद अवश्य दूर होगा। 'क्षात्र धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी,

चोरी का बदला डकैती से लिया जायगा।'[२६४] कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ चोरी का मतलब है शोषण या मुनाफाखोरी और डकैती का मतलब है बलपूर्वक अपहरण अर्थात् क्रांति। क्षात्र धर्म का यहाँ मतलब शस्त्र-ग्रहण से है।

शुक्ल जी पूँजीवाद के विश्वव्यापी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप से अवगत थे। उन्होंने सबल और सबल देशों के बीच अर्थ संघर्ष और सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ शोषण की प्रक्रिया को अविराम गति में देखा है। वे इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति के अनर्थ से बचने के लिए क्षात्र धर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्र संघ की प्रतिष्ठा आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः उनका यह क्षात्र संघ लड़ाकू जन मोर्चा ही है। यह है संक्षेप में शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत व्यापारोन्माद की विकट समस्या का क्रांतिकारी समाधान।

शुक्ल जी की कृतियों में वर्तमान युग की एक अति प्रबल एवं खतरनाक समस्या साम्प्रदाय वाद पर भी ध्यान देने योग्य विचार मिलते हैं, जिनसे उनकी सामाजिक धारणा एवं व्यावहारिक सूझ-बूझ का पता चलता है। उनका मत है कि दीर्घकालिक साहचर्य के प्रभाव से दो परस्पर द्रोही संप्रदायों में सह अस्तित्व एवं सहयोग की भावना उत्पन्न हो जाती है [२६५] और राग द्रोह का स्थानापन्न हो जाता है। ध्यातव्य है कि शुक्ल जी का यह कथन सामान्य कथन है कोई सैद्धांतिक स्थापना नहीं। अतः उसे सिद्धान्त समझ बैठने की भूल न की जानी चाहिए। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने बतायी है, जो निस्संदेह भारत भर में व्याप्त साम्प्रदायिकता का एक समाधान हो सकती है। उन्होंने लिखा है कि "मनुष्यत्व को ऊपर करने से हिन्दूपन, मुसलमान, ईसाईपन आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है जो विरोध की ओर ले जाता है।"[२६६] शुक्ल जी का यह उपाय साम्प्रदायिकता के समाधान का एक व्यावहारिक उपाय है, साथ ही साथ सैद्धान्तिक भी। चाहे अमेरिका का काला-गोरा संघर्ष हो अथवा भारत का हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, जिसमें मार्टिन लूथर किंग जैसी विभूतियाँ उठ गयीं, किसी अन्य उपाय द्वारा हल नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमें मनुष्यत्व को ही उभारना होगा, सहयोग एवं सौहार्द का ही आश्रय लेना होगा। यहाँ संघर्ष का सिद्धांत उल्टा रोग बढ़ाने वाला ही होगा। यह हर मार्क्सवादी अथवा अन्तर्विरोधों के दर्शन से परिचित हर विचारक जानता है। बात साधारण प्रतीत हो सकती है, किन्तु उसे व्यवहार द्वारा साकार करना साधारण नहीं, असाधारण कार्य होगा।

मनुष्यत्व को उभारने के अतिरिक्त शुक्ल जी के मतानुसार हर सम्प्रदाय अथवा जाति के लोगों को दूसरे सम्प्रदायों एवं जातियों के प्रति प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।[२६७] उन्होंने प्रेम और सहानुभूति प्राप्ति का साधन भी बताया है। उनकी दृष्टि में 'किसी जाति की जीवन कथाओं को बार-बार सामने लाना उस जाति के प्रति प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है।[२६८]

भारत में पुरुष वर्ग को एकाधिक पत्नियाँ रखने का सामाजिक अधिकार प्राप्त था, किन्तु नारी वर्ग को एकाधिक पति रखने का यह अधिकार प्राप्त न था। परिणामतः

बहु विवाह की प्रथा पुरुष सापेक्ष ही रही, नारी सापेक्ष नहीं । इसे नारी पर पुरुष का अत्याचार कहा जा सकता है । इस अत्याचार के उन्मूलन और साम्य की स्थापना का प्रश्न उपस्थित होने पर दो प्रकार के समाधान सम्भव हैं—या तो नारी को भी एका-धिक पति रखने का अधिकार दिया जाय या पुरुषों से एकाधिक पत्नियाँ रखने का अधिकार छीना जाय । शुक्ल जी पुरुषों से एकाधिक पत्नियाँ रखने के अधिकार को छीनने के पक्ष में हैं । वे चाहते हैं कि पुरुष 'एक भार्या' की मर्यादा का पालन करे जैसे एक नारी एक पति की मर्यादा का पालन करती है । शुक्ल जी का यह मत यौन-स्वातन्त्र्य के हिमायतियों के विरुद्ध है । शुक्ल जी के समक्ष राम का आदर्श था । उन्हीं के जीवन से उन्होंने एक-भार्या की मर्यादा की बात स्वीकार करने की प्रेरणा ली । एक-भार्या की मर्यादा की उपयोगिता उन्होंने राम और सीता के माधुर्यपूर्ण जीवन और बहु विवाह की हानि दशरथ के जीवन से प्रतिपादित की है । दशरथ के चरित्र पर विचार करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अन्त में एक ऐसा बेमेल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है । अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है । एक तो प्रेमवश दूसरे के सुख-संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा उसके सुख-संतोष का वहीं तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ साधन होता है ।'[२६९] स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने यहाँ बहु विवाह के विरोध के साथ ही साथ बेमेल विवाह का भी विरोध किया है । अतः यह स्वयं सिद्ध है कि शुक्ल जी नारी के प्रति सामन्तवादी दृष्टिकोण के विरोधी हैं । उनकी दृष्टि में नारी माया अथवा छलना की साकार प्रतिमा तथा भर्त्सना और निन्दा की वस्तु नहीं है, जैसा कि मध्यकालीन निर्गुणिए संतों की दृष्टि में वह थी, और न तो वह उसे रीतिकालीन कवियों और सामंतों की भाँति विलास सामग्री मात्र मानते हैं । यही कारण है कि तुलसी से इतना प्रभावित होते हुए भी वे उनकी नारी-निन्दा का समर्थन नहीं कर सके, उलटे उन्होंने जटिल तर्कों का सहारा ले उन्हें नारी-निन्दा के दोष से मुक्ति दिलाने की ही कोशिशें की । यद्यपि वे इस कार्य में पूर्णतया सफल नहीं हुए और स्वयं उन्हें भी अपनी असफलता का बोध था, अतः उन्होंने अन्त में लिखा या जनता से निवेदन किया कि 'वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए ।'[२७०] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे तुलसीदास की ओर से उनकी इस त्रुटि के लिए पाठकों से हाथ जोड़ क्षमा याचना कर रहे हैं । इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी नारी-निन्दा को कदापि उचित नहीं मानते । यह सच है कि तुलसी की नारी-निन्दा के दोष से मुक्त करने के लिए उनकी लोक नीति और मर्यादावाद पर विचार करते हुए नारियों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उन्होंने यह कहा है कि '। । । स्त्रियों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जो कहा है, वह सिद्धान्त वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है ।'[२७१] किन्तु अर्थवाद के रूप में भी ऐसे कथन का औचित्य वे स्वीकार नहीं कर सके अतः आगे उन्होंने लिखा 'पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस

युक्ति का अवलम्बन गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिए सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निन्दा से उनका जी दुःख सकता है।'[२७२]

इस आधार पर डॉ० जयचन्द्रराय की यह उक्ति कि 'उनकी ( शुक्ल जी की ) उलझन और विवशता से यही स्पष्ट होता है, जैसे संरक्षा का कोई प्रकृत मार्ग न पाकर यह कह रहे हों कि काश ! तुलसी ने नारी सम्बन्धी ये पंक्तियाँ न लिखी होतीं' एक समीचीन कल्पना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि नारी के प्रति वही नहीं है जो तुलसी की थी। नारी के प्रति उनकी दृष्टि उदार एवं युगानुरूप थी, उसे किसी भी तरह नारी के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता है। वे निस्सन्देह पुरुषों के द्वारा नारियों के प्रति किए जाने वाले अत्याचार के प्रत्यक्ष विरोधी हैं। उनका यह विरोध मात्र समाज तक सीमित नहीं, प्रत्युत काव्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हुआ है। उन्होंने जायसी ग्रंथावली में लिखा है "पुरुषों ने अपनी जबर-दस्ती से स्त्रियों के कुछ दुःखात्मक भावों को भी अपने विलास और मनोरंजन की सामग्री बना रखा है। जिस दिलचस्पी के साथ वे मेढ़ों की लड़ाई देखते हैं, उसी दिल-चस्पी के साथ अपनी कई स्त्रियों के परस्पर कलह को। नवोढ़ा का 'भय और कष्ट' भी नायिका-भेद के रसिकों के आनन्द के प्रसंग हैं। इसी परिपाटी के अनुसार स्त्रियों की प्रेम सम्बन्धिनी ईर्ष्या का भी शृङ्गार रस में एक विशेष स्थान है। यदि स्त्रियाँ भी इसी प्रकार पुरुषों की प्रेम सम्बन्धिनी ईर्ष्या को अपने खिलवाड़ की चीज बनावें तो कैसा ?"[२७३] यहाँ ध्यातव्य है कि शुक्ल जी मात्र विरोध तक ही सीमित नहीं रहे, प्रत्युत् प्रतिकार की सीमा को छूने लगे हैं।

## सन्दर्भ

१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १३४ । २. समाजवादी साहित्य के सर्जनात्मक सिद्धान्त, पृ० ३० ले०—ए० म्यास्निकोव । सोवियत दर्पण खण्ड ३, अंक ४७, २१ सितम्बर १९६८ । ३. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ३८४ । ४. दीज़ हॉरिंग ईयर्स, पृ० १, १९३३ । ५. मार्क्सवाद : मूल और सार तत्त्व—थियोडोर ओइत्सरमान, पृ० २६ । ६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, द्वि० सं० की भूमिका पृ० १४ । ७,८. विश्व प्रपंच (भूमिका), पृ० ३, १२ । ९. मार्क्सवाद मूल और सारतत्त्व : थियोडोर ओइत्सरमान, पृ० २७ । १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६. विश्व प्रपंच (भूमिका), पृ० १२, १२, १२, १३, ४, ४, ४ मार्क्सवाद : मूल और सारतत्व : थियोडोर ओइत्सरमान, पृ० ७२६, विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ५ । १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५. विश्व प्रपंच, पृ० ५, ११, ११, ५, १२, ६, ६, ७, ८ । २६,२७. विश्व प्रपंच, (भूमिका), भाग १, पृ० ९, ९ । २८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १९ (द्वितीय सं० की भूमिका) । २९, ३०, ३१, ३२. विश्व प्रपंच (भूमिका), पृ० १२-१७, १३, १४, १७-१८ । ३३. मार्क्सवाद : मूल और सारतत्त्व—थियोडोर ओइत्सरमान, पृ० २८ । ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ४५, ४५, ४६, ५५, ५६, ६१, ६५, ६५, ६७, ६८, ६८, ६८ । ४६, ४७, ४८, ४९. विश्व प्रपंच, (भूमिका), भाग १, पृ० २६, ६९, २९, ६१-६५ । ५०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, (द्वि० सं० की भूमिका), पृ० २२ । ५१, ५२, ५३, ५४. विश्व प्रपंच (भूमिका), पृ० ३१, ३१, ९९, १००, १०१ । ५५, ५६. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ११५ । ५७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १५ । ५८, ५९, ६०. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ३३, ३५, ३६ । ६१, ६२. विश्व प्रपंच (भूमिका), भाग १, पृ० १४७, १४८ । ६३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २४ (द्वि० सं० की भूमिका) । ६४. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ८२-८९ । ६५. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ८९ । ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३. विश्व प्रपंच, (भूमिका) भाग १, पृ० ९७, १३२, १३२, १३२, १३२, १३२, १३२, १३२ । ७४, ७५, ७६. चिन्तामणि,

भाग १, पृ० १२७, २१३, २१३ । ७७,७८. सूरदास, पृ० ७, ७ । ७९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२७ । ८०, ८१. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० १२, १२ । ८२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ७३ । ८३. रसमीमांसा, पृ० २५९ । ८४, ८५. सूरदास, पृ० ११, पृ० १२ । ८६, ८७. सूरदास, पृ० १२, १६-१७ । ८८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ७४ । ८९. सूरदास, पृ० १३ । ९०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ७६ । ९१, ९२, ९३, ९४. विश्व प्रपंच (भूमिका), पृ० १४७, १४७, १४७, १४८ । ९५. *धर्म : कार्लमार्क्स तथा एंगेल्स (सं० तथा हि० अनु०* रमेश सिनहा), पृ० १९५ । ९६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१३ । ९७. सूरदास, पृ० ५-६ । ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३. चिन्तामणि भाग १, पृ० १, १, १, ४८, ५३, ५३ । १०४, १०५, १०६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २-३ २-३, २ । १०७, १०८, १०९, ११०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३८, ९, ५३, ५३ । १११, ११२, ११३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४२, ४३, ४३ । ११४, ११५, ११६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १२९, १२८, १२८ । ११७, ११८, ११९, १२०, १२१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ७, १३३, १४३, १४३, १४१ । १२२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जयनाथ नलिन, पृ० ७४ । १२३, १२४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ६१, १४१ । १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ५, ५, ५, ५, ५, १४१, १४१ । १३२, १३३. विश्वप्रपंच, (भूमिका), भाग १, पृ० ९७, ९७ । १३४, १३५, १३६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४७, २२३, ४९ । १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ५१, २१४, २१५, २२१, ५२-५३, ४७ । १४३, १४४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१४-२१६, २१७ ।, १४५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८ । १४६. चिन्तामणि भाग १, पृ० २०९ । १४७. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' शीर्षक 'आलोक' । १४८. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ९२ । १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ९२, ९२, ९२, ९४, ९३, ९३, ९३ । १५६, १५७. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ९४, ९५ । १५८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २६ (द्वितीय संस्करण की भूमिका) । १५९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३१ । १६०. विश्व प्रपंच (भूमिका) भाग १, पृ० ९३ । १६१, १६२, १६३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २०९, २०९, २०७ । १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २०७, २०८, २०८, २०८, २०८, २०८, २०८, २०८, २०८ । १७३. आदर्श जीवन, विशेषतया, पृ० ७, ८, ९, २१०, २११ द्रष्टव्य । १७४. आदर्श जीवन, विशेषतया, पृ० १४, २३ और १०० द्रष्टव्य । १७५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७४ । १८२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४९ । १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८३, १८४, १८५.

चिन्तामणि, भाग १, पृ० २०८, ५, ५, ५, ५, ६४, ३१, २२ । १८६, १८७, १८८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २१, २१, २१ । १८९, १९०, १९१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २१, २१, २८ । १९२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १०० । १९३, १९४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २८, २८ । १९५. धर्म : कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, अनूदक और संपादक श्री रमेश सिनहा पृ० ६२ । १९६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत, पृ० १४० । १९७. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३४ । १९८. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ४०१ । १९९, २००, २०१, २०२, २०३. गो० तुलसीदास, पृ० ३९, ३४, ४४, ४४, ४४ । २०४, २०५, २०६, २०७. चिन्तामणि, भाग १, ११३, ११३, ११४, ११४ । २०८, २०९, २१०, २११, २१२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ११४, ११५, ११५, ११५, ११५ । २१३. गोस्वामी तुलसीदास पृ० ३९ । २१४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ११३ । २१५. प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ४०७ । २१६. वही, ४०३ । २१७. वही, पृ० ४०१ । २१८. प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ४०७ । २१९. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० २०४ । २२०. प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ४०७ । २२१. गो० तुलसीदास, पृ० ३८ । २२२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४ । २२३, २२४. सूरदास, पृ० ६२-६३, ६२ । २२५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत, पृ० १३२ । २२६, २२७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४, १३ । २२८, २२९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४ । २३०, २३१, २३२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४१-४२-४३, ४२-४३, ४३ । २३३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६ । २३४. विजडम आव द वेस्ट, भूमिका । २३५-२३६. सूरदास, पृ० ३५-३६, ५२-५३ । २३७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ८० । २३८, २३९. सूरदास ६२, ३ । २४०, २४१, २४२, २४३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३२, ३२, ४, २०७ । २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१. सूरदास, पृ० ५२, ५, २२, २३, १५, १५, ३६, ३९ । २५२-२५३. सूरदास, पृ० ३९,३६ । २५४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४० । २५५. सूरदास, पृ० ४२ । २५६. २५७, २५८, २५९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ७३, ७३-७४, ३०, ७४ । २६०. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ० ३७, कार्ल मार्क्स और फेडरिक एंगेल्स, अनु० रमेश सिनहा । २६१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ७४ । २६२, २६३, २६४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ७४, ७४, ७४ । २६५. जायसी ग्रन्थावली, पृ० १ । २६६. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३ । २६७, २६८. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ५ । २६९. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १११ । २७०, २७१, २७२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४५, ४३, ४३ । २७३. जायसी ग्रन्थावली, पृ० १२१ ।

# साहित्य की परिकल्पना

## साहित्य और वाङ्मय

आजकल साहित्य-शब्द प्रधानतः दो अर्थों में प्रचलित है—वाङ्मय के पर्याय के रूप में भी और शुद्ध अथवा ललित साहित्य के अर्थ में भी । शुक्ल जी ने 'साहित्य' शब्द को इसी दूसरे अर्थ में ग्रहण किया है । उनकी दृष्टि में साहित्य वाणी या वाङ्मय का पर्याय नहीं, बल्कि उसका एक विभाग है ।[1] इसी प्रकार वह ज्ञान या विद्या का भी पर्याय नहीं, बल्कि उसका एक विभाग मात्र है । वाङ्मय और साहित्य अथवा विद्या और साहित्य का सम्बन्ध पूर्ण और अंश का सम्बन्ध है । शुक्ल जी वाङ्मय या विद्या के दो विभाग—साहित्य और विज्ञान करते हैं ।[2] उन्होंने अपने 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध में विज्ञान ( शास्त्र ) और साहित्य का अन्तर स्पष्ट किया है । उन्होंने लिखा है—'सारांश यह कि विज्ञान 'पदार्थ' या 'तत्त्व' का बोधक है और साहित्य 'कल्पना' और विचार का, विज्ञान ब्रह्माण्ड व्याप्त है और साहित्य का स्थान किसी एक व्यक्ति में । विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है, किन्तु साहित्य में भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलंकार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें सम्मिलित हैं । साहित्य भिन्न-भिन्न लोगों का भिन्न-भिन्न प्रकार से भाषा को काम में लाना है ।'[3] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यहाँ साहित्य से उनका तात्पर्य ललित अथवा शुद्ध साहित्य से है ।

वाङ्मय के भीतर 'साहित्य' शब्द की व्याप्ति कहाँ तक है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण के आरम्भ में कहा है—'साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो ।'[4] स्पष्ट है कि यहाँ भी शुक्ल जी समस्त अर्थबोध अर्थात् वाङ्मय को साहित्य में समाविष्ट नहीं करते, प्रत्युत साहित्य के लिए अर्थबोध के साथ ही साथ भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन को अनिवार्य मानते हैं । उसके बिना मात्र अर्थबोध साहित्य की सीमा में एक पैर भी नहीं रख सकता है । आश्चर्य है कि इसी उद्धरण के आधार पर श्री शिवनाथ ने यह कहा है कि 'वे ( शुक्ल जी ) 'साहित्य' को 'वाङ्मय' का पर्याय मानते थे ।'[5] वस्तुतः श्री शिवनाथ ने अर्थबोध पर तो ध्यान दिया है, किन्तु उसके विशेषणों को छोड़ दिया है । यही भ्रांति है । शुक्ल जी ने तो स्पष्ट कर दिया है कि "अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी करना मात्र

जिस कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा और चाहे जहाँ जाये।''[८]

आचार्य शुक्ल के उक्त साहित्य-सीमांकन में असंदिग्ध वैज्ञानिकता विद्यमान है, क्योंकि उसकी सीमा के अन्तर्गत भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन के अभाव में मानव-संचित ज्ञान-राशि का कोई भी अंश प्रविष्ट नहीं हो सकता है और भावोन्मेष अथवा चमत्कर पूर्ण अनुरंजन सहित कोई भी अर्थबोध प्रवेश से वंचित नहीं रह सकता है।

## साहित्य, काव्य और कविता

जैसे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में प्रचलित है—वाङ्मय के पर्याय के रूप में भी और शुद्ध अथवा ललित साहित्य के अर्थ में भी, वैसे ही 'काव्य' और 'कविता' शब्द भी दो अर्थों में प्रचलित है, समूचे ललित अथवा शुद्ध साहित्य के अर्थ में भी और मात्र उसकी एक विधा के अर्थ में भी। इससे सिद्ध होता है कि 'साहित्य' शब्द जब अपने दूसरे अर्थ में (सीमित अर्थ) में प्रयुक्त होता है और काव्य या कविता शब्द जब अपने पहले अर्थ में प्रयुक्त होता है ( व्यापक अर्थ में ) तो वे पर्याय होते हैं। जब 'साहित्य' शब्द का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में 'वाङ्मय' के पर्याय के रूप में होता है तो 'काव्य' और 'कविता' शब्द अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी 'साहित्य' के पर्याय नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह कि 'काव्य' या कविता किसी भी दशा में वाङ्मय के पर्याय नहीं होते। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि 'काव्य' और 'कविता' संस्कृत भाषा और साहित्य में एक-दूसरे के पर्याय हैं। ये दोनों ही शब्द 'कवि' शब्द में भावार्थ 'ष्यञ्' और 'तल्' प्रत्ययों के संयोग से क्रमशः बने हैं। अर्थ दोनों के बिल्कुल एक हैं, अन्तर केवल लिंग में है– एक संस्कृत व्याकरण के अनुसार नपुंसक लिंग है और दूसरा स्त्रीलिंग। बस इसके अतिरिक्त और कोई फ़र्क नहीं। हिन्दी में एक पुल्लिंग है और दूसरा स्त्रीलिंग। शुक्ल जी ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग उसके सीमित अर्थात् शुद्ध अथवा ललित साहित्य के अर्थ में किया है, यह सिद्ध किया जा चुका है। अब देखना यह है कि वे 'काव्य और कविता' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। किन्तु इसे देखने के पहले यह देख लेना चाहिए कि वे इन्हें समान अर्थ में प्रयुक्त करते हैं अथवा पृथक्-पृथक् अर्थ में। उनका अति प्रसिद्ध निबन्ध है 'कविता क्या है ?'' इस निबन्ध से यह ज्ञात होता है कि वे इन शब्दों को पर्याय के रूप में व्यवहृत करते हैं। जाहिर है कि शीर्षक में उन्होंने 'कविता' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु निबन्ध के कलेवर में स्थान-स्थान पर उन्होंने 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है और उसी अर्थ में जैसे—'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता।[८] इतना ही नहीं, बीच के उपशीर्षक में भी उन्होंने कविता के स्थान पर 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे—'काव्य और व्यवहार'[९] और कविता का भी प्रयोग किया है, जैसे 'कविता की भाषा।'[१०] अतः

निष्कर्ष यह निकलता है कि 'काव्य' और 'कविता' उनकी दृष्टि में एक-दूसरे के पर्याय हैं।

काव्य या कविता शब्द का प्रयोग शुक्ल जी ने उपर्युक्त दोनों व्यापक और सीमित अर्थों में किया है, कहीं तो शुद्ध या ललित साहित्य (जिसे हम आगे मात्र साहित्य शब्द से अभिहित करेंगे क्योंकि शुक्ल जी ने उसे मात्र इसी अर्थ में प्रयुक्त ही किया है।) के पर्याय के रूप में और कहीं उसके एक अंग अथवा उसकी एक विधा मात्र के रूप में। कविता की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि 'हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।'[११] स्पष्ट है कि कविता की यह परिभाषा व्यापक है। इसके अन्तर्गत पद्य और गद्य, सछन्द और स्वच्छन्द आदि सभी प्रकार के शब्द-विधान आ जायेंगे, चाहे वे साहित्य के, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि अंगों में से जिस किसी के भी अंश हों, बशर्ते कि उनका विधान हृदय की मुक्ति की साधना के लिए हो। यहाँ पर 'कविता' शब्द का प्रयोग साहित्य के पर्याय के रूप में हुआ है न कि उसके एक अंग के रूप में जैसा कि साधारणतया समझा जाता है। अपने इंदौर वाले भाषण में काव्य और समालोचना की व्याख्या समाप्त करते हुए उन्होंने कहा—'काव्य और समालोचना के विवेचन में मैं समझता हूँ, मैंने बहुत अधिक समय ले लिया—इतना अधिक कि अब साहित्य के और अंगों के सम्बन्ध में केवल दो-दो बातें ही कही जा सकती हैं।'[१२] उनके इस कथन से स्पष्ट लक्षित होता है कि यहाँ उन्होंने 'काव्य' शब्द का प्रयोग साहित्य के एक विशिष्ट अंग के रूप में किया है, उसके पर्याय के रूप में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने व्यापक और सीमित दोनों ही अर्थों में काव्य और कविता शब्दों का प्रयोग किया है।

साहित्य क्या है ? इस प्रश्न पर आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्ध 'साहित्य' में विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनकी दृष्टि में (क) 'साहित्य से पुस्तक मात्र का बोध नहीं होता, क्योंकि तब उसके अन्तर्गत विज्ञान, ज्योतिष, न्याय और विद्या के और भी अन्य विभाग आ जायेंगे।'[१३] (ख) 'साहित्य शब्दों की क्रीड़ामात्र नहीं।'[१४] (ग) 'साहित्य हाथ की किसी प्रकार की कारीगरी नहीं है।'[१५]

इन निषेधों के पश्चात् वे साहित्य को वाणी की शक्ति या गुण कहते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य विचार का बोधक है न कि पदार्थ का। साहित्य की उत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा है—'साहित्य एक व्यक्ति की निज की क्रिया है। यह कई मनुष्यों के संयोग से अथवा किसी यंत्र की सहायता से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नहीं है।'[१६] उनका तर्क है कि 'वाणी एक समय में एक ही मनुष्य की हो सकती है और वह उसी की कल्पना और उसी का अनुभव है। किसी एक विशेष प्रकार की कल्पना एक मनुष्य-विशेष की निज की और स्वाभाविक सम्पत्ति है, यद्यपि सम्भव है कि और लोग भी वैसी ही या उससे मिलती जुलती कल्पना रखते हों।'[१७] साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा : ''विचार' और 'कल्पना' भाषा द्वारा प्रकट किये जाते हैं। यही साहित्य है। पदार्थ साहित्य नहीं, पदार्थों का शब्दरूपी संकेत भी साहित्य

नहीं और केवल शब्द भी साहित्य नहीं। 'विचार' का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रकट किये जाते हैं। और विचारों से तात्पर्य कल्पना, अनुभव, विवेचन तथा अन्यान्य मन की क्रियाओं से है।'[18] इस आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी साहित्य को 'विचार' और 'कल्पना' की वाणीगत अभिव्यक्ति मानते हैं।

शुक्ल जी की उपर्युक्त सभी स्थापनाएँ उनकी विश्लेषणात्मक विचार पद्धति की सहज निष्पत्तियाँ हैं। वायव्य उक्तियाँ नहीं। उनमें से किसी को भी पूर्णतया असत्य या गलत नहीं कहा जा सकता। अधिकांश तो पूर्णतया सत्य हैं और सम्भवतः निर्विवाद भी। किन्तु फिर भी वे 'साहित्य' को परिभाषित करने में पूर्णतया सफल नहीं माने जा सकते। उनका कथन—'विचार' और 'कल्पना' भाषा द्वारा प्रकट किये जाते हैं। यही साहित्य है—परिभाषा-निकष पर खरा नहीं उतरता। वह अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट है। उन्होंने अपने विश्लेषणात्मक विवेचन में साहित्य और विद्या के वैज्ञानिक विभागों के बीच जो पार्थक्य दिखाया था, उसे वे यहाँ उक्त कथन में, बनाये नहीं रह सके हैं। अतः उनकी साहित्य की यह परिभाषा, यदि उसे परिभाषा माना जाय, जैसा कि श्री शिवनाथ[19] जी मानते हैं, अधिक धर्माभिधायिनी हो गई है। किन्तु ध्यातव्य यह है कि शुक्ल जी ने अपना यह निबन्ध १९०४ ई० में लिखा था जो उनका पहला सैद्धांतिक निबन्ध है और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक निबन्ध उन्होंने ३१ वर्ष बाद १९३५ ई० में लिखा। इस लम्बे समय के बीच वैचारिक विकास और स्पष्टता अवश्यम्भावी है। उन्होंने अपने इस निबन्ध में साहित्य को वाङ्मय के शेष भागों से पृथक् किया है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वहाँ उन्होंने साहित्य के लिए अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन को आवश्यक माना है। यही भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन ही वह विभाजक लक्षण है जिसके आधार पर वे साहित्य को शेष वाङ्मय से पृथक् करते हैं। यदि हम उनके इस विभाजक लक्षण को, जिसकी कमी उनकी साहित्य की १९०४ वाली परिभाषा में है, इसी में जोड़ दें, तो वह साहित्य की एक उपयुक्त एवं तर्कसंगत परिभाषा बन सकती है। ऐसा करने पर हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में साहित्य विचार और कल्पना की भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजनात्मक वाणीगत अभिव्यक्ति है।

शुक्ल जी की निम्न उक्ति से भी साहित्य के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है— "साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है।"[20] साहित्य को एक व्यक्ति की निज की क्रिया मानने के आधार पर उनकी साहित्यिक-दृष्टि पर व्यक्तिवादिता का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि उन्होंने यह बात साहित्य सृष्टि को दृष्टि में रखकर कही है सामान्यतः साहित्य को दृष्टि में रखकर नहीं, अतः वह यथार्थ सत्य है।

अपने जीवन दर्शन और विश्व दृष्टिकोण के ही अनुरूप शुक्ल जी साहित्य को भी विकासशील मानते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य जनता की चित्त-वृत्ति का प्रति-

बिब होता है। वे यह स्वीकार करके चलते हैं कि जनता की चित्तवृत्ति स्थिर अथवा शाश्वत नहीं, अपितु परिवर्तनशील होती है। अतः वे कहते हैं कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।[२१]

काव्य या कविता

शुक्ल जी ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।'[२२]

इतना स्पष्ट है कि हृदय की मुक्तावस्था और रसदशा में तादात्म्य है। हृदय की मुक्तावस्था ही उसकी रसदशा है और रसदशा ही उसकी मुक्तावस्था है। किन्तु हृदय की मुक्तावस्था अथवा रसदशा का तात्पर्य स्वतः स्पष्ट नहीं, बल्कि व्याख्या सापेक्ष है। परिभाषा के परम्परित गुणों के अनुसार स्वयंपरिभाष्य अथवा व्याख्या सापेक्ष शब्दा-वली का प्रयोग उसमें वर्जित है, अतः यह सदोष हो जाती है। शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था की व्याख्या की है। उसके अनुसार इस अनन्त रूपात्मक जगत् में अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाना ही हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा है। इस प्रकार यदि हम इस रस-दशा को स्पष्ट मान लें तो उनकी परिभाषा, के द्वितीय वाक्य में लटके हुए शब्द 'इसी' को निकालने पर कह सकते हैं कि हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस 'वाक्य' के 'करती आई है' अंश पर विचार करने से पता चलता है कि इसके भीतर 'करती चल रही है' और 'करती जायगी' वाले काव्य के हिस्से नहीं आ सकेंगे। अतः 'करती आई है' शब्दावली का प्रयोग उचित और कौशलपूर्ण नहीं कहा जा सकता है उसे हम 'किया करती है' या 'करती है' शब्दावलियों से हटा सकते हैं। ऐसा करने पर हम कह सकते हैं कि 'हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती है उसे कविता कहते हैं।' यद्यपि तात्पर्य की दृष्टि से परिभाषा में कोई अन्तर नहीं आया है, किन्तु फिर भी वह कुछ विशिष्टताओं से युक्त होकर अब सामान्य दशा में पहुँच गई है। अभी तक वस्तुतः बिना किसी पद्धति या विश्लेषण के ही उसे सहज ही सामान्य समझ लिया जाता रहा और उस पर विचार किया जाता रहा है। अब भी इसमें बहुत से अनावश्यक शब्द हैं, उन्हें निकाला जा सकता है। और कहा जा सकता है कि 'हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा की साधना के लिये शब्द-विधान ही कविता है।' अब दो ही चीजें बच रही हैं—'रसदशा' और 'शब्द-विधान' ये ही मिलकर कविता हैं। उससे स्पष्ट हो जाता है कि हर शब्दविधान

कविता नहीं, अपितु वही शब्द-विधान कविता है जो रसदशा की साधना के लिये हो या रसदशा का साधक हो।

इस प्रकार कविता की सीमा निश्चित हो जाती है जिसके भीतर अन्य प्रकार के शब्द विधान प्रवेश नहीं पा सकते हैं। अतः कविता की इस परिभाषा में अतिव्याप्ति का दोष नहीं है और चूंकि कोई भी ऐसा शब्द-विधान उसकी सीमा में प्रविष्ट होने से वंचित नहीं हो सकता, जो रसदशा का साधक हो, अतः परिभाषा अव्याप्ति दोष से भी मुक्त है।

परिभाषा के गुणों की दृष्टि से व्याप्ति सम्बन्धी दोनों का अभाव एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस परिभाषा की एक विशिष्टता यह भी है कि इसके भीतर कविता के लिखित और मौखिक दोनों ही रूप समाविष्ट हो जाते हैं। शब्द-विधान लिखित भी हो सकता है और मौखिक भी, दोनों ही प्रकार के शब्द-विधान जो रसदशा की साधना के लिये होंगे, कविता कहे जाने के अधिकारी होंगे। प्रस्तुत परिभाषा में काव्य का मौलिक लक्षण भी स्पष्ट है और वह है रसदशा की साधकता जिसे चाहें तो सरसता भी कह सकते हैं। रसदशा की साधकता के अभाव में कोई भी शब्द-विधान कविता नहीं हो सकता और शब्द विधान के अभाव में तो कविता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्य का हृदय उसके अपने प्रत्यक्ष जीवन में भी कभी-कभी कुछ प्रत्यक्ष घटनाओं के बीच रसदशा अथवा मुक्तावस्था को पहुँच जाता है, किन्तु ऐसी रस-दशा की सिद्धि कविता नहीं कहला सकती, क्योंकि उसका साधन शब्द-विधान नहीं कुछ और है। काव्य अथवा कविता के लिये शब्द-विधान अनिवार्य है। शुक्ल जी ने लिखा है—'काव्य शब्द व्यापार है। वह शब्द संकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति विधान करने का प्रयत्न करता है।'[२३] वस्तुतः कविता में शब्द-विधान साधन है और हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा साध्य। इस प्रकार अंततः शुक्ल जी की काव्य परिभाषा भारतीय रसवाद के ही अनुरूप सिद्ध होती है, किन्तु अनु-रूप होते हुए भी वह अपने आपमें मौलिक है, अनुकृत नहीं।

'कविता स्वर्ग से गिरती हुई सुधा धारा है', 'नन्दन वन के कुसुमों से टपकी मकरन्द की बूंदें हैं', 'अनन्त के दिव्य संगीत की स्वर लहरी है' आदि उक्तियों को आचार्य शुक्ल ने बुद्धि को रुग्ण करने वाली, पाषंड का प्रचार करने वाली, अलंकारपूर्ण किन्तु अर्थशून्य पदावली की संज्ञा दी है।[२४] इससे उनके समीक्षा के वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का पता चलता है।

**शुक्ल जी और संस्कृत के आचार्यों के काव्य-लक्षण**

काव्य-प्रकाशकार का काव्य लक्षण है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

(काव्य प्रकाश १, सूत्र १)

शुक्ल जी ने इस काव्य-लक्षण की आलोचना की है। उक्त लक्षण का हिन्दी रूपान्तर होगा—'दोष रहित, गुण सहित और अलंकृत कभी-कभी अनलंकृत भी शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं।' शुक्ल जी के मतानुसार दोषरहित विशेषण के कारण लक्षण में अव्याप्ति है, क्योंकि अनेक सदोष पद्य जो उत्तम काव्य में परिगणित हो सकते हैं, इसके अनुसार काव्य नहीं हो सकेंगे। उनकी दृष्टि में वस्तुतः दोष काव्य को केवल परिमित करता है, उसके तत्व का तिरस्कार नहीं करता। इसी प्रकार 'गुण सहित विशेषण असमीचीन है, क्योंकि गुण का सम्बन्ध रस से है, शब्द और अर्थ से नहीं जैसा कि लक्षणकार ने स्वयं स्वीकार किया है। इसी प्रकार शुक्ल जी लक्षण में अलंकार शब्द के उल्लेख को अनावश्यक कहते हैं, क्योंकि वह काव्य उत्कर्ष कारक है, स्वरूप-घटक नहीं।[२५] स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल को काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण मान्य नहीं है। यहाँ यह निर्दिष्ट करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि शुक्ल जी की काव्य की परिभाषा में ये दोष नहीं है। उसमें न तो दोष साहित्य का उल्लेख है, न तो गुण साहित्य का और न तो सालंकारता या निरलंकारता का ही। वस्तुत सचेत होने के ही कारण उन्होंने इन बातों का उल्लेख अपने काव्य-लक्षण में नहीं किया है।

ध्वनिकार का काव्य-लक्षण है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। शुक्ल जी के मतानुसार काव्य का यह लक्षण भी सदोष है। ध्वनि के अन्तर्गत अलंकार ध्वनि और वस्तु-ध्वनि का भी समावेश होने के कारण इसमें अतिव्याप्ति है।'[२६] आचार्य वामन का काव्य लक्षण है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस लक्षण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि 'रीति केवल संघटना है शरीर का अंगविन्यास है। इसलिये यह भी आत्मा नहीं हो सकती।'[२७]

वक्रोक्ति के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक के काव्य-लक्षण की चर्चा शुक्ल जी ने यहाँ नहीं की है। किन्तु इसके सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर उन्होंने अपना मत अभिव्यक्त किया है। आचार्य कुन्तक का काव्य लक्षण है—'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।' शुक्ल जी उक्ति वैचित्र्य को काव्य का नित्य लक्षण नहीं मानते। उनका कहना है कि उक्ति वैचित्र्य को काव्य का नित्य लक्षण मान लेने पर 'कोई वाक्य चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो यदि उक्तिवैचित्र्य शून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्ति वैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा।[२८]

शुक्ल जी ने उपर्युक्त सभी काव्य लक्षणों का खण्डन करने के अनन्तर रसवादी काव्य-लक्षणों का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में, जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है काव्य का सार या आत्मा रस है।'[२९] वे अग्निपुराण के कथन—वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्' से सहमत हैं।[३०] उन्होंने व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट के मत 'काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादि रूपे न कस्यचिद्विमतिः' को भी उद्धृत किया है।[३१] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तावित काव्य लक्षण 'वाक्यं

रसात्मकं काव्यम्' को वे युक्तियुक्त मानते हैं।[३२] पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उपस्थापित काव्य लक्षण' रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' पर भी वे विचार करना चाहते थे, किन्तु कर नहीं सके। अनुमान किया जा सकता है कि वे इस परिभाषा अथवा लक्षण के पक्ष में थे। उन्होंने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद नामक निबन्ध में प्रसंगवश इस रमणीयता की चर्चा की है। 'सुन्दर' और 'रमणीय' शब्दों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर संकेत करता जान पड़ता है और 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर।[३३] स्पष्ट है कि रमणीयता का सम्बन्ध वे हृदय से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में रमणीय का अभिप्राय है, जिसमें मन रमे।[४] अतः 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का अर्थ होगा, जिसमें मन रमे ऐसे अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। मन के रमने का अर्थ ही हुआ तल्लीनता अर्थात् रसानुभूति। अतः यह परिभाषा भी शब्दों के कुछ हेर-फेर के बावजूद तत्त्वतः 'वाक्यम् रसात्मकम्' से अभिन्न है, अतएव आचार्य शुक्ल को मान्य है।

काव्य में 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा है—'जगन्नाथपण्डितराज ने रस के स्थान पर' 'अर्थ की रमणीयता' ग्रहण की, पर रमणीयता भी रसात्मकता से सम्बद्ध है। मन का रमना किसी भाव में लीन होना ही है। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है।'[३५] अतः उपर्युक्त अनुमान की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

काव्य-आत्मा

शुक्ल जी के मतानुसार काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है।[३६] उनकी दृष्टि में रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या अलंकार आदि काव्य की आत्मा नहीं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' को आपत्तिजनक माना है। उनका कथन है कि 'रीति केवल संघटना है, शरीर का अंगविन्यास है। इसलिए यह भी आत्मा नहीं हो सकती।'[३७] इसी प्रकार उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति अथवा चमत्कार को भी काव्य की आत्मा या नित्य लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर भाव या मर्म-विकार की व्यंजना से शून्य होने पर भी मात्र उक्ति वैचित्र्य संयुक्त होने के कारण कोई भी वाक्य खासा काव्य कहला सकता है और अत्यन्त मर्मस्पर्शी होते हुए भी उक्ति वैचित्र्य शून्य होने के कारण कोई भी वाक्य काव्य के अन्तर्गत न हो सकेगा।[३८] ध्वनि को भी वे काव्य की आत्मा मानने में असंगति पाते हैं, क्योंकि उसके अन्तर्गत रसादिध्वनि के अतिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का भी समावेश रहता है।[३९] अलंकार उनकी दृष्टि के बाह्यस्वरूप हैं, उसकी आत्मा नहीं।[४०] निष्कर्ष यह कि उनकी दृष्टि में 'जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है काव्य का सार या आत्मा रस ही है।'[४१] विशेष विवेचन के लिए 'रस का स्वरूप' द्रष्टव्य है।

आचार्य शुक्ल ने प्रसंगवश 'काव्य' और 'काव्याभास' का अन्तर स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में 'सत्काव्य और असत्काव्य में—काव्य और काव्याभास में—यही

भीतरी या मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य-सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नकल करता है।[४२] यहाँ पर निर्दिष्ट अन्तर के आधार पर निश्चय ही काव्य और काव्याभास की पहिचान सफलतापूर्वक की जा सकती है। सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूति का तात्पर्य है 'साधारणीकरण' या 'रसात्मकता' रस को ही उन्होंने काव्यात्मा माना है अतः वही काव्यत्व की कसौटी या निकष ठहरता है। जिस वर्णन में उसका अभाव या अनुकरणमात्र होगा, निश्चय ही वह काव्यभास ही होगा, काव्य नहीं।

**काव्य-प्रयोजन**

आचार्य शुक्ल इस विचारणा से सहमत नहीं कि 'साहित्य का कोई लक्ष्यविशेष नहीं होता।'[४३] उनकी दृष्टि में 'काव्य कौतुक नहीं है। उनका उद्देश्य गम्भीर है।'[४४] उद्देश्य को लक्ष्य करके उन्होंने साहित्य की निम्न परिभाषा दी है—'साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है।'[४५] इस परिभाषा के अनुसार साहित्य के दो प्रयोजन ठहरते हैं—पहला मानव जीवन के स्वरूप की रक्षा और दूसरा बाह्य जगत् की सापेक्षता में मनुष्य के हृदय का विकास।

कविता की उन्होंने जो परिभाषा दी है, उसमें उसका प्रयोजन स्पष्टरूप से सन्निहित है। उसके अनुसार काव्य का लक्ष्य है—'बद्ध हृदय को मुक्त करना।'[४६] इसी प्रयोजन की वजह से उन्होंने काव्य-साधना को भाव-योग कहा और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा है।[४७] इस भाव-योग की साधना से नाना प्रयोजन सम्पन्न होते हैं, वे सभी काव्य-प्रयोजन के ही अन्तर्गत आते हैं। अतः स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल का त्याग,[४८] लोक-सामान्य भाव-भूमि की सम्प्राप्ति,[४९] जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार,[५०] शुद्ध अनुभूतियों का संचार[५१], आत्मसत्ता का लोकसत्ता में विलय,[५२] मनोविकारों का परिष्कार,[५३] शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह[५४] आदि सभी काव्य के प्रयोजन ठहरते हैं। यही बात उन्होंने अनेक स्थलों पर लगभग समान शब्दावली में कही है। इंदौर वाले भाषण में उन्होंने कहा है : 'कविता एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रासंगिक पुनरावृत्ति ही है, नवीनता नहीं। एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है कि—काव्य-योग की साधना से रागात्मिका वृत्ति का प्रसार होता है और रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के द्वारा विश्व के साथ जीवन का प्रकृत-सामंजस्य घटित हो जाता है। इसी सामंजस्य के आधार पर अपने मंगल और लोक-मंगल का संगम स्थापित होता है।[५५] इस प्रकार काव्य लक्ष्य व्यक्ति और लोक या समाज के अन्तर्विरोधों के उन्मूलन द्वारा सम्पूर्ण विश्वमंगल

की स्थापना सिद्ध होता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि काव्य के नाना प्रयोजनों में चरम अथवा अन्तिम प्रयोजन कौन है, जिसमें अन्य समस्त प्रयोजन अन्तर्भूत हैं। आचार्य शुक्ल के मतानुसार काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराना है।'[५६] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि काव्य का चरम लक्ष्य है—जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य और व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। 'रेखांकित उक्ति पर विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन का कोई ऐसा लक्ष्य नहीं जो काव्य का लक्ष्य न हो। इस प्रकार काव्य और जीवन के प्रयोजन में तादात्म्य हो जाता है। जीवन का अन्तिम प्रयोजन हृदय अथवा रागात्मिकावृत्ति के प्रसार द्वारा आत्मसत्ता को लोकसत्ता में विलय कर अपने मंगल और लोकमंगल के संगम की स्थापना करना है। अतः काव्य का भी अन्तिम लक्ष्य सम्पूर्ण विश्वमंगल की स्थापना ही सिद्ध होता है।

शुक्ल जी 'मनोरंजन' और 'आनन्द' को काव्य का मार्गस्थ लक्ष्य स्वीकार करते हैं किंतु वे उन्हें ही काव्य का अन्तिम गन्तव्यस्थल अथवा चरम लक्ष्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में 'आनन्द' अथवा काव्य के आस्वाद-पक्ष को ही काव्य का लक्ष्य मान बैठना उचित नहीं। 'आनन्द' को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानने वालों से उन्होंने अपना मतभेद इन शब्दों में व्यक्त किया है—'कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य-स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।'[५७] काव्य का उद्देश्य काव्य ही है 'या' कला का उद्देश्य कला ही है का भी सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नहीं। उनका अभिमत है कि इस 'वाद' के अनुसार कविता का क्षेत्र जीवन-क्षेत्र से पृथक् हो जाता है, अत यह मान्य नहीं हो सकता।'[५८]

काव्य के उपर्युक्त उद्देश्यों का निर्धारण शुक्ल जी ने अपने जीवन-दर्शन के ही आधार पर किया है। जिस प्रकार उनका जीवन-दर्शन सर्वथा मौलिक, अधिकांशतः प्रत्यक्ष अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित है, उसी प्रकार उनके काव्योद्देश्यों का निर्धारण भी अधिकांशतः प्रत्यक्ष अनुभव-जन्य ज्ञान पर निर्धारित है, अतः मौलिक है। परोक्ष संचित ज्ञान पर मूलतः आधारित होने के कारण वह अनुकृत नहीं कहा जा सकता है। किन्तु फिर भी उनका निर्धारण भारतीय और पाश्चात्य विचारकों की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी धारणाओं की सापेक्षता में ही हुआ है। चूंकि उन्होंने इन्हें पूरी तौर पर पचाकर अनुभूति के स्तर पर आत्मसात् कर लिया था, अतः उनकी अपनी अभिव्यक्ति में गुणात्मक स्तर पर इनमें परिवर्तन हो गया है। भारतीय और पाश्चात्य विचारणाओं की सापेक्षता में शुक्ल जी की विचारणा को देखने से यह बात और स्पष्ट हो सकेगी।

भारतीय काव्यशास्त्र की गम्भीर विचार-परम्परा में काव्यगत मनोरंजन का

साधन न होकर जीवन के परम पुरुषार्थों का साधनोपाय माना गया है। आचार्य भामह, रुद्रट, कुन्तक और विश्वनाथ आदि ने चतुर्वर्ग फल प्राप्ति को स्पष्ट शब्दों में काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है।

भामह—धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निषेवणं।[५१]

अर्थात् उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप चतुर्वर्ग फलप्राप्ति, कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) की उपलब्धि होती है।

रुद्रट—ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

अर्थात् रसिक लोग नीरस शास्त्रों से भय खाते हैं, अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। (रुद्रट-काव्यालंकार १२।१)

कुन्तक—धर्मादि साधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥१,३॥ (वक्रोति जीवित)

अर्थात् काव्यबंध (काव्य) उच्च कुल में समुत्पन्न (परिश्रमहीन और सुकुमार-स्वभाव राजकुमार आदि) के लिए हृदय को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली में कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है।

विश्वनाथ—चतुर्वर्गफल-प्राप्ति सुखादल्पधियामपि ॥१,२॥ (साहित्य दर्पण)

अर्थात् काव्य के द्वारा मन्द-बुद्धि भी सरल और रुचिकर विधि से चतुर्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं।

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी का मात्र मनोरंजन काव्य का लक्ष्य न मानना भारतीय काव्य शास्त्र के गम्भीर परम्परा-पालन की ही अगली कड़ी है और उसके (काव्य के) गम्भीर उद्देश्यों की खोज की प्रेरणा भी उन्हें वहीं से मिली है।

चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के अतिरिक्त व्यवहार-औचित्य का परिज्ञान अथवा लोकाचार की शिक्षा को भी काव्य का व्यावहारिक प्रयोजन भारतीय काव्यशास्त्रों में माना गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरत, कुन्तक, मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

भरत—लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति (१।११५)

अर्थात् नाट्य (या काव्य) लोकोपदेशकारी होता है (नाट्यशास्त्र)

कुन्तक—व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥१,४॥ (वक्रोक्ति जीवितम)

अर्थात् व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त, व्यवहार-चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है।

मम्मट—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥१,२॥ (काव्यप्रकाश)

अर्थात् काव्य यश की प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि

विपत्तियों का विनाश तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और कान्ता के समान मनभावन उपदेश देने के लिए प्रयोजनीय है।

मम्मट ने 'व्यवहारविदे' में व्यवहार-ज्ञान को स्पष्ट शब्दों में काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में लोकाचार की शिक्षा अथवा व्यवहारज्ञान को काव्य का प्रयोजन नहीं माना है। किन्तु विचार करने पर पता चलता है कि उनके 'भाव-परिष्कार' नामक काव्य-प्रयोजन में ही 'व्यवहारज्ञान' स्वतः समाविष्ट है। जीवन-दर्शन के विवेचन में यह सिद्ध किया गया है कि उनका 'भाव परिष्कार' 'कर्म-परिष्कार' का आधार है, क्योंकि भाव ही कर्म के प्रेरक हैं। भावों के परिष्कृत होने पर कर्म स्वतः परिष्कृत होंगे। परिष्कृत कर्म का अर्थ हुआ परिष्कृत व्यवहार। अतः व्यवहार-ज्ञान का प्रयोजन 'भाव-परिष्कार' के ही अन्तर्गत समाविष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में चतुर्वर्ग फलप्राप्ति अथवा लोक-व्यवहार-परिज्ञान को काव्य का अन्तिम या चरम लक्ष्य न मान कर 'आनन्द' को ही चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। अलंकारवादी, भामह, रीतिवादी वामन और वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी 'आनन्द' को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है, रसवादी एवं ध्वनिवादी आचार्यों के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता, उनका तो मूलाधार यही है।

भामह—प्रीति करोति कीर्तिं च साधु काव्य निषेवणम्।[६०]

अर्थात् उत्तम काव्यों का अनुशीलन प्रीति (आनन्द) एवं कीतिकर होता है।

वामन—'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्॥

(काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः १।१।५)

अर्थात् सुन्दर काव्य (कवि तथा पाठक दोनों की) प्रीति और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (आमुष्मिक दोनों प्रकार के) फल वाला होता है।

कुन्तक—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥१, ५॥

(वक्रोक्ति जीवितम्)

अर्थात् काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वालों (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है। स्पष्ट है आचार्य कुन्तक आनन्द को ही काव्य का परम लक्ष्य मानते हैं—उसका महत्त्व चतुर्वर्ग से भी अधिक है।

रस—ध्वनिवादी आचार्य मम्मट—

सकलप्रयोजनमौलिभूतं रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

(काव्यप्रकाश) १, २ की वृत्ति

अर्थात् रसास्वादन से उद्भूत अन्य ज्ञान रहित आनन्द सकल-प्रयोजन-मौलिभूत है।

आचार्य शुक्ल 'आनन्द' को काव्य का लक्ष्य मानते तो हैं, किन्तु मार्गस्थ लक्ष्य ही, वे उसे काव्य का अन्तिम गन्तव्यस्थल अथवा चरम लक्ष्य नहीं मानते। वे प्राचीन

भारतीय आचार्यों की सीमाओं को लाँघ जाते हैं और काव्य-प्रयोजन के क्षेत्र को विस्तृत कर देते हैं। उनकी दृष्टि में तो काव्य का अन्तिम लक्ष्य लोक अथवा विश्व-मंगल की स्थापना ही है। आनन्द नहीं। काव्य-प्रयोजन के क्षेत्र में शुक्ल जी की यह एक मौलिकता है। इस मौलिकता का कारण है उनकी जन अथवा लोकवादी जीवन-दृष्टि। डॉ० रामलाल सिंह का यह कथन कि उन्होंने (शुक्ल जी ने) काव्य-प्रयोजन का विवेचन अधिकांश मात्रा में सामाजिक दृष्टि से किया है, सही है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में यश और अर्थ (धन) को भी काव्य का प्रयोजन माना गया है, किन्तु शुक्ल जी ने इन्हें निर्दिष्ट नहीं किया है, उनकी विचारणा में यह एक गौरवमय अभाव है। इनका निर्देश न कर उन्होंने काव्य को गौरवान्वित एवं उदात्त बनाया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने भारतीय काव्यशास्त्र की गम्भीर परंपरा में मान्य काव्य-प्रयोजनों को ग्रहण करते हुए भी उन्हें परिमार्जित एवं परिवर्धित करके नवीन एवं मौलिक स्वरूप और स्तर प्रदान किया है। अतः काव्य-प्रयोजन संबन्धी शुक्ल जी की विवेचना प्राचीनता और परम्परानुमोदित होते हुए भी नवीन और मौलिक है। वस्तुतः कविता को भाव-योग के रूप में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने उसके उद्देश्यों का निर्धारण किया है।

### कविता की आवश्यकता

शुक्लजी की दृष्टि में मनुष्य के लिए कविता अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसीलिए संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में वह अवश्य पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। उनकी दृष्टि में इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मण्डल बाँधता चला आ रहा, जिसके भीतर बँधा-बँधा यह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य-जाति के साथ चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।[६१]

### कविता का कार्यपक्ष

काव्य-प्रयोजनों से मिलते-जुलते नाना कार्यों का उल्लेख शुक्ल जी ने यत्र-तत्र किया है, जिनसे कविता की उपयोगिता और महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—'हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है[६२]। शुक्ल जी के मतानुसार 'मनोभावों को समेटकर, हृदय को शेष सृष्टि से किनारे पर स्वार्थ की पशु-वृत्ति में लिप्त रहने से मनुष्य की

मनुष्यता विनष्ट हो जाती है, और उसका जीवन मरुस्थल की यात्रा बन जाता है। कविता ही उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करती हुई उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा बनने से बचाती है।'[६३]

अन्यत्र शुक्ल जी ने काव्य को हृदय-प्रसार का स्मारक स्तम्भ कहा है, जिसकी उत्तेजना से मनुष्य के जीवन में एक नया जीवन आ जाता है, वह सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर रसमग्न होने लगता है, कोई निष्ठुर कार्य उसे असह्य लगने लगता है और उसे जान पड़ता है कि उसका जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है। उनका कहना है कि कवि वाणी के प्रसाद से मनुष्य संसार के सुख-दुःख आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है।[६४]

डॉ० रामलाल सिंह ने लिखा है कि 'उनकी (शुक्ल जी की) दृष्टि में जिनका जीवन जानवरों जैसा नीच बन चुका है, जिनकी चेतना नष्ट हो चुकी है, जिनकी सहृदयता अस्त हो चुकी है; ऐसे हृदयहीन लोगों के लिए कविता की आवश्यकता नहीं। [६५] कहना न होगा कि यह बात बिल्कुल निराधार, शुक्ल जी के मत के विपरीत अतएव ग़लत है। शुक्ल जी की दृष्टि में वस्तुतः कविता ऐसे ही लोगों की दवा है। अतः वह उनके लिए परमावश्यक होती है। ऐसे अर्थपिशाच कृपण व्यक्ति की; जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्मभिमान आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुंह मोड़ लिया है, जो न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख पैसों का हिसाब-किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन-दुखियों को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है, न कोई अपमान सूचक बात सुन कर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है और जो लोमहर्षण अत्याचार की बात सुनकर मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहता है 'जाने दो, हमसे क्या मतलब, अपना काम देखें; दवा कविता ही है। ऐसे महा भयानक मानसिक रोग से अधमरे मनुष्य की दवा एकमात्र कविता है।[६६] अतः शुक्ल जी की दृष्टि में कविता ही विकृत से विकृत हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।[६७]

प्रेषणीयता की दृष्टि से शुक्ल जी के मतानुसार—'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त-भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concepts) लाना नहीं।'[६८] बिम्ब सदैव विशेष या व्यक्ति का ही होता है, सामान्य या जाति का नहीं, [६९] अतः काव्य का काम ठहरता है कल्पना में विशेष या व्यक्ति की मूर्त-भावना उपस्थित करना। स्पष्टता के निमित्त शुक्ल जी ने तर्क तथा विज्ञान के काम का भी उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में तर्क और विज्ञान का काम है—बुद्धि के समक्ष विचार लाना, अनेक व्यक्तियों के रूप गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन करना। यह सब तर्क और विज्ञान का काम है निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय

है ।[७०] व्यक्ति का यहाँ अर्थ Individual से है । शुक्ल जी ने यहाँ पर कला के बोधपक्ष को तर्क और विज्ञान के बोधपक्ष से पृथक् किया है और अपने मत की पुष्टि में अभि-व्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे को उद्धृत किया है ।[७१] इससे यह सिद्ध है कि उन्होंने सर्वत्र क्रोचे का विरोध नहीं किया है । ध्यातव्य है कि काव्य के प्रस्तुत कार्य का निरूपण प्रेषणीयता की दृष्टि से हुआ है अतः जितनी महत्ता काव्य में प्रेषणीयता की होगी उतना ही महत्त्व काव्य के काम कल्पना में बिम्ब या मूर्त भावना उपस्थित करने का होगा ।

**काव्य और प्रेषणीयता**

शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य के लिए प्रेषणीयता एक अनिवार्यता है जिसके अभाव में काव्य निरर्थक हो जाता है । उन्होंने लिखा है—'किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकती उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए ।'[७२] इससे काव्य में प्रेषणीयता के महत्त्व का प्रतिपादन होता है । (साधारणीकरण संबंधी विवेचना में प्रेषणीयता का प्रश्न निहित है ।)

**काव्य शक्ति**

कविता के कार्यपक्ष के विवेचन से उसकी शक्ति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है । उसका पुनरावर्तन अनावश्यक है, किन्तु एक स्थान पर शुक्ल जी ने काव्य-शक्ति की तुलना प्रशासन की शक्ति से की है जिसका उल्लेख आवश्यक है । उनके मतानुसार काव्य में प्रशासन की अपेक्षा कहीं अधिक विशिष्ट शक्ति होती है, क्योंकि 'शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है ।'[७३] 'उनके मूल या मर्म तक उनकी गति नहीं होती ।' 'इसके विपरीत कविता उनकी दृष्टि में भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखने वाली शक्ति है जो धर्म के क्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है जिके भीतर अपने और लोक-मंगल का संगम होता है ।'[७४]

यह तो अद्यावधिक मानवता के समूचे इतिहास से स्वयं सिद्ध है कि 'अमुक-अमुक कार्य करो, और अमुक-अमुक कार्य न करो' जैसी विधि-निषेध की व्यवस्था को शक्तिपूर्वक आरोपित करने वाले प्रशासन का सम्बन्ध मनुष्य जाति के हृदय से स्वभावतः नहीं हो पाता है, उसका पालन पर्याप्त सीमा तक रागात्मक प्रेरणा से नहीं, अपितु शासन की दण्ड-व्यवस्था की बाध्यता आदि के कारण होता है । अतः निस्सन्देह 'शासन 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' का बाहरी प्रेरक ही हो सकता है, हार्दिक नहीं । इसके विपरीत कविता की रागात्मक प्रेरणा-शक्ति के सम्बन्ध में तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता ।

एक अन्य स्थल पर उन्होंने काव्य को शक्ति समझाने वाले डंटन मत का समर्थन किया है । उनका मत है कि डंटन (Theodore Watts Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य (Poetry as energy) कहा है वह लोकमंगल या आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य के अन्तर्गत आता है, जिसमें लोक प्रवृत्ति

को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठकों के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है।[७५]

### काव्य का प्रादुर्भाव

शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ। इस अभिव्यक्ति के सम्मुख मनुष्य कहीं से प्रेमलुब्ध हुआ, कहीं दुखी हुआ, कहीं क्रुद्ध हुआ, कहीं डरा, कहीं विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक-दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलम्बनों की परख हुई और उनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ।'[७६]

शुक्ल जी का यह विवेचन बहुत स्पष्ट नहीं, फिर भी इसे अस्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस विवेचन से ऐसा लगता है कि शुक्ल जी काव्य के प्रादुर्भाव और काव्य-कला के प्रादुर्भाव में भेद करते हैं। काव्य और काव्य-कला दोनों का ही प्रादुर्भाव-जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु काव्य का प्रादुर्भाव बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने के उद्देश्य से नहीं हुआ होगा, अपितु व्यक्ति-विशेष की अतितीव्र एवं विशिष्ट अनुभूति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ होगा जैसा कि वाल्मीकि मुनि के उदाहरण से स्पष्ट है।[७७] रक्त से लिपटे क्रौंच और शोक से विह्वल क्रौंची को देखकर मुनि एकबारगी करुणा से व्याकुल, फिर रोष से उद्विग्न हो उठे और उनके मुंह से यह वाग्धारा फूट पड़ी :

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

निश्चय ही इस वाग्धारा के प्रस्फुरण के पीछे वाल्मीकि मुनि के मन में बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की (करुणा) अनुभूति जगाने के उद्देश्य की स्थिति नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार के स्वाभाविक प्रस्फुरणों के ही आधार पर कालांतर में काव्य-कला की प्रतिष्ठा हुई होगी—जब उसका सृजन सोद्देश्य और सजगता पूर्वक स्मृति और कल्पना आदि के सहारे होने लगा होगा, मात्र तीव्र अनुभूति की निरुद्देश्य स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं। शुक्ल जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि सामान्य आलम्बनों की परख और उनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला के रूप में काव्य-कला की प्रतिष्ठा हुई।[७८] इस प्रकार काव्य का प्रादुर्भाव काव्य-कला के प्रादुर्भाव के पूर्व सिद्ध होता है, और काव्य-कला का प्रादुर्भाव काव्य के प्रादुर्भाव पर समाधारित और उसका परवर्ती सिद्ध होता है। यह मान्यता पूर्णतया युक्तिसंगत भी है।

काव्य-प्रेरणा

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में इस अनन्त रूपात्मक जगत् के बीच की कवि के जीवन की विशिष्ट अनुभूतियाँ ही उसे काव्य-सृष्टि के लिए प्रेरित करती हैं। क्रौंच के वध पर महर्षि बाल्मीकि की करुणा-क्रोध की अनुभूति ही उनकी वाणीगत रसात्मक अभिव्यक्ति की मूल प्रेरक रही है।[७९] ध्यातव्य है कि जीवन की प्रत्येक अनुभूति काव्य की प्रेरक नहीं होती हैं, अपितु वही अनुभूति काव्य की प्रेरक होती है जो अनुभवकर्ता के हृदय को मुक्तावस्था तक पहुँचा देती है। इस जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को जब मनुष्य अपने हानि-लाभ आदि की संकीर्ण भावनाओं से पृथक् करके देखने से अपने-आपको भूल जाता है और उन्हीं में तन्मय हो जाता है तब उसके हृदय की यह अवस्था मुक्तावस्था कहलाती है। इस अवस्था को प्राप्त अनुभूति का शब्दगत प्रकाशन ही कविता है।[८०] जीवनगत विशिष्ट अनुभूति और उसकी वाणीगत अभिव्यक्ति में कालान्तर हो सकता है, यह आवश्यक नहीं कि दोनों अनन्तरित रूप से घटित हों। अनुभूतियाँ मनुष्य के अन्तःकरण की निवासिनी हो जाती हैं और जीवन में कभी भी स्मृतियाँ कल्पना आदि के संयोग से उनकी वाणीगत अभिव्यक्ति हो सकती है।[८१] शुक्ल जी की दृष्टि में 'कल्पना' भी यद्यपि काव्य की प्रेरक होती है, किन्तु उसे काव्य का मूल प्रेरक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष रूप विधानों पर ही आधारित होती है।[८२] अतः जगत और जीवन के अनेक रूपों और व्यापारों का प्रत्यक्ष अनुभव ही काव्य का मूल या प्रारम्भिक प्रेरक ठहरता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं वह भी काव्यानुभूति ही होती है।'[८३] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि काव्यात्मक (अर्थात् रसात्मक) स्तर तक पहुँची हुई प्रत्यक्ष अनुभूति ही काव्य की प्रेरक होती है। यही कारण है कि शुक्ल जी भावुकता को कवि के लिए अनिवार्य मानते हैं। भावुकता से आशय अनुभूति की तीव्रता से है। बिना भावुकता के काव्य-रचना सम्भव ही नहीं। उनका कथन है कि कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की उमंग से प्रेरित होकर काव्य-रचना करने में प्रवृत्त और उसके विधान में तत्पर होता है।[८४]

काव्य-हेतु

आचार्य शुक्ल ने काव्य-हेतु का पृथक् विवेचन नहीं किया। किन्तु प्रसंगवश इसकी चर्चा उन्होंने अनेक स्थलों पर की है। काव्य-हेतुओं के रूप में प्रतिभा-व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को स्वीकार करते हैं। इन तीनों आवश्यक मानते हुए भी वे कवि प्रतिभा को ही काव्य का मूल हेतु मानते हैं। प्रतिभा, उनकी दृष्टि में काव्य का अनिवार्य हेतु है।[८५] काव्य में भाषा की प्रगल्भता, रचना की सरसता और शब्दों के चुनाव एवं प्रयोग में स्वच्छन्दता को वे प्रतिभा (स्वाभाविक उन्नतबुद्धि) का ही परिणाम मानते हैं।[८६] उनका कथन है कि विशाल बुद्धि की कार्य प्रणाली भी विशाल होती है।[८७] 'प्रतिभा को काव्य का मूल एवं अनिवार्य हेतु मानते हुए भी वे उसे सर्वथा पूर्ण एवं

पर्याप्त नहीं मानते हैं । वे प्रतिभा के स्वाभाविक विकास के लिए परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता स्वीकार करते हैं, क्योंकि प्रतिभा भी त्रुटि कर सकती है ।[८८] परिश्रम द्वारा उस त्रुटि को संशोधित किया जा सकता है, जैसा कि अनेक कवि करते आए हैं। उन्होंने वरजिल (Virgil) का उदाहरण भी दिया है जिसने अपनी अति मनोहर रचना 'एनीड' (Aneid) को जला देना चाहा था, क्योंकि वह उसे सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए और अधिक परिश्रम आवश्यक समझता था ।[८९] इस प्रकार उनकी दृष्टि में परिश्रम अथवा अभ्यास भी काव्य का एक आवश्यक हेतु ठहरता है। ध्यातव्य यह है कि परिश्रम और अभ्यासपूर्ण लेखन-प्रणाली से उनका तात्पर्य उस दूषित लेखन-प्रणाली से नहीं हैं, जिसके अवलम्बी लेखक गुण विषय और भाव की ओर कुछ न ध्यान करके उपयुक्त या अनुपयुक्त शब्द रूपी भड़कीले रंग भरते चले जाते हैं ।[९०]

रसमीमांसा में उन्होंने बताया है कि कवि के लिए कलानिपुणता तथा सहृदयता दोनों का एक साथ होना आवश्यक है ।[९१] कला-नैपुण्य में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों तत्त्वों का समावेश स्पष्टतः प्रतीत होता है और सहृदयता कवि-प्रतिभा का ही एक अंश है। उन्होंने कहा है कि प्राचीन कवियों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों तथ्य रहते थे, किन्तु आजकल किसी में प्रतिभा है तो उसमें कला नैपुण्य (व्युत्पत्ति + अभ्यास) नहीं और यदि किसी में कला नैपुण्य (व्युत्पत्ति + अभ्यास) है तो उसमें प्रतिभा नहीं है ।[९२] उनका मत है कि प्रतिभा के अभाव में काव्य का ढाँचा मात्र खड़ा हो सकता है उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती है, इसी प्रकार कला-निपुणता के अभाव में गहरी अनुभूति और भावुक सहृदयता या प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी काव्य का यथार्थ ढाँचा खड़ा होना मुश्किल हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप बहुत से प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भी जन्म भर मूक कवि बने रह जाते हैं ।[९३] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वे प्रतिभा को मूल और अनिवार्य काव्य-हेतु मानते हुए भी व्युत्पत्ति और अभ्यास को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। प्रतिभा का प्रयोग प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान और अप्रस्तुत-रूप-विधान दोनों में ही होता है, किन्तु उनकी दृष्टि में प्रतिभा का पहला काम है भाव की प्रेरणा से जाग्रत नाना रूप संस्कारों के समन्वय द्वारा प्रस्तुत का मार्मिक रूप विधान करना, न कि विचित्र एवं साधारण अप्रस्तुत रूप-विधान करना ।[९४]

यह सिद्ध हो चुका है कि शुक्ल जी की दृष्टि में प्रतिभा काव्य का प्रधान हेतु और निपुणता गौण हेतु है। पाश्चात्य आचार्यों में अरस्तू और भारतीय आचार्यों में वामन और मंगल की भाँति वे निपुणता को काव्य का प्रधान हेतु नहीं स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने निपुणता को ही काव्य का मुख्य हेतु माना है ।[९५] वामन ने प्रतिभान को कवित्व का बीज मानते हुए भी उसे 'लोक' और 'शास्त्र' के उपरान्त 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गौण स्थान दिया है ।[९६] आचार्य मंगल ने निपुणता या व्युत्पत्ति को ही काव्य का मूल हेतु माना है, उनका निश्चित मत है कि व्युत्पत्ति कवि की अशक्ति का संवरण कर सकती है।

'कवे : संव्रियते शक्तिर्व्युत्पाया काव्यवर्त्मनि' ॥

ध्यातव्य यह है कि 'काव्य का मूल हेतु निपुणता है' का सिद्धान्त न तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि सिद्धान्त है और न भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र का ही। यूरोप के (अरस्तू के) परवर्ती मनीषियों ने इसको ग्रहण नहीं किया। होरेस और उनके अनुयायी नव्यशास्त्रवादियों को छोड़ अन्य सभी काव्य चिन्तकों ने प्रतिभा को ही प्राथमिकता दी।[९७] भारतीय मनीषियों में दण्डी से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रतिभा को ही मूल हेतु माना है, निपुणता और अभ्यास तो उसके पोषक हैं। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि काव्य हेतुओं के आपेक्षिक महत्त्व के विषय में भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत यही रहा है कि 'कवि की शक्ति (प्रतिभा) अव्युत्पत्तिजन्य दोष का संवरण कर सकती है।[९८]

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः'[९९] (आनन्दवर्धन)

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी का काव्य हेतु सम्बन्धी सिद्धान्त भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि सिद्धान्त ही है। प्रतिभा को प्रधान और व्युत्पत्ति को गौण काव्य-हेतु मानना इसका स्पष्ट प्रमाण है।

### प्रतिभा का स्वरूप

शुक्ल जी ने प्रतिभा का पृथक् और स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने अनेक स्थलों पर 'प्रतिभा' और 'कल्पना' शब्दों का प्रयोग समानार्थक शब्दों के रूप में किया है। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वे 'प्रतिभा' और 'कल्पना' को लगभग एक-दूसरे का पर्याय मानते हैं। किन्तु अधिकांशतया उन्होंने 'कल्पना' शब्द का ही प्रयोग किया है और उसका विस्तृत विवेचन भी किया है। 'काव्य में प्रतिभा या कल्पना का पहला काम'[१००] और 'अप्रस्तुत रूप विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग'[१०१] आदि वाक्य-खण्डों से यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है कि वे प्रतिभा और कल्पना को लगभग एक दूसरे का पर्याय मानते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा मानने का औचित्य क्या है?

प्रतिभा में मूल शब्द है 'भा' जिसका अर्थ है प्रकाश, चमक या झलक। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'प्रति उपसर्ग के संयोग से प्रतिभा से अभिप्राय ऐसी ज्योति अथवा प्रकाश विशेष का हो जाता है, जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रतिभासित हो उठे। संस्कृत शास्त्र में प्रतिभा की विभिन्न परिभाषाओं में यह अर्थ किसी न किसी रूप में निहित मिलता है।'[१०२] भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त के मतानुसार प्रतिभा प्रज्ञा का एक विशेष प्रकार है :

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। (भट्टतौत)

अर्थात् नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है।

प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा (अभिनवगुप्त)

अर्थात् अपूर्व रूपों की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है।

इसी प्रकार 'कल्पना' शब्द संस्कृत की 'क्लृप' धातु से बना है जिसका अर्थ है निर्माण

या सृष्टि करना। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में कल्पना की व्याख्या करते हुए कहा है—'परिज्ञान के आधार पर स्मरण कोष में संवेदन संचित होते रहते हैं। इसके अनन्तर मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण द्वारा संचित संवेदन विभक्त कर और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर नूतन अस्तित्त्व का निर्माण कर लेते हैं। मन की इसी क्रिया को कल्पना कहते हैं।[१०३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रतिभा' और 'कल्पना' दोनों ही समान धर्म वाली सिद्ध होती हैं। दोनों ही का धर्म है नूतन निर्माण। अतः वे वस्तुतः दो नहीं, एक हैं। एक ही मन की क्रिया के दो नाम हैं। श्री नरेश वंशल का मत है कि भारतीय काव्य-मीमांसा में 'वस्तुतः प्रतिभा और कल्पना लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं, यद्यपि प्रतिभा की सीमाएँ कल्पना की अपेक्षा व्यापक हैं।'[१०४] प्रो० वंशल का यह मत सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। शुक्ल जी के विवेचन से भी स्पष्ट होता है—कि वे कवि-प्रतिभा के अन्तर्गत कल्पना के साथ ही साथ सहृदयता अथवा भावुकता दोनों को समाविष्ट करते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार कल्पना की क्रिया भावुकता पर आधारित और उसी के अनुरूप होती है, भावुकता ही कल्पना को प्रेरित करती है और दोनों ही काव्य के लिए अनिवार्य होते हैं।[१०५]

भारतीय काव्यशास्त्र में कवि-प्रतिभा के विवेचन में प्रतिभा के अन्तर्गत कल्पना और भावुकता को समाविष्ट भी किया गया है। महिमभट्ट ने लिखा है—

रसानुगुणशब्दार्थचिंतास्तमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभाकवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥[१०६]

अर्थात् 'रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्तना में लीन एकाग्रचित कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्बुद्ध होती है, तब वह प्रतिभा कहलाती है। वही भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है—उसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों का साक्षात्कार करता है।' प्रतिभा के इस विवेचन में भावुकता और कल्पना दोनों का स्पष्ट समावेश है।

अंग्रेजी में कल्पना शब्द का पर्याय है 'इमैजिनेशन (Imagination) जिसका निर्माण इमेज (Image) से हुआ है और जिसका अर्थ है मन में धारण करना। लगभग यही बात आचार्य शुक्ल ने भी कही है। उनकी दृष्टि में 'मानसिक रूपविधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।'[१०७] डॉ० नगेन्द्र का मत है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में जिसे कवि-प्रतिभा कहा गया है, वही पाश्चात्य काव्य-विचारणा में कल्पना के प्रसंग में विवेचित है।[१०८] पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में कालरिज और रिचर्ड्स ने कल्पना की विशद विवेचना की है। उनके मतानुसार अस्त व्यस्त ऐन्द्रिय संवेदनों अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिबिम्बों को समन्वित कर पूर्ण बिम्ब रूपों में ढालना कल्पना का मुख्य कर्तव्य कर्म है।[१०९] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी काव्य-विचारणा के अनुसार भी कल्पना

का वही स्वरूप ठहरता है, जो भारतीय काव्य विचारणा में प्रतिभा का है। अतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल का 'प्रतिभा' और 'कल्पना' शब्दों को लगभग समान अर्थ में प्रयुक्त करना सर्वथा उचित और तर्कसंगत है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि शुक्ल जी कवि-प्रतिभा के अन्तर्गत भावुकता या सहृदयता और कल्पना दोनों को ही समाविष्ट करते हैं। उन्होंने भावुकता और कल्पना दोनों का सविस्तर विवेचन किया है।

काव्य में भाव और कल्पना

शुक्ल जी की दृष्टि में कवि के लिए 'भावुकता' और 'कल्पना' दोनों ही अनिवार्य हैं। उनका कथन है कि 'भावुक जब कल्पना सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है'[११०] दोनों गुणों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी वे कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता को ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में कल्पना उसकी (भावुकता की) सहयोगिनी है। किन्तु फिर भी वह ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। अतः भावुकता की भाँति कल्पना भी कवि के लिए अनिवार्य है।

भावुकता और कल्पना के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है। इस प्रकार भावुकता कल्पना की प्रेरिका सिद्ध होती है। किन्तु कल्पना भावुकता की सहयोगिनी है, प्रेरिका नहीं। शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि काव्य कल्पना की क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप-विधान में प्रवृत्त करता है।[१११] उनकी दृष्टि में भावुकता भी सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है।'[११२]

शुक्ल जी का मत है कि 'रस-काल के भीतर भाव और कल्पना का युगपद अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।'[११३] अतः काव्य में इनमें से कौन प्रधान है, इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता है। उनका कथन है कि श्रोता या पाठक की दृष्टि से विचार करने पर उनमें सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम किन्तु कवि की दृष्टि से विचार करने पर कवि कर्म में कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है।[११४] कवि-कर्म में कल्पना की प्रधानता के कारण काव्य हेतु के विवेचन के अवसर पर कल्पना का विस्तृत विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में एक विशेष प्रकार की कल्पना एक मनुष्य-विशेष की निज की और स्वाभाविक सम्पत्ति होती है।[११५] इसका यह आशय नहीं कि दो व्यक्ति एक प्रकार की कल्पना कर ही नहीं सकते। वस्तुतः कल्पना व्यक्ति की बोली की ही भाँति निराली होती है। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित हो सकता है, किन्तु फिर भी उसका रूप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के उच्चारण में निराला ही होगा।

उसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक प्रकार की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु फिर भी उनकी कल्पनाएँ एक दूसरी से निराली ही होंगी।

शुक्ल जी का मत है कि 'कल्पना की सारी रूप-सामग्री बाह्य जगत की ही होती है। कल्पना उसकी केवल तरह-तरह की योजना किया करती है + + + यदि कोई मनुष्य जन्म से ही एक घर में बन्द रखा जाय, तो उसकी कल्पना में दीवारों और खम्भों के सिवा और कुछ नहीं आ सकता।'[११६] अतः उनकी दृष्टि में बाह्य गोचर जगत् ही कल्पना का स्रोत ठहरता है।

कवि कल्पना के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है कि 'किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है या दिमागी कसरत, सच्चे कवि की कल्पना नहीं।'[११७] स्पष्ट है कि शुक्ल जी सच्ची कवि-कल्पना के लिए भावोद्रेक से उसका सम्बन्ध अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्यमीमांसक[११८] ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया है 'कल्पना आनन्द है।'[११९]

शुक्ल जी की दृष्टि में भावानुरूपता ही कल्पना की कसौटी है। साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार करते हैं वह भी भावानुरूप होने पर ही उचित कहला सकता है। 'किसी निष्ठुर कर्म करने वाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है, तो यह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है, क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलम्बन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं।'[१२०] काव्य के सम्बन्ध में भी उनका मत है कि 'वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाये गये हैं उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को संभालने वाले या बढ़ाने वाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिए कुतूहल उत्पन्न करने के लिए जबर्दस्ती पकड़कर लाये गये हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिये कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय प्रेरित हुए।'[१२१]

शुक्ल जी की दृष्टि में 'जिसे निर्माण करने वाली सृष्टि खड़ी करने वाली कल्पना कहते हैं—उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिए कोई अप्रस्तुत वस्तु जो कि प्रायः कवि-परम्परा से प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक

वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है।[122]

शुक्ल जी की दृष्टि में पौराणिक रूढ़ियाँ काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत नहीं आतीं। उन्होंने लिखा है कि 'इस प्रकार की ( अतिरंजित ) कुछ रूप योजनाएँ प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक ( माइथालॉजिकल हो गई हैं जैसे सुमेरु पर्वत, सूर्यचन्द्र के पहिए वाला रथ, समुद्र-मन्थन, समुद्रलंघन, सिर पर पहाड़ लाद कर आकाश मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नहीं लेंगे।'[123]

कल्पना का प्रयोग

शुक्ल जी के मतानुसार काव्य वस्तु का सारा रूप-विधान इसी की क्रिया से होता है।[124] सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है अतः अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है, वह भी कल्पना द्वारा।[125] वचनों द्वारा भाव व्यंजना के क्षेत्र में भी कल्पना को पूरी स्वच्छन्दता रहती है।[126] मात्र प्रस्तुत की योजना में नहीं, अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना ही द्वारा होती है।[127] इस प्रकार कल्पना का प्रयोग-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक ठहरता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूप-विधानों में कल्पना का प्रयोग होता है। उन्होंने लिखा है—'जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी।'[128] किन्तु काव्य में रस के प्राधान्य के कारण उनका मत है कि उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान होता है।[129] निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत रूप-विधान ही कल्पना के प्रयोग का प्रमुख क्षेत्र होता है, अप्रस्तुत रूप-विधान गौण। प्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत कल्पना का 'सबसे बड़ा प्रधान कार्य क्षेत्र विभावन व्यापार होता है, क्योंकि विभावन व्यापार द्वारा ही रस का आधार खड़ा होता है।[130]

विभावन-व्यापार के क्षेत्र में भी कल्पना बिना पर के उड़ान नहीं भरती, वरन् अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलती है। वह ऐसे स्वरूप खड़े करती है जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे।[131] शुक्ल जी कल्पना द्वारा भावों के प्रकृत आधार या विषय का पूर्ण और यथा तथ्य प्रत्यक्षीकरण कराना ही कवि का प्रथम और सर्वाधिक आवश्यक कार्य मानते हैं।[132] यद्यपि शुक्ल जी अप्रस्तुत रूप-विधान को भी कल्पना के प्रयोग का क्षेत्र मानते हैं, किन्तु वे इस धारणा का खण्डन करते हैं कि कल्पना का प्रयोग मात्र अप्रस्तुत रूप विधान की सामग्री एकत्र करने में ही होना चाहिए। उन्होंने इस धारणा को भी असंगत सिद्ध किया है। जिसके अनुसार काव्य में प्रतिभा या कल्पना का काम केवल ढूंढ़-ढूंढ़ कर, या अपनी अन्तरात्मा में से निकाल-निकाल कर, तरह-तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है।[133] प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान में ही कल्पना का प्रयोग उन्हें मान्य नहीं।[134] क्योंकि यह तो अलंकारवाद

ही हो जायगा, जिसका नाम और रूप थोड़ा बदला हुआ होगा। फिर भी अलंकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना काम करती है। 'जहाँ वस्तु गुण या क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टान्त, अर्थान्तर न्यास और अन्योक्ति का।'[१३५] उनका स्पष्ट मत है कि अप्रस्तुत की योजना 'यदि भाव के संकेत पर होगी, सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता, कांति, दीप्ति इत्यादि की भावना में वृद्धि करने वाली होगी, तब तो वह काव्य के प्रयोजन की होगी, यदि केवल रंग, आकृति, छोटाई आदि का ही हिसाब-किताब बैठाकर की जायगी तो निष्फल ही नहीं, बाधक भी होगी।'[१३६]

शुक्ल जी के कथनानुसार 'आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में 'कल्पना' शब्द से अधिकतर अप्रस्तुत विधायिनी कल्पना ही समझी जाती है।'[१३७] कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी दृष्टि में यह मत एकांगी और अनुचित है।

भावानुभूति के लिए विषय-बोध अनिवार्य होता है। काव्य में विषय-विधान कल्पना द्वारा सम्पन्न होता है, अतः कल्पना साधन-स्वरूपा है, साध्य नहीं। शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'यह ( कल्पना ) काव्य का अनिवार्य साधन है, पर है साधन ही, साध्य नहीं।'[१३८] उन्होंने लिखा है कि 'जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।'[१३९] अतः शुक्ल जी की दृष्टि में कल्पना के बिना भाव प्रवर्तन सम्भव ही नहीं। यहाँ उन्होंने 'भावना' और कल्पना को पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। उनका स्पष्ट मत है कि साहित्य में जिस क्रिया या शक्ति को 'भावना' शब्द से अभिहित किया जाता है, उसी को आजकल के लोग कल्पना कहते हैं।[१४०]

उन्होंने कल्पना को उपासना के समकक्ष बतलाया है।[१४१] उनका कथन है कि 'जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है।'[१४२] कल्पना को उपासना के समकक्ष मानना कवि और पाठक दोनों की ही दृष्टियों से युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि कवि भी कल्पना के माध्यम से अपने आलम्बन का रूप खड़ा कर इसके सामीप्य का अनुभव करता है और सहृदय या पाठक भी कल्पना के द्वारा अपनी सत्ता को कवि की सत्ता के पास ले आता है या यह कह सकते हैं कि पाठक कवि-जगत् के अति समीप आ जाता है। अतः डॉ० जयचन्द्र राय का यह मत कि 'उसे (कल्पना को) भावना या उपासना के समकक्ष रखना ठीक नहीं जान पड़ता।'[१४३] स्वयं ठीक नहीं जान पड़ता।

शुक्ल जी ने कल्पना को काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष कहा है, जिसका विधान भारतीय काव्य-विचारणा में रसवादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है।[१४४] उन्होंने लिखा है कि 'किसी प्रसंग के अन्तर्गत कैसा हो विचित्र मूर्ति-विधान हो (कल्पना के द्वारा लाया हुआ) पर यदि उसमें उपयुक्त भाव की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के

अन्तर्गत न होगा।'[१४५] अतः सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। उनके मतानुसार 'काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना सहयोगिनी।'[१४६]

शुक्ल जी के मतानुसार कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक।[१४७] अन्यत्र उन्होंने 'स्मृत्याभास' नाम की एक अन्य कल्पना का उल्लेख किया है जो अतीत की कल्पना होती है, जिसका आधार आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा शुद्ध अनुमान। उनका कथन है कि 'अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप ग्रहण करती है।'[१४८] उनकी दृष्टि में ऐसी कल्पना सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है। अतः अत्यधिक मार्मिक होती है।[१४९]

भारत के साहित्य-चिन्तकों ने 'कल्पना' पर पृथक् एवं स्वतंत्र विचार नहीं किया है। पश्चिम के ही विद्वानों ने कल्पना पर स्वतंत्र रूप से विस्तारपूर्वक विचार किया है। कल्पना का विशद् विवेचन करने वालों में प्रमुख हैं कालरिज और रिचर्ड्स। अतः इन्हीं के कल्पना-विवेचन की सापेक्षता में शुक्ल जी के कल्पना-विवेचन की समीक्षा की जा सकती है।

कालरिज ने लिखा है—'इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म संयम का दुर्दम तथा गंभीर भावुकता के साथ।.... इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ़ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।'[१५०] कालरिज के मतानुसार दृश्य जगत् और कवि की अपनी इकाई का समन्वय, जिसे आचार्य शुक्ल ने हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा कहा है, कल्पना द्वारा ही सम्भव होता है। उनका कहना है कि 'कल्पना समष्टि मानस की प्रतिनिधि है। व्यष्टि मानस अर्थात् कवि का अन्तःकरण इसी समष्टि मानस को अपने भीतर समेटता है। इस प्रकार कवि की कल्पना में विषय अर्थात् बाह्य जगत् और विषयी अर्थात् कवि का समाहार हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल का मत भी शब्दों के हेर-फेर के बावजूद तत्त्वतः यही है। उनका 'कल्पना' को 'उपासना' कहने का वास्तविक तात्पर्य यही है। उपासना द्वारा ही भेद में अभेद, अनेकता में एकता, दूरी में समीपता की स्थापना होती है, साथ ही भक्त और आराध्य अथवा कवि-हृदय और बाह्य विषय का एकीकरण अथवा समाहार सम्भव होता है। कालरिज के उक्त विवेचन के अनुसार 'कल्पना' दृश्य जगत् के नाना रूपों का उद्घाटन करने वाली तथा व्यष्टि मानस में

अनेक रूपात्मक जगत् का विलय करने वाली शक्ति ठहरती है। कल्पना के ये दोनों ही रूप आचार्य शुक्ल के कल्पना-विवेचन में स्पष्ट रूप से समाहित हैं।

प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना की ६ स्थितियाँ बताई हैं—

(१) 'दृश्यगत प्रतिभा को उत्पन्न करना अर्थात् प्रज्ञाचक्षुओं के समक्ष लाना'[१५१] कल्पना की प्रथम एवं साधारणतम स्थिति है।

(२) कल्पना की दूसरी स्थिति है 'अलंकार अथवा अप्रस्तुत विधान में उसका प्रयोग'[१५२] जो प्रमुखतः साम्य भावना पर आधारित होता है।

(३) कल्पना की तीसरी स्थिति है 'पाठक की ग्रहण शक्ति के अर्थ में उसका प्रयोग।'[१५३]

(४) कल्पना की चौथी स्थिति है 'आविष्कार के अर्थ में उसका प्रयोग।'[१५४]

(५) कल्पना की पाँचवीं स्थिति है 'रिक्त स्थानों की पूर्तिकर्त्री के रूप में।'[१५५] इसके अनुसार लुप्त पर-सम्बन्धों का स्थापन भी उसका एक कार्य है।

(६) कल्पना की छठीं स्थिति 'सृजनात्मक रूप में है।'[१५६] इसे ही कालरिज ने समन्वय और जादू की शक्ति कहा है और परस्पर विरोधी अथवा असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय इसका गुण बताया है। प्रो० रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य में कल्पना का अन्तिम और सशक्त प्रयोग इसी सर्जनात्मक रूप में ही होता है।

आचार्य शुक्ल के कल्पना-विवेचन में कल्पना की इन सभी स्थितियों का स्पष्ट उल्लेख यत्र-तत्र प्रसंगवश हुआ है, यद्यपि वह रिचर्ड्स के विवेचन की भाँति क्रमबद्ध अथवा सुशृङ्खलित नहीं है। आचार्य शुक्ल की कल्पना सम्बन्धी दृष्टि पाश्चात्य विचारणा पर आधृत एवं पर्याप्त सीमा तक श्री कालरिज एडिसन और रिचर्ड्स के कल्पना-विवेचन से प्रभावित है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उन्होंने 'कल्पना' शब्द का ही अधिक प्रयोग अपने काव्य विवेचन में प्रतिभा के स्थान पर किया है जब कि भारतीय काव्य-विचारणा का प्रतीक एवं प्रतिनिधि शब्द इस प्रबन्ध में प्रतिभा ही है कल्पना नहीं। चौथी स्थिति के अतिरिक्त उन्होंने उक्त सभी स्थितियों में काव्य में कल्पना के प्रयोग को स्थान दिया है। चौथी स्थिति में कल्पना आविष्कार के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। काव्य में इसका प्रयोग अद्भुत दृश्यों, असंभावित प्रसंगों एवं विचित्र चरित्रों के सृजन में होता है। शुक्ल जी इसे उचित नहीं समझते, क्योंकि उनकी दृष्टि में काव्य का उद्देश्य मात्र मनोरंजन अथवा चमत्कार-विधान नहीं। अपितु भावानुभूति या रसानुभूति और भेद में अभेद की स्थापना है।[१५७] वे असाधारणीकरण नहीं, साधारणीकरण पर बल देते हैं।[१५८] उनका मत है कि भारतीय वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही है और पाश्चात्य वाणी, इसके विपरीत झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।[१५९] वे भारतीय दृष्टि का समर्थन करते हैं। वे काव्य-क्षेत्र को 'नकली हृदयों' का कारखाना नहीं बनाना चाहते, इसी लिए वे काव्य में अद्भुत दृश्यों, असंभा-

वित प्रसंगों एवं विचित्र चरित्रों के सृजन में कल्पना की बाजीगरी पसंद नहीं करते। उनकी कल्पना का आधार लौकिक है, दैवी और अलौकिक नहीं। उनका कथन है कि संसार-सागर की रूप-तरंगों से कल्पना का निर्माण होता है।[१६०] वे क्रोचे के इस मत से सहमत नहीं, विकल्पना में आए हुए रूप आध्यात्मिक जगत् के होते हैं बाह्य जगत् से प्राप्त नहीं होते। उनका कहना है कि 'उक्त प्रवाद को सुनकर एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आए हुए रूप बाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं है, खाश आत्मा से निकले हुए हैं तो उनकी उद्भावना जन्मान्धों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँख वालों को।[१६१]

**काव्य और बुद्धि**

आचार्य शुक्ल ने काव्य के लिए बुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार की है, क्योंकि ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन बुद्धि ही है, हृदय नहीं। बुद्धि के ही द्वारा नाना रूपात्मक जगत् का किसी सीमा तक ज्ञान होता है, कल्पना के द्वारा नहीं, कल्पना तो पूरी तरह पूर्वज्ञान पर ही निर्भर रहती है। बुद्धि के बिना ज्ञान सम्भव नहीं और ज्ञान के अभाव में भाव प्रसार संभव नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—'भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अत यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलती है। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।[१६२] अतः उनका मत है कि यदि बुद्धि द्वारा नए-नए रूपों और विषयों का ज्ञान न हो तो भावों के नए आलम्बन भी नहीं खड़े हो सकते। उनका कहना है कि बुद्धि के विस्तार के साथ-साथ कवि को हृदय का विस्तार बढ़ाना चाहिए। वे विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण कवि का एक प्रमुख कार्य समझते हैं।[१६३]

काव्य में बुद्धि की अनिवार्यता केवल कवि की ही दृष्टि से नहीं वरन् पाठक की दृष्टि से भी उन्हें मान्य है। उनकी दृष्टि में कवि और पाठक दोनों के लिए बुद्धि का आश्रय अपेक्षित है। उन्होने कवि और पाठक दोनों में रचना और भावानुभव के के समय उसका अस्तित्व माना है। उन्होंने लिखा है : उस भाव की अनुभूति के साथ-साथ आलंबन का बोध या ज्ञान बना रहता है।[१६४] वस्तुतः शुक्ल जी बुद्धि और हृदय, ज्ञान और भाव के सामंजस्य के पक्षपाती हैं। वे बुद्धि और हृदय दोनों में सहयोग चाहते हैं, विरोध नहीं। वे एक दूसरे के कार्य में बाधक न हों, हस्तक्षेप न करें।[१६५] उनका मत है कि बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा विशेष मनन और चिन्तन द्वारा, जगत् के ऐसे अनेक तथ्यों का निरूपण करती है जो हमारी बाह्य इन्द्रियों तथा सामान्य स्थूल बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं होते और कवि की प्रतिभा उन्हें गोचर और मार्मिक रूप से सामने रखती है।[१६६] गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध तथ्यों को लेकर ही कल्पना मूर्ति-विधान करने में और हृदय भावानुभूति में लीन होता है।[१६७]

शुक्ल जी ने काव्य में योग्य और उपपन्न अर्थ को आवश्यक माना है। 'योग्य

और उपपन्न अर्थ' का अर्थ है— बुद्धिसम्मत अर्थ। उनकी दृष्टि में यदि किसी उक्ति में कोई बुद्धिसम्मत अर्थ नहीं होगा तो उसमें काव्यत्व नहीं माना जायगा, चाहे चमत्कार की मात्रा उसमें कितनी ही अधिक क्यों न हो और कल्पना की उड़ान कितनी ही ऊँची क्यों न हो।[१६८] बुद्धि का काव्य में क्या स्थान है, यह अर्थ सम्बन्धी इस धारणा से स्पष्ट है। यह ध्यातव्य है कि यद्यपि बुद्धिसम्मत अर्थ काव्य नहीं, किन्तु 'काव्य को धारण करने वाला सत्य है जिसकी देख रेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है,[१६९] और जिसके अभाव में काव्य की अस्तिता ही संभव नहीं।

शुक्ल जी अनातोले फ्रांस (Anatole France) मि० हाउसमन (Housman), टी० एस० इलियट (T. S. Eliot), बरनर्डशा (Bernard Shaw) और ई० ई० कमिंग्ज (E. E. Cummings) आदि पाश्चात्य विचारकों की भाँति बुद्धि के विरोधी नहीं हैं। वे योरप के साहित्य-क्षेत्र में कुछ दिनों पूर्व अनातोले फ्रांस के नेतृत्व में चले 'बुद्धि के साथ युद्ध' के विरुद्ध हैं। इन विचारकों का मत है कि—

एकमात्र बुद्धि के कारण ही अच्छे काव्य नहीं बन पा रहे हैं। और बुद्धि के प्राचुर्य के कारण ही प्रतिभा और भावना के वे सभी रास्ते, जिनसे कविता का स्रोत बहा करता था, अवरुद्ध हो गए हैं। बरनर्डशा का कहना है कि बुद्धि उत्पादिका या क्रियात्मिका नहीं, केवल निश्चयात्मिका है। अतः क्रियात्मिकता वृत्ति का सहारा लेना चाहिए।[१७०] कमिंग्ज साहब ने तो काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल ही देना चाहा।[१७१] कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी इन सभी धारणाओं के घोर विरोधी हैं। पश्चिम में काव्य में बुद्धि विरोध का कारण शुक्ल जी ने काव्यानुभूति संबंधी उसकी संकुचित और बालोचित धारणा को बताया है, जिसके अनुसार वह (काव्यानुभूति) 'विस्मय' और 'कुतूहल' के रूप में समझी जाती है। भारतीय काव्य-विचारणा के अनुसार काव्यानुभूति 'विस्मय' और 'कुतूहल' से भिन्न और उत्कृष्ट कोटि की मानी गई है, अतः उसके अनुसार काव्य में बुद्धि विरोध की संभावना नहीं। शुक्ल जी इस मत से भी सहमत नहीं कि बौद्धिकता अथवा सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास होता चला जायगा, इसके विपरीत उनका मत है कि बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता जायगा, और कविता की आवश्यकता भी बढ़ती ही जायगी।[१७२]

### काव्य-सृजन की प्रक्रिया

यद्यपि आचार्य शुक्ल ने पृथक् और स्पष्टरूप से कहीं काव्य-सृजन की प्रक्रिया का विवेचन नहीं किया है, किन्तु फिर भी उनके लेखों में कतिपय स्थल ऐसे हैं जिनसे काव्य-सृजन की प्रक्रिया की व्यंजना होती है। अपने 'साहित्य' शीर्षक प्रारम्भिक निबन्ध में उन्होंने लिखा है—'कल्पना और विचार उसके (कवि या लेखक के) अन्तःकरण के निवासी हैं जो शब्दों के रूप में परिवर्तित होकर, जैसे भाप जल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसके मुख से निकल पड़ते हैं और उसके चित्त को एक तरह से

हलका कर देते हैं। उसके चित्त की अवस्था और प्रवृत्ति, उसका आन्तरिक स्वभाव सौन्दर्य तथा उसके विवेचन की सूक्ष्मता और शक्ति इत्यादि उसकी भाषा में प्रतिबिंबित हो जाते हैं। केवल शब्द ही नहीं, बल्कि उसके छन्द, अनुप्रास, समास इत्यादि भी उसके चित्त के उद्वेग से उत्पन्न होते हैं।[१७३]

विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि यहाँ 'चित्त का उद्वेग' प्रेरक रूप में विद्यमान है। इसी के कारण कवि के अन्तःकरण के निवासी भाव, विचार और कल्पना आदि तत्त्व उसके चित्त की अवस्था, प्रवृत्ति, स्वभाव-सौन्दर्य, सूक्ष्मता और शक्ति आदि के साथ समन्वित होकर गुणात्मक रूप में परिवर्तित होकर (जैसे भाप जल में बदल कर) उसके मुख से शब्दों के रूप में निकल पड़ते हैं अर्थात् काव्य का रूप धारण कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप उसका चित्त हलका हो जाता है। चित्त के हलका होने से तात्पर्य काव्य-सर्जना के उपरान्त तज्जनित कवि के मन की विशदता से है जो मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है। कहना न होगा कि शुक्ल जी का यह मत पाश्चात्य आचार्य अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के अनुरूप है। जर्मन विद्वान बरनेज का मत है कि विरेचन का अर्थ 'मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता है।'[१७४] डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार विरेचन से अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और शमन से उत्पन्न मनःशान्ति से है।[१७५] दोनों विचार तत्त्वतः एक हैं। विरेचन सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है, इसीलिए शुक्ल जी के अभिमत की उससे तुलना की गई। मनोविश्लेषण शास्त्र ने तो उसे और भी परिपुष्ट कर दिया है। मनोविश्लेषक भावनाओं की अतृप्ति या दमन को मानसिक रोगों का प्रमुख कारण मानता है, अतः इनका उपचार वह भावों को उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा ही करता है। प्रायः सभी भाव जो मूलतः प्रवृत्तियों पर आश्रित रहते हैं, हमारे अवचेतन मन में स्थित रहते हैं। जीवन में उनको यदि उचित अभिव्यक्ति तथा परितोष न मिले तो उनसे अनेक प्रकार के रोग और ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अतः मन को स्वस्थ रखने के लिए यह अनिवार्य है कि चेतन अनुभव का विषय बनाकर उनको तृप्त किया जाये। इस प्रकार मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, घुमड़न दूर हो जाती है और चित्त विशद हो जाता है।[१७६]

अन्त में यही कहना होगा कि शुक्ल जी काव्य की सृजन प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक निरूपण नहीं कर सके हैं, उन्होंने उसके संश्लिष्ट रूप की झलक भर दी है—जो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों से सम्पन्न है। वस्तुतः काव्य-सृजन की प्रक्रिया संश्लिष्ट होती ही है। डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है "काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इन संश्लिष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना में तत्त्व भी मिले होते हैं। अभिव्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है।'[१७७] किन्तु ऐसा नहीं है कि उसका विश्लेषण ही न किया जा सके। शुक्ल जी के कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया

का प्रारम्भ कहाँ से होता है, प्रत्यक्ष अनुभूति से अथवा शब्द विधान से ? इसका निर्णय उनके विवेचन के आधार पर शोध द्वारा किया जा सकता है, किन्तु इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उन्होंने प्रत्येक उस अनुभूति को, जिसकी प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं, काव्यानुभूति ही माना है'[१७८] और उसे साधारण कोटि की अनुभूति से पृथक् माना है। इसके आधार पर असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वे काव्य-सृजन की प्रक्रिया का प्रारम्भ प्रत्यक्ष अनुभूति से मानते हैं।

प्रत्यक्ष अनुभूति के काल में उसके साथ अपने योग क्षेम, हानि-लाभ और सुख दुःख आदि की भावनाएँ संलग्न रहती हैं। कालान्तर में वह विशुद्ध अनुभूतिमात्र रह जाती है। तब अभिव्यक्ति के कामना के कारण वह उसे शब्द बद्ध करता है। इस प्रकार काव्य-सृजन के तीन सोपान ठहरते हैं--(१) प्रत्यक्ष अनुभूति का सोपान (२) विशुद्ध अनुभूति का सोपान, (३) शब्द-विधान का सोपान। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य-सृजन के लिए तीनों ही अनिवार्य हैं। साथ ही उनका क्रम भी निश्चित है। साधारणतः शब्द-विधान को ही काव्य-सृजन की प्रक्रिया और उसका आरम्भ समझा जाता है। जो असंगत है। तीनों सोपानों को अनिवार्य मानते हुए भी शुक्ल जी शब्द-विधान के अन्तिम सोपान को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, जो सर्वथा उचित है। उनकी दृष्टि में 'अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि कर्म है।'[१७९] कवि अपनी अनुभूति को कल्पना का अवलम्बन लिए बिना दूसरों तक पहुँचा ही नहीं सकता। इसीलिए उन्होंने कहीं-कहीं काव्य-सृजन की प्रक्रिया को कल्पना-प्रक्रिया भी कहा है।[१८०] किन्तु यह कल्पना प्रक्रिया स्वतन्त्र न होकर भाव-प्रक्रिया में ही अन्तर्भूत होती है, क्योंकि काव्य के प्रयोजन की वही कल्पना होती है जो भाव प्रेरित होती है।[१८१]

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध ने भी कला-सृजन को तीन क्षणों में विभक्त किया है। उनकी दृष्टि में 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव—क्षण। दूसरा क्षण है—अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्द बने होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की पूरिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।[१८२]

**काव्य विषय**

शुक्ल जी का 'काव्य-विषय' विषयक सिद्धांत उनके जीवन और जगत् संबंधी दृष्टिकोण पर समाधारित है। उनका कथन है कि 'जितना विस्तार जगत् और जीवन का है, उतना ही विस्तार उसका (काव्य-विषय या भूमि का) है।'[१८३] जगत् और जीवन की अनेक रूपता के साथ काव्य का सम्बन्ध उनकी दृष्टि में स्वतः सिद्ध है। उन्होंने लिखा है कि 'जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उन सबका प्रवृत्त सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ

हो जाय। + + । अतः काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र के आलम्बन या विषय चुन-चुन रखना है।'[१८४] काव्य की इस विस्तृत विषय-भूमि का विभाजन उन्होंने तीन रूपों में किया है। 'काव्य दृष्टि कहीं तो (१) नर क्षेत्र के भीतर रहती है, (२) कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और (३) कहीं समस्त चराचर के।'[१८५]

उनके अनुसार जिस कवि के काव्य की विषय-भूमि जितनी ही व्यापक होगी उसकी काव्य-दृष्टि भी उतनी ही व्यापक और गंभीर होगी। उन्होंने लिखा है कि '... नर क्षेत्र के भीतर बद्ध रहने वाली काव्य दृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायगी।'[१८६] इसीलिए वे काव्य को नर क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखना चाहते, वरन् समस्त चराचर जगत् को उसका विषय बनाना चाहते हैं। उन्होंने मनुष्येतर बाह्य-प्रकृति को भी काव्य का स्वतन्त्र आलम्बन स्वीकार किया है।'[१८७] ध्यातव्य है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र की रस निरूपण पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। उसे उद्दीपन मात्र माना गया है।

अपनी इसी व्यापक दृष्टि के आधार पर उनका कहना है कि 'प्रसंग प्राप्त साधारण असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है।'[१८८] यही नहीं उन्होंने काव्य के विषय-क्षेत्र को विकासवादी दृष्टिकोण से देखते हुए उसे सतत् विकासमान एवं वर्द्धमान माना है। वे ज्ञान क्षेत्र के विकास एवं विस्तार के साथ भाव क्षेत्र का विकास एवं विस्तार आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में इस कार्य की पूर्ति के निमित्त कवि को अग्रसर होना पड़ता है। वे ज्ञान की सीमा में आए हुए नवीन रूपों एवं व्यापारों को काव्य का विषय बनाना कवि का अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य मानते हैं। ज्ञान-विज्ञान के अनुसंधान के कारण लब्ध नूतन रूपों एवं व्यापारों को काव्य का विषय बना कर कवि को इस रूप में लाना चाहिये कि वे मनुष्य के भावों के आलम्बन हो सकें या उन्हें उत्तेजित कर सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का विषय क्षेत्र अनंतर गतिशील है, स्थिर नहीं, वह ज्ञान के विकास के साथ साथ विकसित होता है।[१८९] वैसे तो कोई भी विषय, रूप या व्यापार प्रसंगवश काव्य का विषय बन सकता है, ऐसी शुक्ल जी की मान्यता है, किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सभी विषयों में समान काव्योपयुक्तता अर्थात् रसानुभूति उत्पन्न करने की समान क्षमता नहीं होती। जिन विषयों से मानव का दीर्घकालिक साहचर्य होगा, वे संस्कारों के अधिक निकट होने के कारण, उसके मन को अन्य विषयों की अपेक्षा जिनसे उसका परिचय अपेक्षाकृत नूतन और बौद्धिक है, कहीं अधिक रमा सकेंगे, उनमें रमाने की शक्ति अधिक होगी। 'साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है।'[१९०]

काव्य के समस्त विषय-क्षेत्र को साहित्य-शास्त्र के एक शब्द 'विभाव' द्वारा

व्यक्त किया जा सकता है। शुक्ल जी का मत है कि 'विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं —(१) आलम्बन (भाव का विषय), (२) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला। इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किन्तु दूसरा हृदय-सम्पन्न मनुष्य ही होता है।'[१११] उनकी दृष्टि में आलम्बन और आश्रय में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। वे कहते हैं कि—'कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अत दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है, जैसे, नायिका के रूप या नख शिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है।'[११२]

काव्यालम्बन दो प्रकार के संभव हैं—व्यक्त और अव्यक्त। आचार्य शुक्ल 'व्यक्त' को ही उपयुक्त काव्यालम्बन मानते हैं। श्री जयनाथ नलिन का यह कहना कि 'आचार्य शुक्ल रहस्यमय, गुह्य, अव्यक्त, अगोचर को काव्य का विषय मानने को कभी तैयार नहीं हुए।'[११३] प्रायः ठीक ही है, यद्यपि शुक्ल जी ने 'अव्यक्त' का काव्यालम्बन के रूप में शत-प्रतिशत या पूर्ण निषेध नहीं किया है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने व्यक्त और गोचर को अव्यक्त और अगोचर की तुलना में सदैव अधिक काव्योपयुक्त और श्रेष्ठ माना है। अव्यक्त और अगोचर को वे एकदम हेय और अनुपयुक्त नहीं मानते, तभी तो जायसी के रहस्यवाद की इतनी सुन्दर व्याख्या उन्होंने की। कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे 'अव्यक्त' को भी किसी सीमा तक काव्य के भीतर स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्टरूप से लिखा है कि '× × कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं।'[११४] किन्तु दूसरी ओर उन्होंने यह भी लिखा है कि 'मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ।'[११५] रहस्यवाद में अव्यक्त और अगोचर का समावेश ही रहता है। भाव के क्षेत्र में परोक्ष की 'जिज्ञासा' के समुचित उपयोग को उन्होंने स्वीकार भी किया है। उन्होंने लिखा है कि 'स्वाभाविक रहस्य-भावना में —जिसका किसी वाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं—इसका कभी-कभी बहुत सुन्दर उपयोग होता है। जैसे, शिशु की मधुर मुसकान पर मुग्ध होकर यदि कोई कवि कहे कि 'इसके अधरों पर किस आनन्द-लोक की मधुर स्मृति संचरित हो रही है' सौरभपूर्ण कुसुम-विकास देख यदि कहा जाय कि 'यह किस सुख-सौन्दर्य की अनन्त राशि से चोरी करके भाग आया है।' तो प्रस्तुत माधुर्य या सुख-सौन्दर्य के प्राचुर्य के निमित्त बड़ा सुन्दर औत्सुक्य व्यंजित होगा।'[११६] स्पष्ट है कि वे काव्य में अव्यक्त या परोक्ष के उपयोग को स्वीकार करते हैं, किन्तु भावालम्बन के रूप में नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि वे कविता का प्रधान एवं प्रमुख क्षेत्र 'व्यक्त' और 'गोचर' जगत् मानते हैं और 'अव्यक्त' और 'अगोचर' को सर्वथा निषिद्ध तो नहीं करते, किन्तु उसे अत्यन्त गौण स्थान देते हैं। मंगल, सौन्दर्य अथवा आनन्द की साधनावस्था

और सिद्धावस्था को दृष्टि में रखकर उन्होंने काव्य को दो भागों या रूपों में विभक्त किया है और दोनों ही प्रकार के काव्यों का विषय व्यक्त या गोचर जगत् माना है। उनकी दृष्टि में जो कविता इस लोक से विमुख होकर किसी अज्ञात लोक में सौन्दर्य और मंगल की खोज करती है, वह कायरता और आलस्य की वाणी है। उन्होंने लिखा है—'जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है।'[१९७] और भी—'ऐसी कायर कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चल सकता जो जगत् और जीवन से सौन्दर्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने में इकट्ठी करके उछला-कूदा करे।'[१९८]

उनकी दृष्टि में काव्य का यथार्थ विषय-क्षेत्र यह व्यक्त जगत् ही है, अतः उसकी खोज इन्हीं विषयों में की जानी चाहिए। उनका कहना है कि 'जो आँख मूँदकर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में या उसके बहाने से किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं।'[१९९] वे रहस्यवादियों की भाँतिकेवल ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव-सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्य-भूमि को सीमित रखने के घोरतम विरोधी हैं।[२००] वे सम्पूर्ण जगत् को काव्य-भूमि मानते हैं। अज्ञात या रहस्य सम्बन्धी काव्य में रसानुभूति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। रसानुभूति के लिए प्रकृत और योग्य आलम्बन अनिवार्य होता है।' जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का अवलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।'[२०१] अतः यदि कोई वस्तु अज्ञात या रहस्यमयी है, तो वह बिना किसी निश्चित रूपाकार के हमारे भावों का आलम्बन कैसे हो सकती है। बिना रूपाकार की कोई वस्तु हमारे भावों का आधार नहीं बन सकती। यही कारण है कि अव्यक्त एवं अज्ञात को रति या प्रेम का आलम्बन बनाने के लिए रहस्यवादियों को प्रेम के योग्य रूपाकार प्रदान करना पड़ा है।

हिन्दी में कबीर, जायसी, और महादेवी आदि सभी ने जो शृङ्गार का चित्रण—संयोग अथवा वियोग सम्बन्धी—अव्यक्त और अगोचर को लेकर किया है, वह लौकिक ही है, उसमें इसी धरती के प्रतीकों को ही लेकर समस्त भावों एवं क्रियाओं की अभिव्यक्ति की गयी है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल ने अज्ञात के प्रति प्रेम को असम्भव एवं अनुपयुक्त बताया है। उनकी दृष्टि में 'अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है, उसकी 'लालसा या प्रेम का नहीं।'[२०२] 'अज्ञात के प्रति जिज्ञासा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु उसके प्रति प्रेम या लालसा उत्पन्न होना सम्भव नहीं। जिज्ञासा जानने की इच्छा मात्र है, वह बौद्धिक मांग है, हृदय से उसका सम्बन्ध नहीं। अज्ञात या अपरिचित को जान लेने पर, उससे परिचय बढ़ जाने, उसके सम्पर्क में कुछ काल तक रहने और उसके रूप, कर्म और शील से आकर्षित होने पर ही प्रेम हो सकता है। शुक्ल जी की धारणा के अनुसार ज्ञान के पश्चात् ही कोई वस्तु

हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सकती है, पूर्व नहीं। 'ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।'[२०३] अतः इस मत के अनुसार ज्ञान प्रसार के बाहर अज्ञात के प्रति प्रेम लालसा या किसी अन्य भाव का होना असंगत सिद्ध होता है। इसी आधार पर उनका कथन है कि '×× अव्यक्त, अगोचर ज्ञान कांड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासना क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्य क्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।'[२०४] उनकी दृष्टि में '⋯हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष जो कुछ प्रकट किया जायगा, वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिम्बवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्यक्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।'[२०५]

इसके अतिरिक्त अव्यक्त को काव्यालम्बन स्वीकार करने में और भी बाधाएँ हैं। प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों के काव्यों में जहाँ कहीं भी 'अव्यक्त' काव्यालम्बन के रूप में आया है, वह सर्वत्र प्रायः प्रेम अथवा रति के ही आलम्बन के रूप में आया है। प्रिय के रूप में ही उसे सर्वाधिक स्थान मिला है। किन्तु मात्र शृङ्गार ही तो काव्य का प्रतिपाद्य है नहीं। जीवन के समस्त भाव काव्य के विषय होते हैं। अतः अव्यक्त को ही काव्यालम्बन मान लेने पर काव्य-क्षेत्र इस हद तक संकीर्ण हो जायगा कि शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य भाव उसमें पाँव ही न रखने पावेंगे। परिणामतः अशेष सृष्टि से सम्बद्धता की कौन कहे, मानव जीवन के ही अधिकांश से वह (काव्य) असम्बद्ध हो जायगा।

यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि अव्यक्त को लेकर केवल गीतिकाव्य की ही रचना हुई है। नाटक, उपन्यास और कहानी आदि की रचनाएँ नहीं हुईं। इसके पीछे अवश्य कोई-न-कोई कारण है। अव्यक्त और अरूप लोक में मंगल-विधान प्रत्यक्षतः कर नहीं सकता, समाज के मध्य अपने कर्म-सौंदर्य की निराली छटा बिखेर नहीं सकता। अत्याचारियों के दमन और निरीहों की रक्षा के लिए उठ नहीं सकता, अत्याचार पर क्रोध और पीड़ा पर करुणा की वर्षा कर नहीं सकता। अत. वह मनुष्य के अन्तःकरण के नाना भावों का आलम्बन भी नहीं बन पाता है। अव्यक्त और अरूप में तो इन सारे गुणों का कल्पित आरोप मात्र किया जा सकता है, किन्तु कल्पित वस्तु से वास्तविक संतुष्टि तो संभव नहीं, अतः वह मनुष्य के नाना भावों का स्थायी आलम्बन नहीं बन पाता। फलतः उसे लेकर साहित्य की उन विधाओं की रचनाएँ नहीं हुईं जिनमें वास्तविकता के लिए तथ्य और यथार्थता के लिए कल्पना की अपेक्षा अधिक स्थान रहता है। अतः मात्र 'अव्यक्त' या 'अरूप' को ही काव्य की विषय-भूमि मान लेने पर काव्य क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जायगा और उसकी अनेक विधाएँ भी लुप्त हो जायँगी।

आचार्य शुक्ल काव्य क्षेत्र को विभिन्न वादों से भी दूर रखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है कि "सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत की अभिव्यक्ति

को लेकर ही चलती है। वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।'[२०६] दार्शनिक वादों के प्रति भी उनकी यही दृष्टि है। उनके मतानुसार भारत में दर्शन के नाना वादों को काव्यक्षेत्र में घसीटने की प्रथा नहीं थी। केवल निर्गुण सम्प्रदायवालों ने ही सूफियों की नकल पर अद्वैतवाद, मायावाद, प्रतिबिम्बवाद इत्यादि की व्यंजना अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों आदि द्वारा की है। इन मूर्त रूपकों में भाव में लीन करने की उतनी शक्ति नहीं है, जितनी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को लेकर की गई रूपयोजना में। उन्होंने लिखा है कि 'इन मूर्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूप-योजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूपयोजना जो किसी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भाव क्षेत्र में लाने के लिये की गयी है, वही अधिक मर्मस्पर्शिणी है।'[२०७]

इसी प्रकार वे काव्य का सम्बन्ध किसी ज्ञानातीत दशा से भी नहीं जोड़ना चाहते, जिसका अद्भुत काल्पनिक चित्रण साम्प्रदायिक रहस्यवादी किया करते हैं। इस विषय में उन्होंने लिखा है—'यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञाना-तीत (Transcendental) दशा से चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।'[२०८] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक-ठिकाना नहीं—सूचक बतलाना हम सच्चे कवि का क्या सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।'[२०९] उपर्युक्त विवेचन से 'काव्य-विषय' का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। सारांश के रूप में संक्षेप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के मतानुसार 'काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोक-स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है।'[२१०]

'काव्य-विषय' के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातें भी कही हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उनका कहना है कि 'काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं। वह व्यक्ति सामने लाता है जाति नहीं।'[२११] इसका कारण यह है कि 'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब' (images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।[२१२] इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने काव्यालम्बन के स्वरूप पर भी विचार किया है। वे काव्य में असाधारण आलम्बन के पक्षपाती नहीं हैं, उनका मत है कि साधारण-वस्तु भी भाव का आलम्बन हो सकती है। उन्होंने लिखा है कि 'भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है।'[२१३] इसी निबन्ध में अन्यत्र उन्होंने लिखा है 'प्रसंग-प्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है। साधा-रण के बीच में ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या

व्यंजना-प्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।'[२१४]

काव्य-सत्य

आचार्य शुक्ल ने यद्यपि पृथक् रूप से 'काव्य-सत्य' का सम्यक् विवेचन नहीं किया है, फिर भी उनके काव्य सम्बन्धी विवेचन और काव्य-सत्य के सम्बन्ध में प्रसंग वश किए गए कुछ एक उल्लेखों के आधार पर 'काव्य सत्य' के स्वरूप का उद्घाटन किया जा सकता है। शुक्ल जी गोचर अभिव्यक्ति को ही काव्य की प्रकृत-भूमि मानते हैं।'[२१५] अगोचर, लोकोत्तर और परोक्ष सत्ता को नहीं, और काव्य सौंदर्य तथा काव्यानुभूति को जीवन-सौंदर्य और जीवनगत प्रत्यक्ष अनुभूति से सम्बद्ध करके देखते हैं।[२१६] इससे यह निष्कर्ष या अनुमान निकाला या लगाया जा सकता है कि उनकी दृष्टि में काव्य-सत्य भी जीवन और जगत् के सत्य के अनुरूप और उसी से सम्बद्ध होता है, पृथक् नहीं। वस्तुतः यह सच है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि हर जीवन-सत्य या वस्तु-सत्य अपने आपमें काव्य-सत्य नहीं होता है। 'काव्यसत्य' जीवन-सत्य या वस्तु-सत्य' से सम्बद्ध और उसी के अनुरूप होने के साथ ही विशिष्ट होता है। शुक्ल जी काव्य के लिए साधारणीकरण आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।'[२१७] प्रत्यक्ष जीवन में किसी व्यक्ति का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृङ्गार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता।[२१८]

इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार का जीवनगत वस्तु सत्य काव्य का सत्य, कम से कम रसात्मक कोटि के काव्य का सत्य, नहीं हो सकता; काव्याभास का सत्य चाहे हो ही। इससे यह भी स्पष्ट है कि काव्य का सत्य साधारणीकृत और सार्वभौम होता है, जब कि जीवन का सत्य सार्वभौम और विशिष्ट दोनों ही हो सकता है। अतः वही जीवन का सत्य काव्य का सत्य हो सकता है, जिसमें सामान्यता एवं सार्वभौमता हो। यद्यपि कवि विशिष्ट को ही अपने काव्य का आधार बनाता है, किन्तु वह उस विशिष्ट के अपने व्यक्तित्व तक सीमित स्वभाव-धर्मों तथा व्यवहारों को ग्रहण न कर, उन्हीं स्वभाव धर्मों तथा व्यवहारों को अभिव्यक्त करता है, जो साधारण या सार्वभौम होते हैं। शुक्ल जी का मत है कि 'सत्य सब की सामान्य सम्पत्ति होता है, झूठ हर एक का अलग-अलग होता है। यही बात काव्यगत सत्यासत्य के सम्बन्ध में ठीक समझनी चाहिए।'[२१९] इस कथन से स्पष्ट है कि जीवन की ही भाँति काव्य में भी सत्य और असत्य दोनों की स्थिति होती है। काव्य में वही वस्तु या व्यापार सत्य के अन्तर्गत आता है जो सामान्यतः सबमें समान भाव को उद्बुद्ध करता है, शेष वस्तु और व्यापार काव्यगत असत्य के अन्तर्गत आते हैं। इसी दृष्टि के अनुसार वे (निराधार) कोरे अप्रस्तुत आरोपों को काव्यगत सत्य से बहुत दूर मानते हैं।[२२०] इसी प्रकार के अन्योक्ति

द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यंजना को भी कृत्रिम और काव्यगत सत्य के विरुद्ध समझते हैं।[२२१]

**काव्य-माध्यम**

काव्य का एकमात्र माध्यम भाषा है, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं। आचार्य शुक्ल ने 'रसमीमांसा' में लिखा है कि 'काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-संकेतों द्वारा ही अंतस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि 'लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी।[२२२] उनके इस कथन से स्पष्ट है कि भाषा काव्य का माध्यम अवश्य है, किन्तु वह केवल काव्य का ही माध्यम नहीं, प्रत्युत अनेक अन्य विषयों का भी माध्यम है। उनकी दृष्टि में भाषा का पहला काम है शब्द के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई-झगड़े में और काव्य में भी।'[२२३] अतः वह इन सबका माध्यम है। किन्तु काव्य की भाषा अन्य विषयों की भाषा से भिन्न होती है। उसका मत है कि यद्यपि वैज्ञानिक विधाओं को प्रकट करने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ऐसे शब्द केवल एक प्रकार के संकेत या चिह्न-स्वरूप होते हैं, भाषा नहीं।[२२४] इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने विज्ञान और काव्य (साहित्य) द्वारा भाषा के प्रयोग में स्पष्ट अन्तर किया है। उन्होंने लिखा है 'विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है, किन्तु साहित्य में भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलंकार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें सम्मिलित हैं।'[२२५]

ध्यातव्य है कि यहाँ विज्ञान से शुक्ल जी का तात्पर्य मात्र प्राकृतिक विज्ञान से नहीं, वरन् साहित्येतर समस्त विद्या से है। शुक्ल जी ने अपने 'साहित्य' शीर्षक निबंध में 'विद्या' के दो विभाग किये हैं—(१) वैज्ञानिक विभाग, (२) साहित्य विभाग। इसी वर्ग विभाग के आधार पर उन्होंने अध्यात्म शास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, सांख्य, रसायन आदि को विज्ञान विभाग में समाविष्ट किया है। सारांश यह कि साहित्येत्तर समस्त विद्याओं को उन्होंने विज्ञान विभाग के अन्तर्गत माना है। भाषा के स्थूलतः 'गद्य और पद्य'[२२६] दो रूप होते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में पद्य या छन्द का काव्य में यद्यपि सर्वाधिक महत्त्व है, किन्तु पद्य अथवा छन्द काव्य का अनिवार्य माध्यम नहीं। काव्य-रचना गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है, ऐसी उनकी मान्यता है। कविता की उनकी परिभाषा में भी उसे शब्द-विधान मात्र कहा गया है, छन्द विधान नहीं।[२२७]

उनकी यह मान्यता संस्कृत काव्य-शास्त्र की विचार-परंपरा के अनुरूप है। संस्कृत के आचार्यों ने पद्य अथवा छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम नहीं माना है। उन्होंने पद्य और गद्य दोनों को ही काव्य का माध्यम माना है। सारांश यह कि छन्द-

अछन्द के विवाद से मुक्त शब्दार्थ को काव्य का माध्यम संस्कृत काव्यशास्त्र में माना गया है। आचार्य भामह ने लिखा है—

'शब्दार्थौं सहितौ काव्यम् गद्यं पद्यंच तद्विधा।'[२२८]

(भामह)

डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'यह मान्यता अन्त तक यथावत् बनी रही—परवर्ती साहित्य में जब गद्य-काव्य की रचना प्रायः निश्शेष हो गई थी और अलंकारों के साथ-साथ छन्द आदि बाह्य उपकरणों का महत्त्व बढ़ गया था, उस समय भी पद्य को काव्य-लक्षण में स्थान नहीं मिला—पाण्डितराज जगन्नाथ का लक्षण इसका स्पष्ट प्रमाण है—उसमें रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को ही काव्य-रूप में विहित किया गया है, पद्य का कोई उपबन्ध नहीं रखा गया है।'[२२९] पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र में यह प्रश्न विवादास्पद रहा है। वहाँ ड्राइडन, डॉ जान्सन, कार्लायल, स्टुअर्ट मिल आदि काव्य-मर्मज्ञों ने छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम माना है और सिडनी, कालरिज, रस्किन आदि आलोचकों ने स्पष्ट रूप से छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानने से इंकार किया है।

काव्य के माध्यम अथवा भाषा-शैली के आधार पर शुक्ल जी ने उसके अनेक विभाग किए हैं। अपने इन्दौर वाले भाषण में साहित्य पर विचार करने के पश्चात् उन्होंने रचना-शैली को दृष्टि में रखकर कविता, नाटक, उपन्यास और निबन्ध आदि को विशिष्ट साहित्य-रूप माना है।[२३०] स्पष्ट है कि माध्यम को एक प्रमुख विभाजक तत्त्व मानते हैं। जिस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्र, संगीत, काव्य आदि माध्यम के भेद से ही अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार साहित्य अथवा काव्य के विभिन्न रूप उपन्यास, नाटक, काव्य आदि भी विशिष्ट माध्यम के आधार पर विशिष्ट रूप प्राप्त करते हैं। आशय यह कि यद्यपि साहित्य में भाषा ही माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती है, किन्तु उसके प्रयोगों में वैभिन्न एवं वैशिष्ट्य के कारण उसके अनेक विशिष्ट रूप हो जाते हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि में भाषा के लिए अर्थवत्ता अनिवार्य होती है, चाहे वह काव्य की भाषा हो यह विज्ञान की। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि 'भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है, उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है।'[२३१] ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्ल जी की दृष्टि में भाषा का काम है अर्थबोध कराना। अर्थ का तात्पर्य है वस्तु या विषय। उनके मतानुसार अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित।[२३२] भाषा इन चारों प्रकार के अर्थों का बोध कराती है। उनकी दृष्टि में अर्थ के लिए योग्यता और उपपन्नता अपेक्षित होती है। उपपन्नता का अभिप्राय प्रसंगानुकूलता या प्रकरण सम्बद्धता से है।[२३३] अतः अर्थ से अभिप्राय योग्य और उपपन्न (प्रकरण संबद्ध) अर्थ से है।[२३४] उनका कथन है कि भाषा योग्य और उपपन्न अर्थ का बोध अपनी तीन प्रकार की शक्तियों से कराती है। कभी अभिधा शक्ति द्वारा, कभी लक्षणा शक्ति द्वारा, और कभी व्यंजना शक्ति द्वारा। जहाँ भाषा में प्रयुक्त शब्दों द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थों के योग्य मात्र से प्राप्त अर्थ योग्य और

उपपन्न होता है, वहाँ भाषा की अभिधाशक्ति से ही काम चल जाता है। इस प्रकार के अर्थ को वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ कहा जाता है। किन्तु 'वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ के अयोग्य या अनुपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है।'[२३५] जहाँ लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सहारा लेने पर भी योग्य या सम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह कथन (चाहे काव्य या अन्य) प्रलाप मात्र मान लिया जाता है।[२३६] लक्षणा शक्ति द्वारा प्राप्त योग्य अर्थ को लक्ष्यार्थ और व्यंजना शक्ति द्वारा प्राप्त योग्य अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं।

काव्य-भाषा का विकास शुक्ल जी भाव विकास के अनुरूप मानते हैं। उन्होंने सिद्धान्त के रूप में इस तथ्य की स्पष्ट शब्दों में प्रतिष्ठा नहीं की है, किन्तु उन्होंने तुलसी की समीक्षा करते हुए इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे यह सिद्धान्त ध्वनित होता है। उन्होंने लिखा है कि 'भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करने वाली वाणी का विकास स्वाभाविक था।'[२३७] कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, अतः अभिव्यंग्य के अनुकूल उसका विकास होता है। यह भाषा-विकास सम्बन्धी एक भाषा वैज्ञानिक सत्य है।

शुक्ल जी ने साहित्य-भाषा और लोक-भाषा को भाषा की दो पृथक्-पृथक् स्वाभाविक धाराएँ माना है। उन्होंने लिखा है—'बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य-भाषा के साथ-साथ लोक-भाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पंडितों की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक-भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोक भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परम्परा में नया जीवन डालता है।'[२३८] यहाँ पर थोड़े में ही शुक्ल जी ने लोक-भाषा और काव्य-भाषा के सम्बन्ध के स्वरूप का उद्घाटन कर दिया है। कोई काव्य-परम्परा कब और कैसे लोक-भाषा का सहारा लेती है और कैसे आगे चलती चली जाती है, यह बात इस उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जाती है कि 'प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका।'[२३९] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि काव्य-भाषा स्थिर होने पर लोक-भाषा का सहारा लेती है, किन्तु तथापि वह लोक-भाषा से भिन्न कोटि की ही होती है।

शुक्ल जी का मत है कि साधारण और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के भाषा-प्रयोग में अन्तर होता है, अतः काव्य की भाषा का साधारण बोल चाल की भाषा से पृथक् एवं विशिष्ट होना स्वाभाविक है। उनका कथन है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति भाषा को अपने आशय के अधीन रखता है और उसे एक निराले ढंग पर ले जाता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।[२४०] अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप

में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति विधान के लिए यह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, 'समय बीत जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भाग जाता है' कहना वह अधिक पसन्द करेगी।[२४१] उन्होंने लिखा है कि 'वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव की मार्मिक अन्तर्वृद्धि के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।'[२४२] अतः उनकी दृष्टि में लाक्षणिकता काव्य-भाषा की पहली विशेषता है।

शुक्ल जी के कथनानुसार 'भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं।'[२४३] उनका मत है कि जाति-संकेतक शब्दमूर्त-विधान के प्रयोजन के नहीं होते, अतः कविता के भी काम के प्राय नहीं होते। 'अत्याचार' शब्द के उदाहरण से उन्होंने अपनी बात पूर्णरूपेण स्पष्ट की है। 'अत्याचार' शब्द के अन्तर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं, अत 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती है। कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्तरूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं।[२४४] इसी दृष्टि से संस्कृत के आचार्यों की भाँति शुक्ल जी काव्य में किसी व्यवहार अथवा शास्त्र के पारिभाषिक शब्द का प्रयोग भी उचित नही समझते। वे इसे अप्रतीतत्व दोष मानते हैं।[२४५] उनकी दृष्टि में 'शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को काव्य रचना के भीतर आवश्यकता पड़ने पर लाने के लिए कवि को पारिभाषिक तथा जाति-संकेत वाले शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करने वाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करना चाहिए।'[२४६]

शुक्ल जी के मतानुसार कविता की भाषा में तीसरी विशेषता वर्णविन्यास की है। विशिष्ट वर्ण-विन्यास द्वारा काव्य में नाद-सौष्ठव की सृष्टि की जाती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्ति-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य साधन के लिए ही हैं। नाद सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।[२४७] वर्ण-विन्यास की इस विशिष्टता को शुक्ल जी चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए प्रयोग किए जाने के पक्ष में नहीं है, जिससे रचना बेडौल और भावशून्य हो जाती है।[२४८] किन्तु नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।

उनकी दृष्टि में काव्य-भाषा की चौथी विशेषता है—कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार।[२४९] उनका कथन है कि 'मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं; जिनसे कविता की पूर्ण परि-पोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं।'[२५०] गिरधर, मुरारि आदि

शब्द ऐसे ही हैं। किन्तु ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों जैसे आपत्ति से उद्धार पाने के लिए 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।[२५१] काव्यभाषा-विशेष में अन्य भाषाओं के शब्द के सम्बन्ध में शुक्ल जी का अभिमत है कि 'किसी काव्य में अन्य भाषाओं के शब्द उसी सीमा तक आ सकते हैं, जिस सीमा तक आने से काव्य-भाषा की स्वाभाविकता का ह्रास या हनन नहीं होता और वह दुर्बोध नहीं होती।'[२५२]

**काव्य शैली**

शुक्ल जी काव्य की शैली को विज्ञान अथवा शास्त्र की शैली और लोक व्यवहार की शैली से भिन्न कोटि की मानते हैं। उनकी दृष्टि में वाङ्मय के दो विभाग होते हैं—विज्ञान और साहित्य।[२५३] दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है, किन्तु साहित्य में भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलंकार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें सम्मिलित हैं।[२५४] इसके अतिरिक्त विज्ञान में जहाँ अभिधा से ही काम चलाया जाता है वहाँ साहित्य में भाषा की लक्षणा शक्ति से अधिक काम लिया गया है। काव्यभाषा की विशिष्टताओं का पृथक् विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

काव्य की शैली और विज्ञान या शास्त्र तथा व्यवहार की शैली में भेद संस्कृत काव्य-शास्त्र और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र दोनों में ही आरम्भ से ही मान्य रहा है। भामह, दण्डी, अभिनवगुप्त और कुन्तक आदि संस्कृत के आचार्यों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। भामह के मतानुसार काव्य की शैली में शब्द-अर्थ का उपनिबंध लोकोत्तर अर्थात् लोक-व्यवहार से भिन्न और विशिष्ट होता है। लोक सामान्य शब्दार्थ-प्रयोग को भामह 'वार्ता' मानते हैं जो काव्य की श्रेणी में समाविष्ट नहीं होती। आचार्य दण्डी भी काव्य की शैली को शास्त्र शैली तत्वतः भिन्न मानते हैं। वे वाङ्मय के दो भेद करते हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति और काव्य में वक्रोक्ति का तथा शास्त्र में स्वभावोक्ति का साम्राज्य मानते हैं।

पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने काव्य की शैली की गुरुता का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—'सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है, क्योंकि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं, जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिए क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।'[२५५] यहाँ यह ध्यातव्य है कि शुक्ल जी काव्य-भाषा को लोक-भाषा से भिन्न और विशिष्ट अवश्य मानते हैं, किन्तु वे अरस्तू की भाँति उसे विदेशी रंग देने और असाधारण बनाने के पक्ष में नहीं हैं। उनका मत है कि अपनी भाषा की प्रकृति परखकर और सुरुचि का ध्यान रखकर ही लाक्षणिक पदावलियों का प्रयोग होना चाहिए।

वस्तुतः वे सामंजस्यवादी हैं। उन्होंने लिखा है कि "न तो अपनी भाषा की प्रकृति की इतनी अवहेलना होनी चाहिए कि अंगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग शब्द-प्रतिशब्द रख लिए जायँ और न उर्दू वालों की तरह मुहावरे से फिसलने का इतना डर छाया रहना चाहिए कि बिल्कुल उड़ने से कुछ पहले की अवस्था सूचित करने के लिए 'खबर फड़फड़ा रही है' लिखते हाथ रुक जाय। सामंजस्य बुद्धि से काम लेते हुए अग्रसर होना होगा।"[२५६] सिद्धान्त के रूप में उनकी स्थापना है कि 'प्रत्येक भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति उसके बोलने वालों की अन्तः प्रकृति और संस्कारों के अनुरूप हुआ करती है। अतः एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में बहुत कम काम दे सकते हैं।'[२५७]

अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक 'एडिसन' ने भी, 'प्रसाद' को काव्य-शैली का आवश्यक उपादान मानते हुए भी लोक-व्यवहार में अति प्रचलित शब्दावली को काव्य के लिए अनुपयुक्त माना है। वर्ड्सवर्थ ने अलबत्ता उक्त प्रभेद का निषेध किया, किन्तु कालरिज ने उनके काव्य का प्रमाण देकर उसका खण्डन कर दिया। आधुनिक युग के प्रख्यात आलोचक रिचर्ड्स ने भी विज्ञान की भाषा-शैली और काव्य की भाषा-शैली में भेद माना है। उनके मतानुसार भाषा के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं (१) वैज्ञानिक प्रयोग (Scientific use of language) और दूसरा रागात्मक प्रयोग या भावात्मक प्रयोग (Emotive use of language) इन दोनों प्रयोगों में सन्निहित मानसिक प्रयोग में बड़ा अन्तर होता है—जिसकी ओर साधारणतया ध्यान नहीं जाता।[२५८] उन्होंने लिखा है कि—'किसी उक्ति का प्रयोग उसके शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ—संकेत के लिए भी हो सकता है। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है। किन्तु उसका प्रयोग कुछ ऐसे प्रभावों के लिए भी हो सकता है जो उसके अर्थ संकेत द्वारा हमारे भाव और प्रवृत्ति पर पड़ते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है।'[२५९]

इसमें सन्देह नहीं कि रिचर्ड्स की 'वैज्ञानिक भाषा' ही भारतीय काव्य-शास्त्र की 'शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की भाषा' और 'रागात्मक भाषा' ही 'काव्य-भाषा' है। दोनों के अन्तर को उन्होंने मनोविज्ञान की सहायता से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। दोनों की विफलताओं को दृष्टि में रख कर उन्होंने बताया है कि—'वैज्ञानिक भाषा के लिए अर्थ-संकेतों में अन्तर होना ही विफलता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में उद्देश्य की प्राप्ति ही नहीं हो पाती। किन्तु रागात्मक भाषा के लिए अर्थ-संकेत विषयक बड़ा से बड़ा अन्तर भी तब तक कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि उससे अभीष्ट प्रभाव में कोई बाधा नहीं आती।'[२६०]

'इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक भाषा में केवल अर्थ-संकेत ही शुद्ध नहीं होने चाहिए, किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी तर्क संगत होने चाहिए। उनको एक दूसरे का गति-रोध नहीं करना चाहिए—उनका समन्वय इस प्रकार होना चाहिए कि उनसे आगे के अर्थ-संकेतों में बाधा न पड़े। किन्तु रागात्मक प्रयोग के लिए किसी ऐसे तर्कसंगत विधान की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार का विधान तो बाधक हो सकता है और होता

भी है। क्योंकि यहाँ तो महत्व इस बात का है अर्थ-संकेतों पर आश्रित प्रवृत्तियाँ अपने सहज रूप में समन्वित हों—उनका अपना रागात्मक अंत:सम्बन्ध यथावत् रहे, और सब इन प्रवृत्तियों के आधारभूत अर्थ-संकेतों के तर्क संगत विधान पर किसी प्रकार निर्भर नहीं रहता।'[२६१]

आचार्य शुक्ल ने यद्यपि इतने विशद रूप से शास्त्र और काव्य की भाषा का अन्तर नहीं बताया है, किन्तु तत्वत. उनकी बात रिचर्ड्स की बात के ही अनुरूप है। उनके कथन—'विज्ञान का शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाना'[२६२] और 'साहित्य का शब्दों को सरस और मधुर रूप में प्रयुक्त करना'[२६३] वस्तुत रिचर्ड्स द्वारा उल्लिखित भाषा के वैज्ञानिक और रागात्मक प्रयोग की ही स्पष्ट सूचना देते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य और शास्त्र की शैली में भेद का अत्यन्त परिपुष्ट मनोवैज्ञानिक आधार विद्यमान है, इसीलिए आचार्य शुक्ल ने उसे स्वीकार किया है।

### काव्य में असाधारणत्व

काव्य में असाधारणत्व दो प्रकार का हो सकता है—पहला विषय-वस्तु का असाधारणत्व और दूसरा व्यंजना प्रणाली या वर्णन शैली का असाधारणत्व। दोनों ही प्रकार के काव्यगत असाधारणत्व पर शुक्ल जी ने पर्याप्त विचार किया है। उनका कथन है कि 'काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है अत: प्रसंग प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्त्तव्य है।'[२६४] केवल असाधारण वस्तुओं का ही वर्णन करना नहीं। सच्चे कवि द्वारा वर्णित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली होती हैं।'[२६५] क्योंकि स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है।[२६६] उनकी धारणा है कि केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की रुचि स्थूल और भद्दी होती है और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती।[२६७] अत: वे काव्य में असाधारण आलम्बन के पक्षपाती नहीं है, उनका मत है कि साधारण वस्तु भी भाव का आलम्बन हो सकती है। [२६८] वे कहते हैं कि 'भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है।'[२६९] इसी सम्बन्ध में अन्य अनेक स्थलों पर भी इस विषय में उन्होंने ऐसी ही बातें कही हैं, जिनका उल्लेख अनावश्यक है।

स्पष्ट है कि शुक्ल जी असाधारण के विरोधी नहीं हैं और न तो असाधारणत्व के ही विरोधी हैं, वस्तुतः वे साधारणविहीन असाधारण या साधारणत्व विहीन असाधारणत्व के विरोधी हैं। गिरिजाशंकर शुक्ल 'गिरीश' जी का भी यही मत है उनका कहना है कि—'असाधारण के प्रति शुक्ल जी का विरोध तभी सम्भव है जब साधारण की ओर से कवि सारा ध्यान हटा कर स्वयं को उसके (अर्थात् असाधारण के) एकान्त अनुराग का पात्र बना ले।'[२७०] आशय यह है कि साधारण की उपेक्षा और असाधारण की इजारेदारी शुक्ल जी को मान्य नहीं। अत: वे उसी काव्य-दृष्टि के समर्थक हैं जो

साधारण और असाधारण दोनों ही में सौन्दर्य-दर्शन करती हैं। वे स्वयं कहते हैं कि—'साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं।'[२७१] उनका तर्क है कि 'साधारण से ही असाधारण की सत्ता है अतः साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है।'[२७२] अतः उनकी दृष्टि में केवल वस्तु के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।[२७३] साधारण के बीच 'ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है' का मतलब यह कदापि नहीं है कि मात्र असाधारण अर्थात् साधारण से पृथक् असाधारण स्वतन्त्र रूप से काव्य का विषय बन ही नहीं सकता। उनका तात्पर्य केवल इतना है कि यदि कोई मात्र 'असाधारण' को ही अपने काव्य का विषय बनाता है और साधारण की एकान्त उपेक्षा कर देता है तो वह सच्चा और स्वाभाविक सहृदय कवि नहीं है। सारांश यह कि 'असाधारण' भी असाधारण ही नहीं—काव्य का विषय हो सकता है।[२७४] इसी प्रकार किसी भाषा के समूचे साहित्य में यदि मात्र असाधारण की ही प्रतिष्ठा है, साधारण की नहीं, तो वह साहित्य निस्सन्देह एकांगी होगा, और सच्चा साहित्य कहलाने का अधिकारी न हो सकेगा। क्योंकि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।[२७५] अतः उनके मतानुसार 'काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोक-स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है,[२७६] चाहे वह साधारण हो या असाधारण। उनकी दृष्टि में चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।[२७७]

ऊपर विषय-वस्तु के असाधारणत्व पर विचार किया गया है। अब हम व्यंजना प्रणाली या वर्णन शैली के असाधारणत्व पर विचार करेंगे। शैलीगत असाधारणत्व को आचार्य शुक्ल ने 'चमत्कार' अथवा 'अनूठापन' की संज्ञा दी है।[२७८] वैसे तो 'चमत्कार' वस्तुगत और व्यंजना प्रणाली दोनों ही प्रकार का सम्भव है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग व्यंजना प्रणालीगत चमत्कार के ही अर्थ में किया है और उसे प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से जो अद्भुत रस का आलम्बन होता है, पृथक् किया है।[२७९] यहाँ चमत्कार से उनका आशय शैली के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से है, जिसकी सीमा में वर्ण-विन्यास की विशेषता, (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीडा, (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचन-भंगी, (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।[२८०] शुक्ल जी चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य को काव्य का नित्य लक्षण स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।[२८१] उनका ठोस तर्क यह है कि इसे (चमत्कार या उक्ति वैचित्र्य को) काव्य स्वीकार कर लेने पर कोई वाक्य, वह चाहे कितना ही मर्मस्पर्शी हो, उक्ति-वैचित्र्य न होने पर काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या

मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा ।[२८२] उदाहरणार्थ, 'पद्माकर की यह सीधी-सादी किन्तु सरस एवं मर्मस्पर्शी उक्ति कि—'नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी' काव्य न हो सकेगी ।'[२८३] किन्तु इसके विपरीत केशवदास का पद—

बेर भयानक सी अति लगै । अर्क समूह जहाँ जगमगै ।।
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखौ । अर्जुन भीम महामति देखौ ।।
है सुभगा सम दीपति पूरी । सिंदुर औ तिलकावलि रूरी ।।
राजति है या ज्यों कुल कन्या । धाय विराजति है संग धन्या ।।

काव्य कहा जायगा, जब कि कोई भावुक इस उक्ति को शुद्ध काव्य नहीं कह सकता है, क्योंकि इसमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी, ऐसा शुक्ल जी का मत है ।[२८४] उनकी दृष्टि में चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है,[२८५] अतः मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य स्वीकार करने वाले लोग चमत्कार मात्र को काव्य मान सकते हैं [२८६] किन्तु स्वयं वे ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं । उनकी इस मान्यता के पीछे ठोस तर्कों की आधारशिला है । उनका कथन है कि 'कोरे वैचित्र्य या चमत्कार से कुतूहल या मन बहलाव मात्र संभव है काव्य की तल्लीनता नहीं ।'[२८७] केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है[२८८] अतः सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का संचार स्वीकार करने पर अलग-अलग स्थायी भावों की रस रूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता ।[२८९] आशय यह है कि अन्य रसों की सत्ता ही मिट जाती है, जो रसदृष्टि की विवेचना के प्रतिकूल है । अतः उनका कथन है कि काव्य की उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो ।[२९०] उनकी दृष्टि में ऐसी उक्ति, जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक-भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे वह काव्य नहीं, सूक्ति है ।[२९१] इस प्रकार वे काव्य को सूक्ति से पृथक् करते हैं । चमत्कार या अनूठेपन या रचना-वैचित्र्य को वे सूक्ति का नित्य लक्षण स्वीकार करते हैं, काव्य का नहीं । तात्पर्य यह कि प्रत्येक दशा में भाव या रस ही शुक्ल जी की दृष्टि में काव्यात्मकता की कसौटी है, चमत्कार नहीं । उनका कहना कि जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दें या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दें, वह काव्य होती है, चाहे उसमें रचना-वैचित्र्य या चमत्कार हो या न हो ।[२९२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी चमत्कार अथवा व्यंजना प्रणालीगत असाधारणत्व को पूर्णतया निषिद्ध नहीं करते, अपितु एक सीमा तक काव्य में उसकी स्थिति स्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार चमत्कार का प्रयोग चमत्कार के लिए नहीं,

बल्कि किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए किया जाना चाहिए।[२९३] वे यह मानते हैं कि जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है, उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।[२९४] यह स्वाभाविक है, क्योंकि बातचीत में भी कभी-कभी किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह दिया जाता है।[२९५] इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता जितनी गहरी भावना मन में होती है, वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती।[२९६] किन्तु इस आधार पर यह निश्चय करना कि चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है, शुक्ल जी के मतानुसार उचित नहीं।[२९७] उन्हें उक्ति की वचनभंगी या वक्रता वहीं तक मान्य है, जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्त-र्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं।[२९८] वक्रोक्तिवादियों की भाँति वे उक्ति के अनूठेपन, चापल्य या प्रागल्य में ही कविता मानने के लिए तैयार नहीं।[२९९] उनकी दृष्टि में कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है,[३००] काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गम्भीर है,[३०१] अतः अद्भुत-अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक खड़ा करना काव्य नहीं है।[३०२] यही कारण है कि वे कल्पना का सार्थक प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संघटित करने में मानते हैं, अलंकार आदि बाह्याडम्बर फैलाने में नहीं।[३०३] उनकी दृष्टि में काव्य में वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है,[३०४] चमत्कार-विधान नहीं। अतः कल्पना को बाजीगर का तमाशा न करके भावों और रसों की सामग्री जुटानी चाहिए।[३०५] उन्हें काव्य के स्वरूप में शिल्पवाली, बेल बूटे और नक्काशीवाली हलकी धारणा भी मान्य नहीं।[३०६]

### काव्य में सदाचार

'काव्य में सदाचार' के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये गये हैं। पहले मत के अनुसार काव्य में सदाचार का कोई स्थान नहीं, उसके अन्तर्गत नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता, वह न तो सदाचार-परक होता है और न दुराचार-परक। इसके विपरीत, दूसरे मत के अनुसार, काव्य में सदाचार का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है। उसके अन्तर्गत नैतिक सदसत् का भेद सदैव स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है। और वह सदाचारपरक और दुराचारविरोधी फलतः स्वभाव से ही मंगल-विधायक होता है। आचार्य शुक्ल इसी दूसरे मत के प्रबल समर्थक हैं। उनकी दृष्टि में 'काव्य में सदाचार' सम्बन्धी पहला मत 'कला-कला के लिए' वाले 'वाद' का एक पुछल्ला है।[३०७] इसी 'वाद' ने ही कुछ दिनों से यह सवाल खड़ा कर रखा है कि 'सदाचार का काव्य में कोई स्थान नहीं।'[३०८] 'शुक्ल जी के मतानुसार उक्त कथन बेल-बूटे और नक्काशी पर ही ठीक घटता है, काव्य पर नहीं।'[३०९] इस सम्बन्ध में वे पाश्चात्य समालोचक रिचर्ड्स की यह धारणा मान्य घोषित करते हैं कि 'सदाचार से कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है।'[३१०]

इसी सन्दर्भ में उन्होंने 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के समर्थक श्री जे०

ई० स्पिन्गर्न का मत उद्धृत किया है। श्री स्पिन्गर्न ने 'काव्य में नैतिक सदसत् का विचार अनपेक्षित है' वाले मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है, जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।'[३११] शुक्ल जी इसे 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' की एक डाली समझते हैं। 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का समूल खण्डन कर उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा कि 'जिस पेड़ की जड़ ही कट गई है, उसकी डालियों को कोई कैसे हरी कर सकता है?'[३१२] आगे अपने मत का औचित्य और श्री स्पिन्गर्न के मत का अनौचित्य प्रदर्शित करने के निमित्त एक-दूसरे पाश्चात्य आलोचक श्री टी० के० ह्विप्ल (T. K. Whipple) को अपने समर्थन में रखते हुए उन्होंने कहा है कि उन्होंने (श्री ह्विप्ल) अपने निबन्ध 'काव्य और सदाचार' में श्री स्पिन्गर्न का खण्डन करते हुए यह दिखा दिया है कि 'कला स्वतः का कोई अर्थ नहीं। कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है, जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका सम्बन्ध नित्य है। मानव-जीवन से असम्बद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं।'[३१३] इतना ही नहीं 'प्रो० ह्विप्ल अन्त में उस पक्ष पर आ गए हैं जिसके विचार से हमारे यहाँ 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण हुआ है वह है श्रोता या पाठक का पक्ष। श्रोता मनुष्य-समाज में रहने वाला प्राणी होता है। जीवन में सत्-असत् की जो भावना वह प्राप्त किए रहेगा, किसी काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य उसके साथ वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामंजस्य न होगा तो उस काव्य का पूरा रसात्मक ग्रहण वह न कर सकेगा।'[३१४]

## कवि और काव्य

शुक्ल जी की दृष्टि से 'काव्य' कवि की सृष्टि है; कवि का कर्म है और 'कवि' है उसका स्रष्टा और कर्ता। कवि और काव्य में इतना गहन सम्बन्ध मानने के कारण वे काव्य के स्वरूप और कवि के स्वभाव में भी प्रकृत घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। ध्यातव्य है कि उन्होंने अपने शब्दों में स्पष्टरूप से इसे सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित नहीं किया है, फिर भी कुछ ऐसे पुष्ट तथ्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे ऐसा मानते हैं। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी की कृतियों के आधार पर उनकी प्रकृति और स्वभाव को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। अन्यत्र उन्होंने सूर और तुलसी के काव्यों के आधार पर उनके स्वभाव का अन्तर भी स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है—'सूर को वचन-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक़ था। बीच-बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें या तो अनेक कार्यवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिए अनेक शब्दों की लम्बी लड़ी जोड़कर खेलवाड़ किया गया है। सूर की प्रवृत्ति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल-तमाशे का भी शौक था। लीला पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह

विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गम्भीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता।'[३१५]

स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने प्रकृति-भेद के अनुरूप काव्य के स्वरूप में भेद निर्दिशित किया है।

साधारणतया प्रत्येक कोटि की प्रत्येक कृति अपने कर्ता का किसी सीमा तक बोध कराती है, किन्तु सभी कृतियाँ समान रूप से अपने-अपने कर्ता के बारे में सम्बोध प्रदान करती हों, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ किसी ऐतिहासिक कृति के आधार पर उस कृति के कर्ता इतिहासकार के सम्बन्ध में कुछ बातें तो अवश्य जानी जा सकती हैं, किन्तु उतनी नहीं, जितनी कि किसी साहित्यिक कृति के द्वारा उसके कर्ता साहित्यकार के बारे में जानी जा सकती हैं। इसी प्रकार समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, साहित्य आदि समस्त ज्ञान-प्रदेशों की कृतियों की अपने-अपने कर्ता के बारे में जानकारी कराने की अलग-अलग शक्तियाँ होती हैं। जो ज्ञान-प्रदेश जितना ही यथार्थपरक और वस्तुवादी होगा, उसकी कृति उतनी ही कम जानकारी अपने कर्ता के बारे में करा सकेगी, इसके विपरीत जो ज्ञान-प्रदेश जितना ही कल्पना परक, भावुकता एवं आत्मगततापूर्ण होगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक जानकारी अपने कर्ता के बारे में करा सकेगी। साहित्य अथवा काव्य में कल्पना, भावुकता एवं वैयक्तिकता के लिए अन्य ज्ञान-प्रदेशों की अपेक्षा अधिक अवसर रहता है। अतः किसी कवि की काव्य कृतियों के आधार पर उसकी प्रकृति, स्वभाव और चरित्र का विश्लेषण करना उचित ही ठहरता है।

डा० नगेन्द्र का भी मत है कि 'काव्य की प्रकृति और कवि की प्रकृति में सहज सम्बन्ध है—काव्य और कवि के सम्बन्ध में यह सरल विवेक-सम्मत तथ्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है। इस तर्क से सहज सिद्ध है कि प्रत्येक कवि अपने स्वभाव के अनुसार कवि कर्म (काव्य) करता है।'[३१६] अतः शुक्ल जी का मत डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भी उचित ठहरता है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में और यूरोप के प्राचीन काव्यशास्त्र में भी कवि-प्रकृति और काव्य-प्रकृति के सम्बन्ध में यही मत मान्य रहा है। आचार्य कुन्तक ने तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से घोषणा की है—'स्वभावोमूर्ध्नि वर्तते'[३१७]—अर्थात् काव्य-रचना में कवि का स्वभाव ही सर्वप्रमुख है, और इसी आधार पर उन्होंने काव्य के सुकुमार और विचित्र मार्गों का विभाजन किया है। कवि और काव्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी की दूसरी प्रमुख धारणा है कि कवि की सहानुभूति की क्षमता पर ही काव्य में भावों की प्रकृति व्यंजना निर्भर रहती है। उन्होंने लिखा है—'जीवन के अनेक मर्मपक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जागती रहती है, उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है, जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है।'[३१८]

इस सम्बन्ध में दो मत नहीं कि काव्य में जीवन्त और प्रकृत भावाभिव्यंजना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कवि स्वयं उन भावों का वास्तविक अनुभव करे। प्राच्य और पाश्चात्य प्रायः सभी आलोचक इस सम्बन्ध में एकमत हैं। कवि की सर्जना-शक्ति की महत्ता सभी ने प्रतिपादित की है, उसमें असाधारण अनुभूति की क्षमता स्पष्ट-रूप से अन्तर्भूत है।

कवि और काव्य के संबंध में शुक्ल जी की तीसरी प्रमुख धारणा है कि कवि की कल्पना के ही अनुकूल काव्य में भावों के प्रकृत आधार या विषय का यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है।[३१९] उनका कहना है कि जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है।[३२०]

शुक्ल जी का प्रस्तुत प्रतिपादन भी निर्विवाद रूप से सत्य है। कल्पना की महत्ता पर पृथक् और स्वतन्त्र विचार पहले किया जा चुका है।

कवि-गुण

'कवि इस लोक का जीव ही नहीं है, वह पार्थिव जीवन से परे है, उसका एक दूसरा ही जगत् है, वह पैगम्बर है, औलिया है, रहस्यदर्शी है' आदि बातों को शुक्ल जी ने भावावेश में कवि की स्तुति में कही जाने वाली 'लचर बातें' कहा है। सचमुच ये बातें विवेक-विरुद्ध हैं। इस सन्दर्भ में उनका अपना मत वैज्ञानिक एवं विवेक सम्मत है। उनकी दृष्टि में कवि काव्य का कर्ता अथवा स्रष्टा होता है। काव्य-सृष्टि के लिए उसमें कुछ गुण अपेक्षित होते हैं। उन्होंने क्रमबद्ध रूप में तो नहीं, किन्तु काव्य पर विचार करते हुए प्रसंगवश कवि के गुणों का निर्देश यत्र-तत्र किया है। उनकी दृष्टि में कवि-प्रतिभा ही काव्य का मूल हेतु है, अतः प्रतिभा ही कवि का मूल गुण सिद्ध होती है। कवि-प्रतिभा के अंतर्गत भावुकता और कल्पना दोनों ही समाविष्ट हैं। उनकी दृष्टि में कवि के लिए भावुकता और कल्पना दोनों ही गुण अनिवार्य हैं। उनका कथन है कि 'भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।'[३२१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में भावुकता एवं कल्पना के अतिरिक्त 'भाषा पर अधिकार' भी कवि का एक अनिवार्य गुण है। तीनों गुणों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी वे कवि का मूल गुण 'भावुकता' अर्थात् अनुभूति की तीव्रता ही मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है।'[३२२] अन्यत्र भी लिखा है 'भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है।'[३२३] इस प्रकार भावुकता ही उनकी दृष्टि में कवि का मूल गुण ठहरती है। 'कल्पना' और 'भाषा पर अधिकार' भी कवि के अनिवार्य गुण हैं, किन्तु मूल गुण नहीं, सहयोगी हैं।

कल्पना कवि की विशेष सहायिका होती है। यही उसकी अनुभूति या भावुकता को ऊँची-नीची भूमियों पर ले जाती है, जिससे कवि अपने कर्म की पूर्ति में सफल होता

है। कल्पना और तीव्र अनुभूति अथवा भावुकता से सुसम्पन्न होते हुए भी कवि मूक ही बना रह जायगा, यदि वह अनुभूत एवं प्रस्तुत भाव या वस्तु को अभिव्यक्ति देने के लिए आवश्यक समर्थ भाषा से वंचित है। अतः शुक्ल जी का उपर्युक्त कथन कि 'भावुक जब कल्पना सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है पूर्णतया युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कवि-प्रतिभा के अतिरिक्त शुक्ल जी ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी आवश्यक काव्य-हेतु माना है अतः वे भी कवि के आवश्यक गुण सिद्ध होते हैं। काव्य की सृष्टि के निमित्त शुक्ल जी कवि में ऐसी शक्ति अनिवार्य मानते हैं, जिससे कि वह जगत् के वैचित्र्य के बीच निवास करने वाले मानव-मात्र के सामान्य हृदय को पहचान सके। यह शक्ति जिसमें जितनी ही प्रभूत मात्रा में होगी, वह उतना ही महान् कवि समझा जायगा। उन्होंने लिखा है, 'सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।'[३२४]

शुक्ल जी की दृष्टि में सच्चे कवि के लिए मुक्त-हृदय होना आवश्यक होता है। उनका मत है कि 'अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है।'[३२५] इसी प्रकार वे जीवन के मर्मपक्ष की वास्तविक सहानुभूति का गुण प्रकृत कवि के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'जीवन के अनेक मर्मपक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जागती रहती है, उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है, जिसको सामान्यतः सब का हृदय अपना सकता है।'[३२६]

शुक्ल जी की दृष्टि में यदि कवि में मनुष्य की अन्तःप्रकृति को परखने का गुण नहीं है तो वह इस बात की बहुत सटीक कल्पना न कर सकेगा कि कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में कैसे सटीक भाव उठते हैं।[३२७] उनकी दृष्टि में एक प्रकृत कवि का एक गुण यह भी है कि वह स्वयं को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर जीवन और जगत् का वैविध्यपूर्ण अनुभव प्राप्त करे और इस प्रकार अधिक से अधिक विषयों तक अपनी रागात्मिका वृत्ति एवं भावात्मक सत्ता का विस्तार कर ले। महाकवि तुलसी की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है—'प्राप्त-प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।'[३२८] आचार्य शुक्ल प्रकृति-निरीक्षण का भी गुण कवि में आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं—'प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिए कवि की आँखें खुली रहनी चाहिए, उसका मृदु-संगीत

सुनने के लिए उसके कान खुले रहने चाहिए और सब का प्रभाव ग्रहण करने के लिए उसका हृदय खुला रहना चाहिए।'[३२९]

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि कवि मानव-समाज का एक विशिष्ट प्राणी होता है सामान्य नहीं। विशिष्ट इस दृष्टि से कि उसकी भावुकता, कल्पना और भाषा आदि के गुण सामान्य व्यक्तियों से उच्चतर होते हैं। सभी मनुष्यों के पास हृदय होता है अतः सभी में अनुभूति होती है, किन्तु कवि की अनुभूति अन्यों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। इसी प्रकार उसकी कल्पना और भाषा भी अन्यों की अपेक्षा अधिक पूर्ण, सशक्त एवं चारु वस्तु भावाभिव्यंजक होती है। तात्पर्य यह कि वह प्रतिभावान एवं भाषा का कुशल प्रयोक्ता होता है।

यहाँ इतना ही निर्दिष्ट करना पर्याप्त होगा कि शुक्ल जी की यह कवि सम्बन्धी धारणा शत-प्रतिशत भट्टतौत की कवि संबंधी धारणा के अनुरूप है। भट्टतौत ने लिखा है—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः ॥[३३०]

अर्थात् नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम है प्रतिभा और ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित सजीव वर्णना में निपुण व्यक्ति का नाम है कवि।

( भट्टतौत के काव्य-कौतुक का उद्धरण )

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टतौत की प्रतिभा और वर्णना निपुणता का योग, शुक्ल जी की भावुकता, कल्पना और भाषा पर अधिकार के योग के बिल्कुल बराबर है, न कि तनिक कम, न तनिक अधिक, क्योंकि शुक्ल जी की भावुकता और कल्पना का योग बराबर है प्रतिभा के। शुक्ल जी की दृष्टि में 'कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानवस्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।'[३३१]

## कवि-कर्म

कवि काव्य के माध्यम से अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाता है। अतः शुक्ल जी की दृष्टि में 'अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है।'[३३२] कवि-कर्म विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष। 'कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती हैं, और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है।'[३३३]

कवि-कर्म विधान के उपर्युक्त दोनों पक्षों को शुक्ल जी समान स्थान नहीं देते,

एक को प्रमुख मानते हैं दूसरे को गोण। उनकी दृष्टि में काव्य में विभाव ही मुख्य होता है।[334] *अतः वे विभाव-विधान को ही कवि का प्रधान कर्म मानते हैं।* उन्होंने लिखा है कि 'भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण ही कवि का पहला और सबसे प्रधान काम है।'[335] यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका।[336] क्योंकि विभाव चित्रमय होता है, अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलम्बन होती है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है।[337]

कवि ज्ञान-विस्तार के साथ-साथ अपने हृदय का भी विस्तार करता है। अतः शुक्ल जी की दृष्टि में 'विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्म-स्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी कवि का एक कर्तव्य कर्म होता है।'[338]

*सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों के भाव और व्यापार जटिल होते गये* और उनके मूल रूप आच्छन्न अथवा प्रच्छन्न होते गये।[339] शुक्ल जी की दृष्टि में भावों और व्यापारों का प्रच्छन्न रूप उनके मूलरूपों सा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। अतः उनकी दृष्टि में प्रच्छन्नता का उद्घाटन भी कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है।[340] ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य *के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने* के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। स्पष्ट है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता जायगा।[341]

काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है, अतः उनकी दृष्टि में कवि का काम है बिम्ब ग्रहण कराना, अर्थग्रहण कराना मात्र नहीं। वे ध्वनिकार के इस कथन से सहमत हैं कि 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्म-पदलाभः।'[342]

शुक्ल जी की दृष्टि में 'अपात्रों की आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति[343] करना, द्रव्य न देने वालों की निराधार निन्दा करना,[344] श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना,[345] बात-बात में उनको बधाई देना कवि का काम नहीं, अपितु जीवन की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा सौंदर्य का साक्षात्कार कराना, कर्म-सौंदर्य के प्रभाव द्वारा सच्ची प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को जागरित करना, जगत् एवं जीवन की अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय का दर्शन कराना ही कवि का काम है। उनका कहना है कि 'सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूंढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती

हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।'[३४६]

काव्य में कवि का कर्तृत्व

आचार्य शुक्ल ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हेतु मानकर वस्तुतः कवि-कर्तृत्व की ही प्रधानता स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त कवि-कर्म के विवेचन से भी काव्य में कवि के कर्तृत्व के प्रति उनके दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। उन्होंने काव्य के विभाव और भाव दोनों ही पक्षों के विधान को कवि-कर्म माना है, अतः काव्य में कवि के कर्तृत्व की उनकी स्वीकृति स्पष्ट ही है। साथ ही साथ सभ्यताजन्य प्रच्छन्नता के उद्घाटन द्वारा भावों और व्यापारों के मूल रूपों का चित्रण करना कवि-कर्म का अनिवार्य अंश मानकर उन्होंने काव्य में कवि के कर्तृत्व को और भी स्पष्ट और परिपुष्ट किया है।

समग्र भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में किसी न किसी अंश में काव्य में कवि के कर्त्तृत्व की स्वीकृति रही है, उसमें कहीं भी कवि के कर्तृत्व का एकांत निषेध नहीं मिलता है। अलंकारवादी तथा रसध्वनिवादी, दोनों ही आचार्यों ने काव्य में कवि का कर्त्तृत्व स्वीकार किया है। संस्कृत की अनेक सूक्तियों में कवि को प्रजापति के समकक्ष माना गया है, जो काव्य में कवि के कर्तृत्व की ही प्रबल घोषणा है।

(अ) अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते। [अग्निपुराण]

अर्थात् इस अपार काव्य-संसार में कवि ही प्रजापति है, जैसा जैसा उसे रुचता है वैसा ही रूप वह इसे देता है।

(ब) न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।

अर्थात् कवि दूसरा सृष्टिकर्ता है, उसका वर्णन मिथ्या नहीं होता।

(स) कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।। आदि [ईशावास्योपनिषद्]

इस संदर्भ में आचार्य कुन्तक सर्वाधिक बढ़े-चढ़े हैं। उन्होंने काव्य के मूल तत्त्व वक्रोक्ति को सर्वथा कवि-व्यापार-जन्य घोषित कर काव्य में कवि के कर्तृत्व को सर्वाधिक प्रत्यक्ष किया और काव्य को मूलतः कवि कर्म मानकर परिभाषित किया कि 'कवेः कर्म काव्यम्'[३४७]—कवि का कर्म काव्य है। कहना यही चाहिए कि यद्यपि शुक्ल जी वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व न मानकर भाव या रस को ही मूल तत्त्व मानते हैं, किन्तु उसे वे स्वयंप्रभू न मान कर कवि-कृत मानते हैं, अतः काव्य में कवि के कर्तृत्व की स्वीकृति में वे कुंतक से पीछे नहीं कहे जा सकते।

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र में भी अधिकांश समीक्षक काव्य में कवि के कर्तृत्व की स्थिति स्वीकार करते रहे हैं और करते हैं। बीसवीं शती में केवल इलियट ही एक ऐसे समीक्षक हुए, जिन्होंने अतिव्यक्तिवाद से खीझकर काव्य में कवि के कर्तृत्व को ही मानने से इन्कार कर दिया। वे कवि को माध्यम मात्र मानते हैं, कर्ता नहीं।

उनके मतानुसार सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी मानसिक शक्ति भी समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है उसका मन अधिक से अधिक भावों और संवेदनाओं का अधिक से अधिक सफल माध्यम बन सके।[३४८] उनकी मान्यता है कि सृजन प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समन्वय का नाम ही काव्य-रचना है। किन्तु यह समन्वय कवि की सचेष्ट क्रिया (Conscious Activity) नहीं है, यह तो सृजन-प्रेरणा के प्रभाव से आप घटित हो जाता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के मेधावी आचार्य युंग का भी कुछ ऐसा ही मत है।[३४९] किन्तु आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में यह असंदिग्ध रूप से सत्य है कि वे कवि को माध्यम मात्र मानने के लिए तैयार नहीं, उनकी दृष्टि में कवि काव्य का कर्ता है। आचार्य मम्मट ने कविता को कविवाङ् निर्मिति'[३५०] कहा है। आचार्य शुक्ल ने भी उसे शब्दविधान की संज्ञा दी है। दोनों ही आचार्यों ने काव्य में कवि का कर्तृत्व ही स्वीकार किया है। दोनों की ही दृष्टि संतुलित है, अति-रंजित नहीं।

### कवि-कोटि

आचार्य शुक्ल ने पृथक् रूप से 'कवि-कोटि' का विवेचन नहीं किया है, किन्तु उनकी कृतियों में अनेक ऐसे अंश हैं, जिनके प्रकाश में कवि-कोटि के सम्बन्ध में उनकी मूल दृष्टि की खोज की जा सकती है। सबसे पहले काव्य की कसौटी[३५१] के आधार पर कवि की दो कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं। पहला सच्चा या असली कवि और दूसरा नकली कवि। असली कवि सामान्य भाव-भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और नकली कवि उसकी नकलमात्र करता है अतः उसके वर्णन में रसमग्न करने की क्षमता नहीं होती। सच्चा सहृदय ही शुक्ल जी की दृष्टि में सच्चा कवि होता है, और सहृदयता की नकल करने वाला नकली कवि। उनकी दृष्टि में सच्चा सहृदय वही है, जिसका हृदय प्रकृति के मधुर, सुसज्जित और सुन्दर तथा रूखे, कर्कश और भयंकर दोनों ही रूपों में साथ ही जीवन के भी कोमल और कठोर दोनों पक्षों में रमता है।[३५२] केवल तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक और कलाओं की बारीकी पर मुग्ध होने वालों को वे सच्चा कवि नहीं मानते।[३५३]

विषय-क्षेत्र के विचार से उन्होंने कवियों की तीन कोटियाँ बतायी हैं—(१) प्रायः नर-प्रकृति के ही वर्णन में लीन रहने वाले कवि। (२) प्रायः बाह्य प्रकृति के वर्णन में लीन रहने वाले कवि और (३) दोनों में समान रुचि रखने वाले कवि। आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था को दृष्टि में रखते हुए कवियों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—[३५४] (१) केवल आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले कवि, (२) केवल आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले कवि, (३) दोनों को लेकर चलने वाले कवि। आचार्य शुक्ल प्रथम दोनों कोटियों के कवियों को अधूरा कवि मानते हैं, उनकी दृष्टि में वे ही कवि पूर्ण कवि होते हैं जो आनन्द मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौंदर्य, माधुर्य, सुषमा, विभूति,

उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होने के साथ ही साथ आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संरक्षण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं।[३५५]

शुक्ल जी ने एक प्रकार के कवि का और उल्लेख किया है, वह है 'मूक कवि'। उनका कहना है कि अत्यन्त गहरी अनुभूति वाले बहुत से भावुक अपनी अनुभूतियों की व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते। वे जीवन-भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं।[३५६]

आचार्य शुक्ल का 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक समीक्षा ग्रन्थ गोस्वामी जी की किसी कृति-विशेष का समीक्षा ग्रन्थ नहीं, अपितु उनकी ही समीक्षा का ग्रन्थ है। इसमें उन्हीं की समस्त कृतियों के आधार पर उन्हीं की समीक्षा और मूल्यांकन है। इससे यह सिद्धान्त संकेतित होता है कि किसी कवि या लेखक का मूल्यांकन और उसकी समीक्षा उसकी समस्त कृतियों के आधार पर की जानी चाहिए, न कि उसकी किसी विशिष्ट कृति के आधार पर, चाहे वह कृति तुच्छतम हो या उत्कृष्टतम। शुक्ल जी की दृष्टि में जितने ही गूढ़, ऊँचे और व्यापक विचारों, जितने ही भव्य और विशाल तथ्यों के साथ मानव के किसी भाव या मनोविकार का संयोग कोई कवि कराता है, वह उतना ही उच्च होता है।[३५७]

### काव्य-अधिकारी

जिस प्रकार काव्य-सृजन के लिए कवि में कुछ विशिष्ट गुण शुक्ल जी अपेक्षित मानते हैं, उसी प्रकार उसके आस्वादकर्त्ता में भी। उनकी दृष्टि में तुच्छवृत्ति वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। वे काव्य में रमाने की शक्ति मानते हैं और कवि में रमने की शक्ति या भावुकता या सहृदयता मानते हैं। अतः वे पाठक या श्रोता में भी रमने वाली शक्ति या भावुकता या सहृदयता का होना आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में मात्र कुतूहल बालवृत्ति है,[३५८] काव्य के पाठक या श्रोता का गुण नहीं, क्योंकि कविता कौतुक नहीं है,[३५९] कविता सुनना और तमाशा देखना दोनों भिन्न बातें हैं।[३६०] कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है।[३६१] उसकी यह भावमग्नता या तल्लीनता उसकी भावुकता या सहृदयता ही है। यही सहृदयता या भावुकता काव्य के पाठक या श्रोता का मूल गुण है। केवल अनूठी बात सुनने की उत्कण्ठा रखने वाले शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य रसिक नहीं हो सकते। उन्होंने लिखा है—'अनूठी बात सुनने की उत्कण्ठा रखने वाले जब काव्य-रसिक समझे जाने लगे तब भिन्न-भिन्न रसों के प्रवाह को दबाकर अद्भुत रस सब के ऊपर उछलने लगा।'[३६२] उनकी दृष्टि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान प्रत्यक्ष रूप ही होते हैं। अतः उनका कहना है कि 'इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है, वे उतने ही

रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं । जो किसी मुख के लावण्य, वनस्थली की सुषमा, नदी या शैलतटी की रमणीयता, कुसुम-विकास की प्रफुल्लता, ग्राम-दृश्यों की सरल माधुरी देख मुग्ध नहीं होता, जो किसी प्राणी के कष्ट-व्यंजक रूप और चेष्टा पर करुणार्द्र नहीं होता, जो किसी पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से नहीं तिलमिलाता, उसमें काव्य का सच्चा प्रभाव-ग्रहण करने की क्षमता कभी नहीं हो सकती । जिसके लिए ये सब कुछ भी नहीं हैं, उसके लिए सच्ची कविता की अच्छी से अच्छी उक्ति भी कुछ नहीं है ।'[३६३] कवि की ही भाँति उसके पाठक या श्रोता का भी दूसरा प्रधान गुण है 'कल्पना ।' अन्तर केवल यही है कि कवि में जहाँ विधायक कल्पना अपेक्षित होती है, वहाँ श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक ।[३६४]

शुक्ल जी की दृष्टि में कवि का तीसरा प्रधान गुण है—वर्णनानैपुण्य (भाषाधिकार) जो श्रोता या पाठक के लिए अपेक्षित नहीं, क्योंकि मूक या अपढ़ भी काव्य का आस्वादकर्ता हो सकता है । कहना न होगा कि शुक्ल जी की यह धारणा संस्कृत के आचार्यों के अनुकूल है ।

**काव्य और कला**

डॉ० शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—'प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं में साहित्य या काव्य की गणना नहीं कराई गई है । केवल इतनी सी बात के कारण भारतीय-अभारतीय का अवैज्ञानिक भावना जन्य भेद खड़ा करके उन्होंने (शुक्ल जी ने) साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित किया और साहित्य समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया ।[३६५]

अनेक अन्य आलोचकों की भी कुछ ऐसी ही धारणा है । डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा का भी मत है कि शुक्ल जी काव्य को कला नहीं मानते । एक स्थान पर शुक्ल जी ने लिखा है—'सारांश यह कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन-बहलाव । यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी सा हो रहा है । इससे न जाने कब पीछा छूटेगा ? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था ।'[३६६] संभवतः इसी कथन के आधार पर इन आलोचकों ने अपना मत निर्धारित किया है । एक अन्य स्थान पर उन्होने लिखा है—'यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए'[३६७] स्पष्ट है कि जैसे उन्होंने पूर्व उद्धरण में 'कला' शब्द से पीछा छूटने की बात कही है वैसे ही इसमें 'कला' शब्द को दूर ही से नमस्कार करने की बात कही है, परन्तु साथ ही एक शर्त लगा दी है, यदि कला का अर्थ मनोरंजन या उपभोगमात्र का विधायक है तो, अन्यथा नहीं । यदि उसका अर्थ मनोरंजन या उपभोग से आगे बढ़कर सौंदर्य या मंगल विधायकत्व है तो काव्य के लिए 'कला' शब्द ग्राह्य है, दूर ही से नमस्कार्य

नहीं। सहज ही स्पष्ट है कि पूर्व उद्धरण में उन्होंने जिस 'कला' से पीछा छुड़ाने की बात कही है, उसका अर्थ है सजावट या तमाशा, मनोरंजन या मनबहलाव, सौन्दर्य या मंगल नहीं। अतः यह कहना कि 'शुक्ल जी काव्य को कला नहीं मानते' या 'उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थ-हेतुक घोषित किया और साहित्य-समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया' निश्चय ही एकांगिता और पर्याप्त सीमा तक झूठ और अनुचित है।

वस्तुतः शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का कला होना या न होना कला के अर्थ पर निर्भर करता है। यदि कला का अर्थ मात्र मनोरंजन या उपभोग तक सीमित है तो काव्य कला नहीं क्योंकि उसका उद्देश्य गम्भीर है।[३६८] और यदि कला का अर्थ मात्र मनोरंजन या उपभोग से आगे बढ़कर सौन्दर्य या मंगल है तो काव्य कला है। वस्तुतः स्वयं शुक्ल जी 'कला' शब्द को मनोरंजन या उपभोग मात्र के संकुचित अर्थ में स्वीकार नहीं करते, वे उसका गम्भीर उद्देश्य मानते हैं। वे 'आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले'[३६९] और 'आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले'[३७०] दोनों ही प्रकार के काव्यों में कला की दृष्टि अपेक्षित मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोक-गति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यही तक नहीं, व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है न हो सकेगा।'[३७१] इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य से सुस्पष्ट है कि शुक्ल जी कला को साधारणीकरण अर्थात् रसात्मकता के लिए भी अपेक्षित मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला की चूक साधारणीकरण में बाधक होती है। इस विवेचन से यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध है कि शुक्ल जी कला अथवा कलात्मकता को काव्य के क्षेत्र में तिरस्कृत नहीं करते, यह अवश्य है कि वे कलात्मक अतिरेक को काव्य क्या किसी भी कला के लिए उचित नहीं मानते। उनका मत है कि कलात्मक अतिरेक द्वारा कला का प्रभाव विक्षत हो जाता है।[३७२] 'श्रद्धा भक्ति' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत 'साधन-सम्पन्नता' के दुरुपयोग की विवेचना करते हुए उन्होंने देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत और काव्य में दुरुपयोग की सीमा में पहुँचे हुए कलात्मक अतिरेक की आलोचना की है और कहा है कि : 'यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को पीलपाँव।'[३७३] निश्चय ही कलात्मक अतिरेक का तिरस्कार कला अथवा कलात्मकता का तिरस्कार नहीं कहा जा सकता। काव्य को उन्होंने अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में कला की संज्ञा दी है। जैसे, अपने 'कविता क्या है' ? शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'काव्य एक बहुत व्यापक कला है।'[३७४]

काव्य को कला मान लेने पर अन्य कलाओं से उसके सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। वस्तुतः काव्यादि सभी कलाओं में कुछ मौलिक समानताएँ मिलती हैं। शुक्ल जी

का मत है कि सभी कलाओं के लिए प्रतिभा और अभ्यास की अपेक्षा होती है ;[३७५] सभी कलाओं का लक्ष्य निजी अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना होता है'[३७६] अतः काव्य का सम्बन्ध अन्य सभी कलाओं से स्वतः सिद्ध है किन्तु वास्तु और स्थापत्य कलाओं की अपेक्षा चित्र और संगीत कलाओं से उसका कहीं अधिक निकट का संबंध होता है ।

शुक्ल जी का कथन है कि 'मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है'[३७७] और 'नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है ।'[३७८] स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में चित्र और संगीत कलाएँ काव्य के लिए अधिक सहायक और उपयोगी हैं । संगीत की अपेक्षा चित्र को वे काव्य के अधिक निकट पाते हैं । वे यवनान देश की इस प्राचीन उक्ति से कि 'काव्य मुखर चित्र है और आलेख (चित्र) मौन काव्य' सहमत हैं ।[३७९] उनका यह दृष्टिकोण तर्कसंगत और वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि चित्र और काव्य दोनों में ही चित्रण प्रधान होता है, माध्यम का भेद अवश्य है । किन्तु मूल संगीत इसके विपरीत चित्रण हीन होता है । संगीत में सार्थक ध्वनि की आवश्यकता ही नहीं, वह तो नाद से ही सम्बन्ध रखता है । नाद और स्वर ही मूल संगीत हैं । संगीत की सर्वोच्च अवस्था में केवल स्वर संधान ही माना गया है । काव्य में संगीत होता है, किन्तु वह निरपेक्ष संगीत से भिन्न कोटि का होता है । काव्य छन्द की संगीतात्मकता संगीत के लय से कुछ भिन्न होती है ।[३८०] शुक्ल जी की भी यही मान्यता है ।[३८१] उन्होंने लिखा है कि 'कवियों की शब्दजन्य लय संगीत से कुछ पृथक् वस्तु है, वह संगीत के नियमों से शासित भी नहीं होती । अनेक लय-प्रेमी कवियों ने निरपेक्ष संगीत में थोड़ी भी रुचि नहीं दिखाई, कुछ ने तो घृणा ही प्रदर्शित की है । कलाओं में काव्य ही सर्वश्रेष्ठ कला है अन्ततः यही शुक्ल जी का पक्ष है ।

आचार्यों ने इस विषय पर मनन करके यह तथ्य निकाला है कि जिस ललित कला का जितना ही अमूर्तरूप होगा वह उतनी ही निम्न श्रेणी की और जिसका जितना ही अमूर्त रूप अधिक होगा वह उतनी ही उच्च श्रेणी की होगी ।[३८२] किन्तु इस सिद्धांत को स्वयंसिद्ध क्यों मान लिया जाय ? अमूर्तत्व को उच्चता का और मूर्तत्व को निम्नता का आधार क्यों मान लिया जाय ? आश्चर्य है कि इस सिद्धान्त को मानने वाले अनेक आलोचकों ने इसी कसौटी के आधार पर काव्य को सर्वोत्कृष्ट कला माना है जब कि इस आधार पर संगीत सर्वोत्कृष्ट कला मानी जानी चाहिए, क्योंकि संगीत काव्य की अपेक्षा अधिक अमूर्त होता है । काव्य में शब्दों की आवश्यकता पड़ती है । और शब्द उसे कहते हैं—जिस नाद के साथ अर्थ जुड़ा हो । अतः अर्थ जोड़ने की प्रक्रिया सामाजिक और सामूहिक उपादान होने के कारण अधिक मूर्त है । संगीत में सार्थक ध्वनि की आवश्यकता नहीं, वह तो नाद से ही सम्बन्ध रखता है ।'[३८३] किन्तु सामान्यतया काव्य ही सर्वोत्कृष्ट कला के रूप में मान्य है संगीत नहीं । अतः अमूर्तत्व औरमूर्तत्व मात्र को क्रमशः कला की उच्चता और निम्नता का आधार नहीं माना जा सकता । निश्चय ही कला-विशेष की उच्चता के निर्णय के लिए उसको अपनी उपयोगिता, क्षमता और

पद्धति आदि का भी ध्यान रखना होगा। सम्भवतः आचार्य शुक्ल ने यही दृष्टिकोण अपनाया है, किन्तु स्पष्ट शब्दों में ऐसा उल्लेख या निर्देश उनकी रचनाओं में कहीं नहीं मिलता।

अन्त में इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य विचारकों द्वारा मनोरंजन के कटघरे में कैद कला को मुक्त कर सौन्दर्य को मंगल के रम्य प्रदेशों का परिभ्रमण करा कर उसे गौरवान्वित किया और काव्य और कला स्वीकार कर भारतीय परम्परा की ऊँची देहली के बाहर पदन्यास किया, जो सराहनीय है। जहाँ तक काव्य और अन्य कलाओं से उसके सम्बन्ध के विवेचन का प्रश्न है—वह अवश्यमेव अपर्याप्त कहा जायगा। काव्य या साहित्य का अन्य कलाओं से सम्बन्ध बहुविध और पेचीदा है, जिसका उल्लेख उन्होंने पूरी तरह नहीं किया है। स्रोत, प्रभाव, प्रेरणा, माध्यम, सहयोग, विरोध आदि विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर उनके संबंधों का प्रत्यक्षीकरण किया और कराया जा सकता है, किन्तु शुक्ल जी ने ऐसा नहीं किया। फिर भी चित्रकला, संगीत और काव्य के सम्बन्ध के विषय में उन्होंने संक्षेप में ही जो कुछ कहा है, वह नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

### काव्य-रचना और आलोचना

'काव्य-रचना' और 'आलोचना' का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, यह एक प्राचीन प्रश्न है। आचार्य शुक्ल ने इस प्रश्न पर प्रत्यक्षतः विचार नहीं किया है। किन्तु उनके काव्य-विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे इन दोनों को एक ही नहीं मानते, किन्तु इनमें गहरी सम्पृक्ति अवश्य मानते हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक निबन्ध में उन्होंने साहित्यालोचन को साहित्य के एक प्रमुख रूप निबन्ध के अन्तर्गत माना है।'[३८४] 'साहित्य के विविध रूप' के अन्तर्गत इसका विशद विवेचन किया जायगा।

### काव्य और इतिवृत्त

शुक्ल जी के मतानुसार 'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है'[३८५] अतः वे इतिवृत्त मात्र को काव्य और उसके कर्ता को कवि मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे ध्वनिकार आनन्दवर्धन के 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः'[३८६] से पूर्ण रूपेण सहमत हैं।[३८७] उन्होंने लिखा है कि "देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि 'हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है' तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे।"[३८८]

डॉ० नगेन्द्र का मत है कि जिसे आचार्य भामह ने 'वार्ता' कहा है, उसे ही शुक्ल जी ने 'इतिवृत्त कथन' कहा है।[३८९] किन्तु भामह की 'वार्ता' और शुक्ल जी के

इतिवृत्त की एकता संदिग्ध प्रतीत होती है। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति से हीन कथन को 'वार्ता' नाम दिया है।[390] उन्होंने लिखा है कि 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं...इत्यादि। यह भी क्या कोई काव्य है ? यह तो वार्ता है।' मूल संस्कृत रूप निम्नांकित है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥[391]

ऊपर से देखने पर तो लगता है कि शुक्ल जी का इतिवृत्त भामह की 'वार्ता' से अभिन्न है, क्योंकि शुक्ल जी ने इतिवृत्त का जो उदाहरण दिया है वह भामह की वार्ता के उदाहरण के ही समान है। दोनों में ही शब्द-अर्थ का साधारण प्रयोग हुआ है, विशिष्ट नहीं। किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी को 'इतिवृत्त' भामह की 'वार्ता' से सैद्धांतिक स्तर पर तत्त्वतः भिन्न है, क्योंकि भामह की दृष्टि में 'वार्ता' का लक्षण है—वक्रोक्ति हीनता जिसके अनुसार भाव-सम्पन्न होने पर भी मात्र वक्रोक्ति-रहित होने के कारण कोई वाक्य काव्य नहीं कहला सकता, जब कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में इतिवृत्त का लक्षण 'वक्रोक्तिहीनता' न होकर बिम्ब-ग्रहण कराने की असमर्थता है[392] जिसके अनुसार वक्र त्तिहीन होने पर भी कोई वाक्य किसी भाव के विषय का बिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होने मात्र से काव्य कहलाने का अधिकारी ठहरता है। यही कारण है कि वक्रोक्ति अथवा उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार को काव्य का नित्य लक्षण नहीं मानते, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्ल जी के इतिवृत्त और भामह की वार्ता में कोई साम्य ही नहीं। वस्तुत पर्याप्त साम्य के बावजूद दोनों एक नहीं, अपितु दृष्टिकोणतः और तत्त्वतः भिन्न होने के कारण दो हैं।

**काव्य और सूक्ति**

आचार्य शुक्ल ने काव्य और सूक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कहलाया है। उनका मत है कि 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक व्यंजना में लीन कर दे, वह तो है काव्य[393] और 'जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।'[394] इस प्रकार स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में काव्य और सूक्ति एक नहीं दो भिन्न वस्तुएँ हैं। उनमें प्रभावगत और स्वरूपगत अन्तर है। काव्य में भावात्मकता की प्रधानता होती है तो सूक्ति में चमत्कार की, अतः काव्य श्रोता या पाठक के मन को भाव या मार्मिक भावना में लीन करता है तो सूक्ति उसे कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि के विचार में प्रवृत्त करती है। इसी आधार पर शुक्ल जी का कहना है कि 'यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है।

जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य माना जायगा।'[३९५] विश्लेषण करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की दृष्टि में—

(अ) जहाँ उक्ति में भावात्मकता की प्रधानता होगी वह तो काव्य होगी ही किन्तु,

(ब) जहाँ उक्ति में चमत्कार की प्रधानता होगी, पर उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं होगा, वह भी काव्य ही होगी, सूक्ति नहीं, और

(स) जहाँ उक्ति में चमत्कार की प्रधानता इस सीमा तक होगी कि उसमें का भाव आच्छन्न होगा, वही सूक्ति होगी।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'देव' और 'मतिराम' का एक-एक 'सवैया' उद्धृत किया है और उन्हें चमत्कार की प्रधानता के बावजूद उनमें अन्तर्हित भावों की अनाच्छन्नता के कारण काव्य ही माना है, सूक्ति नहीं। इनमें से किसी एक का उल्लेख अनुचित न होगा। देव का 'सवैया' निम्नलिखित है—

'सांसन ही में समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥[३९६]

शुक्ल जी ने इसे चमत्कारप्रधान किन्तु अनाच्छन्न-भाव वाले काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि 'इस वर्णन में देव जी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक कल्पना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में ही विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है।'[३९७]

### काव्य और स्वप्न

शुक्ल जी का कहना है कि कुछ लोग काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। जैसे स्वप्न को वे अन्तस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यंजना कहते हैं, वैसे ही काव्य को भी।'[३९८] स्पष्ट है कि शुक्ल जी का संकेत मनोविश्लेषणवादियों विशेषकर फ्रायड और उनके अनुयायियों की ओर है। इस मत को उद्धृत कर शुक्ल जी ने अपना मत प्रस्तुत किया है।

इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'काव्य सर्वथा स्वप्न के रूप की वस्तुएँ नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कुछ मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इंद्रियों के सामने नहीं रहता और काव्य-वस्तु भी। दोनों के आविर्भाव का स्थान

भर एक है। स्वरूप में भेद है। कल्पना में आई हुई वस्तुओं की प्रतीति से स्वप्न में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। स्वप्न काल की प्रतीति प्राय: प्रत्यक्ष ही के समान होती है। दूसरी बात यह है कि काव्य में शोक के भी प्रसंग रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।'[३९९]

फ्रायड का विचार है कि साहित्य और कला आकांक्षापूर्ति (fulfilment of desire) मात्र हैं, जिस प्रकार स्वप्न की स्थिति है।[४००] आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि में स्वप्न और काव्य में मात्र प्रभवस्थल की समानता है और उनमें अन्तर स्वरूप और प्रतीति दोनों में है। विचार करने पर स्वप्न और काव्य में कुछ और समानताएँ मिल सकती हैं, जैसे दोनों में ही अवचेतन मन की प्रक्रियाएँ गतिशील रहती हैं, साथ ही दोनों में कम या अधिक कल्पनातिरेक का तत्त्व रहता है। इसी प्रकार कुछ अन्तर भी मिल सकते हैं। एक बड़े अन्तर की ओर चार्ल्स लैंब ने अपने एक निबन्ध में इशारा किया है—'कवि का स्वप्न जाग्रत स्वप्न है। वह अपने विषय से अभिभूत नहीं हो जाता, उस पर उसका अधिकार रहता है।'[४०१] स्वप्नद्रष्टा स्वप्न की स्थिति में विभोर रहता है, मनस् तत्त्व का नियंत्रण उसके हाथ में नहीं रहता, परन्तु कवि का उस पर पूरा अधिकार रहता है। सचमुच यह एक बड़ा अन्तर है। इस प्रकार स्वप्न और काव्य में कुछ समानताओं के बावजूद असमानताएँ ही अधिक स्पष्ट हैं, अत: उन्हें समान अथवा एक नहीं माना जा सकता। अत: शुक्ल जी का दृष्टिकोण तर्क संगत है। शुक्ल जी का दूसरा तर्क है कि काव्य में शोक के भी प्रसंग रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो। शुक्ल जी के इस तर्क का संगत उत्तर फ्रायड के पास है। उसके अनुसार शोक की अभिव्यक्ति स्वप्न में भी होती है। स्वप्न में भी हम दु:खद परिस्थितियों का पुनर्निर्माण करते हैं, इसलिए कि हमारी तत्सम्बन्धी जीवनगत असफलता का प्रतिकार हो सके। इन स्वप्नों में प्रच्छन्न रूप से पलायन की प्रवृत्ति नहीं रहती केवल वस्तुस्थिति का सामना करने का प्रयत्न रहता है, पुरास्थिति पर हावी होने की चेष्टा रहती है।[४०२] किन्तु इससे स्वप्न में दु:खद परिस्थितियों के पुनर्निर्माण का आकांक्षा तृप्ति के सिद्धांत के अनुकूल औचित्यमात्र प्रमाणित होता है, स्वप्न और काव्य की एकता नहीं। अत: शुक्ल जी का उपर्युक्त मत अविद्ध ही रह जाता है।

इसी प्रकार कुछ लोग काव्य को काम वासना की तृप्ति मात्र मान बैठते हैं।[४०३] इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि 'यह मत काव्य को ललित कलाओं में गिनने का परिणाम है।'[४०४] उनकी दृष्टि में 'उन कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है, यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है, किन्तु काव्य के सम्बन्ध में नहीं।'[४०५]

## काव्य और अध्यात्म

वर्तमान युग में विदेशी दृष्टि से ग्रस्त भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार न केवल काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्र में अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में आध्यात्मिकता को

ही भारतीयता का प्रमुख लक्षण माना जाता रहा है। शुक्ल जी ने भारतीय दृष्टि से भारतीयता के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार किया, और इस भ्रान्ति से काव्य और जीवन को मुक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने विदेशी चश्मों से भारतीयता को देखने वालों और आध्यात्मिकता को भारतीयता बतलाने वालों का व्यंग्य करते हुए लिखा है—"योरप ने कहा, 'भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं, उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की परवा नहीं होती।' बस दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता। देखिए हमारे काव्य में भी आध्यात्मिकता है, यह देखिए हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्तिकला की आध्यात्मिकता।"[४०६] स्पष्ट है कि वे (शुक्ल जी) आध्यात्मिकता को काव्य के क्षेत्र में भी, जीवन के अन्य क्षेत्रों की ही भाँति प्रमुखता नहीं देते। अन्यत्र उन्होंने स्पष्टरूप से लिखा है—"'आध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।"[४०७] वे इस शब्द को काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में निरर्थक वाग्जाल और अनुभूति की सच्चाई की कमी का एक कारण मानते हैं।[४०८]

### काव्य और 'वाद'

शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'सच्ची कविता किसी वाद को लेकर नहीं चलती'[४०९], क्योंकि 'वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।'[४१०] उनकी घोषणा है कि 'कविता के साम्प्रदायिक (वादग्रस्त) हो जाने पर प्रकृति के रूप और व्यापार अपने सच्चे अभिव्यक्ति-क्षेत्र से बाहर घसीटे जाकर साम्प्रदायिकों की खींचतान में पड़े रहेंगे और अपना असली प्रभाव खो बैठेंगे।'[४११] क्योंकि वादग्रस्त काव्य में प्रकृति के नाना रूप और व्यापार किसी वाद या सम्प्रदाय के घेरे में निरूपित बातों को मूर्त रूप में स्पष्ट करने या काव्य की भावात्मक शैली पर मनोरंजक बनाने के लिए, साधन-रूप में ही व्यवहृत होते हैं।[४१२] अतः "हर एक 'वादी' या 'सम्प्रदायी' प्रकृति के उन्हीं रूपों और व्यापारों को अपने-अपने वाद या सम्प्रदाय की बातों की अनुभूतियों, जो एक दूसरे सम्प्रदाय की बात के बिल्कुल विपरीत हो सकती हैं, को प्रदर्शित करने के लिए रखेगा।"[४१३] इसके अतिरिक्त शुक्ल जी की यह भी धारणा है कि वादग्रस्तता के कारण कभी-कभी काव्य में अभिव्यक्त सौन्दर्य या मंगल का वास्तविक गत्यात्मक स्वरूप नहीं रह जाता है, फलतः यह स्थिर हो जाता है, जबकि उनकी दृष्टि में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में *स्थिर और निर्विशेष (Static and absolute)* सौन्दर्य या मंगल कहीं नहीं है।[४१४] इन्हीं सब कारणों से वे 'वाद' या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभावसिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, सच्चे कवि का नहीं, मतवादी का काम मानते हैं।[४१५]

शुक्ल जी ने विज्ञान के वादों और साहित्य के वादों में तात्त्विक अन्तर माना है। उनका कथन है कि 'विज्ञान के वादों में जिस ईमानदारी और सचाई से काम लिया

जाता है, साहित्यिक वादों में नहीं। साहित्य के क्षेत्र में हर एक अपनी अलग हवा बहाने के फेर में रहता है और जरा-सा बढ़ावा पाने पर किसी एक बात को लेकर बहुत दूर तक निकल जाता है।'[४१६] आशय यह है कि विज्ञान का वाद जहाँ वास्तविकतापरक होता है, वहाँ साहित्य का वाद आतिशय्यग्रस्त और एकांगी होता है। यद्यपि शुक्ल जी काव्य के क्षेत्र में बाहर से 'वाद' का प्रवेश थोड़ा भी ठीक नहीं समझते, किन्तु साहित्य के भीतर के वादों का वे आँख मूँदकर तिरस्कार नहीं करते। उन्होंने लिखा है कि 'कई प्रकार के साहित्यवाद--साहित्य के बाहर के 'वाद' नहीं—हमारे यहाँ भी चले हैं, जैसे रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद इत्यादि।'[४१७] अन्यत्र उन्होंने इन्हें काव्य-समीक्षा के लिए उपयोगी माना है।[४१८] वास्तव में साहित्य के इतिहास में 'वादों' का इतना प्राचुर्य रहा है कि उसके प्रभाव से उन्हें अन्त में कहना पड़ गया है कि "यदि 'वाद' शब्द के बिना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद'।"[४१९]

### काव्य और दर्शन

आचार्य शुक्ल के मतानुसार काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना होता है, जब कि दर्शन का कार्य केवल ज्ञान कराना होता है।[४२०] अन्यत्र उन्होंने 'ज्ञान' का सम्बन्ध 'तर्कबुद्धि' से और अनुभव का सम्बन्ध 'रागात्मिका वृत्ति' से जोड़कर दोनों ( तर्कबुद्धि और रागात्मिका वृत्ति ) को अद्वैत भाव तक पहुँचने वाला बताया है।[४२१] उनका कथन है कि यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं।[४२२] उनकी दृष्टि में 'परमार्थ दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं।'[४२३] इस प्रकार अन्ततः उन्होंने दोनों का समन्वय कर दिया है।

### साहित्य और राजनीति

इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल जी साहित्य और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं, तभी तो उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विवेचन का एक प्रमुख आधार राजनीतिक परिस्थितियों को बनाया है। किन्तु तथापि वे साहित्य को किसी राजनीतिक दल अथवा उसके द्वारा प्रचारित मत से सदा के लिए जड़ देने के पक्ष में नहीं है। उनका कहना है कि 'साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।'[४२४] राजनीति के ऊपर रहने का आशय राजनीति से अलग रहने का नहीं, अपितु उसे अनुशासित रखने का है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राजनीति के वशीभूत न होकर साहित्य को उसे प्रभावित करना चाहिए। 'सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए' से यह अर्थ ध्वनित होता है कि कभी आवश्यकता पड़ने पर वह राजनीति के इशारों पर भी चल सकता है। पर हमेशा नहीं, वस्तुतः

शुक्ल जी का उक्त वाक्य जितना लचीला है, उतना ही लचीला साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध भी है। वस्तुतः शुक्ल जी चाहते हैं कि साहित्यकार अपने समसामयिक जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर स्वयं देखें और अपनी मौलिक चिंतना और स्वतंत्र विचारणा से काम लें, वे केवल राजनीतिक दलों की बातों का अंधानुकरण न करें।[४२५] वे राजनीति की सामाजिक केन्द्रीयता और महत्ता से अपरिचित अन्य आलोचकों की भाँति राजनीति को पूतना राक्षसी नहीं समझते, जो साहित्य-श्याम (अथवा काव्य-कृष्ण) के प्राण ले डालेगी। वास्तव में वे राजनीति के जनवादी और जन विरोधी (लोकवादी और लोकविरोधी) दोनों पहलुओं से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने साहित्य का राजनीति से कोई स्थिर सम्बन्ध न जोड़कर उसे लचीला बना रखा है।

शुक्ल जी साहित्य के लिए जन-आन्दोलनों का प्रभाव अच्छा समझते थे। उन्होंने सन् १९२० के पहले की हिन्दी कविता की कमजोरियों को राजनीतिक आन्दोलनों की कमजोरियों के कारण उत्पन्न माना है। उदाहरणार्थ उन्होंने भारतेन्दु युगीन कविता में उग्र राजनीतिक चेतना के अभाव का कारण तत्कालीन कमजोर राजनीतिक आन्दोलन को ही माना है। उन्होंने लिखा है—'बात यह थी कि राजनीति की लम्बी-चौड़ी चर्चा भर साल में एक बार धूमधाम के साथ थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों के बीच हो जाया करती थी और क्रियोत्पादक प्रभाव नहीं देखने में आता था।'[४२६] अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की दृष्टि में जन-आन्दोलन साहित्य के लिए हितकर होता है।

## साहित्य और साहित्यशास्त्र

साहित्य और साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि लक्षण ग्रन्थों के बनने के बहुत पहले से कविता होती आ रही थी। उन्हीं कविताओं को लक्ष्य करके लक्षण बनाये गये।[४२७] तात्पर्य यह कि शुक्ल जी साहित्यशास्त्र की रचना साहित्य पर आश्रित मानते हैं—साहित्य को साहित्यशास्त्र का पूर्ववर्ती मानते हैं और यह सर्वथा उचित ही है। इसी आधार पर वे कहते हैं कि काव्य की रचना 'साहित्य शास्त्र पर अवलम्बित नहीं।'[४२८]

साहित्यशास्त्र के उद्देश्य एवं प्रयोजन के बारे में उनकी मान्यता है कि साहित्य के शास्त्रपक्ष की प्रतिष्ठा काव्य चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं।[४२९] उनके मतानुसार लक्षण आदि वास्तव में काव्य चर्चा की सुगमता के लिए बने।[४३०] उन्हें यह मालूम है कि प्रत्येक साहित्य के इतिहास में ऐसी स्थिति आती है जब साहित्यशास्त्र द्वारा निर्धारित काव्य के लक्षणों को ही सब कुछ मान लिया जाता है और उन्हीं के आधार पर काव्य-रचना होने लगती है। वे इस स्थिति को ठीक नहीं समझते।[४३१]

इस प्रकार की स्थिति हिन्दी साहित्य में भी आयी। रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का अत्यन्त घातक प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा। कुछ विशेष प्रकार के नायक-

नायिकाओं एवं उद्दीपनों आदि के भीतर बँधे रहने के कारण साहित्य का क्षेत्र संकीर्ण हो गया। शुक्ल जी ने इसका विरोध करते हुए कहा—'जिस प्रकार बाह्य दृश्यों के अनन्त रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी···विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं, उनके स्पष्टीकरण के लिए मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढांचे तैयार मिलने से पिछले कवियों में न रह गई।'[४३२]

इस सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'जिस तरह १९वीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने पुराने दरबारी साहित्यशास्त्र का ताना-बाना नष्ट करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था, उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीतिग्रन्थों के बन्धनों को तोड़कर हिन्दी साहित्य की आत्मा को मुक्त किया है।'[४३३] अथवा 'सामन्ती साहित्यशास्त्र का टाट उलट कर हिन्दी का अपना मौलिक शास्त्र रचा।'[४३४]

इससे प्रकट होता है कि शुक्ल जी रूढ़िवादी भाववादी विचारकों की भाँति साहित्य को साहित्यशास्त्र का दास न मानकर उसे स्वतन्त्र रूप से गतिशील मानते हैं। उनकी विचारणा के अनुसार साहित्यशास्त्र ही साहित्य का अनुगमन करता है। साहित्य साहित्यशास्त्र के नियमों का अन्धपालन नहीं करता और अन्त में जाकर साहित्यशास्त्र ही स्वयं को साहित्य के अनुकूल बनाता है।

### काव्य और सौन्दर्यशास्त्र

आचार्य शुक्ल के विचारानुसार काव्य से सौन्दर्यशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।[४३५] उनकी दृष्टि में 'सौन्दर्यशास्त्र' काव्य सम्बन्धी मीमांसा का ठीक स्थान नहीं है। उनका स्पष्ट विचार है कि 'पहले तो सौन्दर्यशास्त्र अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका सम्बन्ध नहीं।'[४३६]

इसके विपरीत योरप में सौंदर्यशास्त्र का काव्य से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता रहा है। चित्रकला और मूर्तिकला आदि शिल्पों की भाँति काव्य का भी विचार उसके अन्तर्गत किया जाता रहा है। आचार्य शुक्ल उसे अत्यन्त बेढंगी बात मानते हैं।

वस्तुतः योरप में काव्य को वस्तु, चित्र, मूर्ति एवं संगीत आदि कलाओं की ही भाँति कला के एक भेद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। अतः स्वभावतः ही कला सम्बन्धी नियमों एवं मान्यताओं को काव्य पर भी लागू करने के प्रयत्न वहाँ होते रहे हैं। चूँकि सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत वास्तु, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं का विचार किया जाता था। अतः काव्य का भी विचार उसी के भीतर होने लगा था। किन्तु आचार्य शुक्ल जी उसे स्वीकार करने के लिए किसी भी शर्त पर तैयार नहीं। इस संबंध में डॉ० रामविलास शर्मा का कथन है कि—'पश्चिम के कुछ विचारकों ने साहित्य को गोचरता तक, इन्द्रियबोध और रूप रंग की सुन्दरता तक सीमित कर दिया है। इसी

कारण शुक्ल जी काव्यशास्त्र के बदले सौन्दर्य शास्त्र का प्रयोग गलत मानते हैं। उनका यह विरोध सही है। सौंदर्य से इन्द्रियबोध का ही सौन्दर्य लेना गलत है। सौंदर्य भावों और विचारों में भी होता है, मनुष्य के कर्मों में भी होता है।' कविता केवल वस्तुओं के ही रूप-रंग के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रस्तुत कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।'[४३७]

सौन्दर्यशास्त्र की ही भाँति 'सुन्दर' शब्द को भी वे काव्य के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी नहीं समझते। किन्तु वे उसे साहित्य मीमांसा से खारिज कर देने की सलाह भी नहीं देते हैं—उनका कथन सिर्फ इतना है—'काव्य के स्वरूप-लक्षण में 'सुन्दर' शब्द उतने काम का नहीं, जितना समझा जाने लगा है।'[४३८] वे 'सुन्दर' शब्द के स्थान पर पंडितराज जगन्नाथ द्वारा अपने काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'रमणीय' शब्द को कहीं अधिक उपयुक्त मानते हैं।[४३९] उन्होंने दोनों शब्दों के अर्थों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनके मतानुसार—"अर्थ के मैदान में 'सुन्दर' शब्द की दौड़ उतनी नहीं जितनी 'रमणीय' शब्द की। 'रमणीय' का अभिप्राय है, जिसमें मन रमे अर्थात् जिसे मन अपने सामने कुछ देर रखना या बार-बार लाना चाहे। 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर संकेत करता है और 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। यही दोनों के बीच का अन्तर है। अर्थ सम्बन्धी इसी अन्तर के कारण काव्य की समीक्षाओं में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके, कभी-कभी फिर यह कहने की जरूरत पड़ा करती है कि 'सौन्दर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नहीं।"[४४०]

इसी आधार पर आचार्य शुक्ल यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित करता है।[४४१] यह स्पष्ट भी है, क्योंकि प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता है।

शुक्ल जी के विचार दर्शन के अनुसार कविता का सम्बन्ध हृदय के भावों से होता है। भावानुभूति ही आत्मा की तरह कविता में विद्यमान रहती है। अतः काव्य में भाव के आलम्बन (या कभी-कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं।[४४२] कविता-देवी के अन्तःपुर में 'सुन्दर' 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है।[४४३] जो सुन्दर प्रेम का आलम्बन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खण्ड—वही काव्य का असली अंग हो सकता है।[४४४]

तात्पर्य यह कि काव्य में सौन्दर्य-भावना भावनानुभूति के रूप में होती है, उससे पृथक् हो ही नहीं सकती। किन्तु बेलबूटे या नक्काशी की सौंदर्य भावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती। अतः कलावादियों को भावानुभूति से सौन्दर्य भावना को अलग करना पड़ा। तब से तरह-तरह के सौंदर्य शास्त्र बनने लगे जिनमें एक-दूसरे से भिन्न सौंदर्य के पचीसों लक्षण और उसके सम्बन्ध में पचीसों मत प्रकाशित होते आ रहे हैं 'जो कलाओं पर तो कुछ दूर तक घटते हैं पर काव्य को दूर ही से छूते हैं।'[४४५]

### काव्य और जगत्

शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य और जगत् का नित्य संबंध है। उन्होंने लिखा है कि 'लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।'[४४६] अपने प्रादुर्भाव से लेकर प्रभाव तक की दृष्टि से काव्य सदा जगत् के साथ बँधा रहता है। उनका मत है कि—'प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ।'[४४७] उनकी दृष्टि में जगत् भी अभिव्यक्ति है और काव्य भी अभिव्यक्ति है, किन्तु जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।[४४८] यह जगत् और काव्य के बीच का एक सम्बन्ध सूचक अन्तर है। वैसे, उनका मत है कि काव्य-दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म की नित्य और अनन्त कल्पना है, अतः वह एक प्रकार का काव्य ही है। विस्तार की दृष्टि से जगत् और काव्य का क्षेत्र-विस्तार बराबर है। उन्होंने लिखा है कि 'जितना विस्तार जगत् और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका (काव्य का) है।'[४४९]

### काव्य और जीवन

शुक्ल जी जीवन से काव्य का अविच्छेद्य सम्बन्ध मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं—लगाना है।'[४५०] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कविता का सम्बन्ध जीवन के समग्र विस्तार के साथ है अथवा उसके अंशमात्र के साथ? शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'जितना विस्तार जगत् और जीवन का है, उतना ही विस्तार उसका (काव्य का) है।'[४५१] इससे असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि काव्य का सम्बन्ध जीवन के समग्र विस्तार के साथ है, यह अंश मात्र तक सीमित नहीं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उसका सम्बन्ध समग्र जीवन तक ही सीमित नहीं वरन् उसके आगे सम्पूर्ण जगत् तक है।

जीवन से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध होने के आधार पर ही शुक्ल जी काव्यगत 'सौन्दर्य और मंगल' तथा जीवनगत 'सौन्दर्य और मंगल' में तादात्म्यभाव अथवा एक-रूपता मानते हैं। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार 'जीवन का सौन्दर्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि हैं, दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि—एक ओर आलिंगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-शान्ति आदि हैं, दूसरी ओर गर्जन-तर्जन, तिरस्कार और ध्वंस।'[४५२] उसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य भी वैचित्र्यपूर्ण है और उसमें भी किसी एक भाव या कर्म का ही विधान नहीं, वरन् नाना विरोधी भावों एवं कर्मों का विधान रहता है। जिस प्रकार से जीवन में दोनों पक्षों के सामञ्जस्य के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक सौन्दर्य का प्रकाश नहीं हो सकता और दोनों पक्षों में (या उनमें) साध्य-साधक संबंध या सामञ्जस्य होने पर उग्रता और प्रचण्डता में भी सौंदर्य का दर्शन होता है,[४५३] उसी प्रकार से काव्य में भी। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'जो लोग केवल शान्ति और

निष्क्रिय (Static) सौंदर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन-क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।'[४५४] उनकी दृष्टि में 'काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम-भाव की कोमल-व्यञ्जना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।'[४५५] इसी मौलिक धारणा के आधार पर उन्होंने योरप के लोकादर्शवाद (Humanitarian Idealism) को जीवन और काव्य दोनों क्षेत्रों में अस्वीकृत कर दिया है।[४५६] लोकादर्शवाद मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण में—केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमद, हिंसावृत्ति आदि की चिर शांति में—काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और उसी के भीतर सौन्दर्य और मंगल को बद्ध देखता है। शुक्ल जी के मतानुसार 'यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल-सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत संकुचित करना है।'[४५७] उनकी दृष्टि में दूसरों की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने की अपेक्षा करुणार्द्र और फिर रोष से प्रज्ज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में अधिक सौन्दर्य होता है।[४५८] अपनी इसी जीवन-दृष्टि के आधार पर उन्होंने घोषणा की कि 'हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामञ्जस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।'[४५९]

उपर्युक्त एकांगीण लोकादर्शवाद को शुक्ल जी ने 'स्वप्न'[४६०] कहा है और लिखा है कि 'यह स्वप्न सुन्दर अवश्य है, पर जागरण उससे कम सुन्दर नहीं। स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का सामञ्जस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है।'[४६१] शुक्ल जी प्रयत्न पक्ष को जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि में प्रयत्न ही जीवन की शोभा और सौन्दर्य है। अतः वे काव्य में भी प्रयत्न पक्ष को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मानते हैं। इसी आधार पर वे उन्हें ही पूर्ण कवि मानते हैं जो प्रयत्न और उपभोग दोनों ही पक्षों में सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। किसी भी एक पक्ष को ग्रहण करने वाले कवियों को वे अपूर्ण मानते हैं।[४६२] उनकी सुदृढ़ धारणा है कि 'मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।'[४६३] उपर्युक्त विवेचन से प्रकाशवत् स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में जीवन का सौन्दर्य ही काव्य का सौन्दर्य है।

काव्य के सौन्दर्य की ही भाँति काव्यानुभूति को भी शुक्ल जी ने जीवनगत प्रत्यक्ष अनुभूति से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध माना है। उनकी दृष्टि में कुछ लोगों का यह

खयाल कि—काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है, उसकी प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध ही नहीं, यह तो कोई खयाल ही नहीं, या गलत है।'[४६४] उनका मत है कि जब मनुष्य अपने को भूलकर, अपनी शरीर-यात्रा का मार्ग छोड़कर किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति किसी भाव की अनुभूति करता है, तब उसके हृदय को सामान्य भाव-भूमि पर और उसकी अनुभूति को काव्यानुभूति के भीतर समझना चाहिए।[४६५] इसके अतिरिक्त जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं, वह भी काव्यानुभूति ही होती है।[४६६] स्पष्ट है कि रचना और तत्त्व की दृष्टि से काव्य का जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है। साथ ही प्रभाव की दृष्टि से भी उसका जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। काव्य मानव-जीवन को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित करता है, स्वयं कवि के जीवन को भी और समाज के अन्य व्यक्तियों के जीवन को भी। शुक्ल जी की दृष्टि में मानव जीवन के लिए कविता अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु है, इसीलिए संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी न किसी रूप में वह अवश्य पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा।[४६७] कविता और जीवन पर उसका प्रभाव उसकी शक्ति, कार्य, प्रयोजन आदि के विवेचन से, स्पष्टतर होता है, जिनका पृथक् विवेचन किया जा चुका है।

# सन्दर्भ

१. चिन्तामणि भाग १, पृ० १५८। २. सरस्वती, १६०४ ई०, मई-जून, भाग ५। ३. सरस्वती १६०४, मई-जून, भाग ५। ४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६। ५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६। ६. चिंतामणि, भाग २, पृ० १५६। ७. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी---तस्य भावस्त्वतलौ।५।१।११६। गुण-वचनब्राह्मणादिभ्य: कर्मणिच (ष्यञ्) ५।१।१२४।। ८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५। ६. चिंतामणि, भाग १, पृ० १५७। १०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७५। ११. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १५७। १२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३३। १३. सरस्वती, १६०४, मई-जून, भाग ५। १४, १५, १६, १७, १८. 'साहित्य' सरस्वती, १६०४, भाग ५। १६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७। २०. हिन्दुस्तानी का उद्‌गम, पृ० १ (१६३८ में लिखित)। २१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १। २२. चिन्तामणि भाग १, पृ० १४१। २३,२४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २४४-२४५, भाग २ पृ० १०६। २५. रसमीमांसा, पृ० ३०१-३०२। २६. रसमीमांसा, पृ० ३०२। २७. रसमीमांसा, पृ० ३०३। २८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६। २६. रसमीमांसा, पृ० ३०२। ३०. रस-मीमांसा, पृ० ३०३।, ३१. रसमीमांसा, पृ० ३०३। ३२. रसमीमांसा, पृ० ३०३। ३३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७८। ३४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७८। ३५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८८। ३६,३७. रसमीमांसा, पृ० ८३, ३०२। ३८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६। ३६. रसमीमांसा, पृ० ३०२। ४०, ४१. रसमीमांसा, पृ० ८३, ३०२। ४२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५२। ४३. इन्दु १६१० प्रथम अंक। ४४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७। ४५. हिन्दुस्तानी का उद्‌गम, पृ० १। ४६, ४७, ४८, ४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४१, १४१, १४१, १४१। ५०, ५१, ५२, ५३, ५४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४१, १४१, १४१, १४१, १४१। ५५, ५६. चिन्तामणि, भाग २, पृ०५, ७। ५७, ५८. चिन्तामणि, भाग १, भाग २, पृ० १६३, १०६। ५६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० २०७ पर उद्धृत। (डॉ० नगेन्द्र)। ६०. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका, पृ० १३ --डॉ० नगेन्द्र ६१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८५-१८६। ६२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५-१४६। ६३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४६। ६४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६०। ६५. आचार्य शुक्ल के समीक्षा

सिद्धांत, पृ० २५१ । ६६, ६७, ६८, ६९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६०, १६०, २२८, २२८ । ७०, ७१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८, २२८ । ७२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७ । ७३, ७४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ५, ५ । ७५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१४-१५ । ७६. चिन्तामणि, भाग २ 'काव्य में रहस्यवाद' पृ० ५४ । ७७, ७८. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५५, ५४ । ७९. चिन्तामणि, भाग १, १३७ । ८०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१ । ८१. 'साहित्य' सरस्वती, १९०४ मई-जून अंक । ८२, ८३, ८४. चिन्तामणि, भाग १, भाग २, पृ० क्रमशः १४२-१४३, ५२, १०४ । ८५, ८६. 'साहित्य आचार्य शुक्ल सरस्वती', १९०४, भाग ५, संख्या ६, पृ० १८९, १८९ । ८७, ८८, ८९, ९०. साहित्य आचार्य शुक्ल, सरस्वती, १९०४, भाग ४ संख्या ६, पृ० १८९ । ९१. रसमीमांसा, पृ० १०० । ९२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१० । ९३. रसमीमांसा, पृ० १०० । ९४. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८० । ९५. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५९ । ९६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १८ । ९७, ९८. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६० । ९९. अरस्तू का काव्यशास्त्र : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६० पर उद्धृत । १००. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ४३ । १०१. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० २१२ । १०२. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० २१० । १०३. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २५२-५३ । १०४. साहित्य : स्वरूप और समस्याएँ, पृ० ३० । १०५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४, सम्पादक : डॉ० प्रेमनारायण टण्डन । १०६. महिमभट्टव्य० दि०, पृ० १०८ । १०७. चिन्तामणि भाग २, पृ० २४२ । १०८, १०९. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० ४९ । ११०, १११. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १०४, १०२ । ११२. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १०३ । ११३, ११४. चिन्तामणि, भाग २ काव्य में रहस्यवाद, पृ० १०३ । ११५. साहित्य, सरस्वती, १९०४ मई-जून भाग ५-६ । ११६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११७ । ११७. सूरदास, पृ० १९० । ११८. जी० डब्यू० मैकेल का 'कविता पर वक्तव्य' । ११९. सूरदास, पृ० १९० । १२०. सूरदास, पृ० १०१ । १२१. सूरदास, पृ० १९० । १२२. सूरदास, पृ० १९३ । १२३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६० । १२४, १२५, १२६, १२७, १२८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २६४, २६५, २६५, २६५, २६७ । १२९, १३०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २, २१ । १३१, १३२, १३३, १३४. चिन्तामणि, भाग २ काव्य में प्राकृतिक दृश्य, पृ० २, २, २११ काव्य में अभिव्यंजनावाद २१० । १३५. सूरदास, पृ० १९२ । १३६, १३७. चिन्तामणि, भाग १ रसात्मक बोध के विविध रूप, पृ० २६७-६८, २६७ । १३८, १३९, १४०, १४१, १४२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६२, १६१, १६१, १६१, १६१ । १४३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धांत

और साहित्य, पृ० ७४ । १४४, १४५, १४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१ काव्य में अभिव्यंजनावाद, भाग १, पृ० १६१, भाग २, पृ० १८१, काव्य में अभिव्यंजनावाद । १४७, १४८, १४९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६१, २५७, २५७ । १५०. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ४९ पर उद्धृत । १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६. प्रिंसपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ० २३९, २३९, २४१, २४१, २४१, २४२ । १५७, १५८, १५९, १६०, १६१. चिन्तामणि, भाग १, १६८, २३८, २३८, २४२, १८३ । १६२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०२ । १६३, १६४, १६५, १६६. काव्य में रहस्यवाद, १०२, १९८, १९६, १९६-१९७ । १६७, १६८. शेष स्मृतियाँ—डॉ० रघुवीर सिंह कृत, भूमिका, पृ० १४, पृ० १६२ । १६९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६७ । १७०. "इन्होंने (कमिंग्ज) बुद्धि का पूरा विरोध प्रदर्शित करने के लिए एक पुस्तक का नाम रखा है 'पाँच होता है' अर्थात् दो और दो चार नहीं, पाँच होता है ।" चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२८ । १७१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२७-२२८ १७२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४४ । १७३. 'साहित्य' सरस्वती, १९०४, मई-जून, भाग ५-६ । १७४. अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ८८ । १७५. अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ९०-९१ । १७६. अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ९२-९३ । १७७. आलोचना, जुलाई १९५३, पृ० ३८ । १७८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५२, काव्य में रहस्यवाद । १७९, १८०, १८१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४, १७१, १०४ । १८२. एक साहित्यिक की डायरी, पृ० १९ । १८३, १८४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५१, ४६-४७ । १८५, १८६, १८७, १८८, १८९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४६, १५६, ४, ९, १०२ । १९०, १९१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १५०, भाग २, पृ० २ । १९२. भ्रमरगीत, पृ० ४ । १९३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६७ । १९४, १९५, १९६, १९७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५४, ४६, ८४, ५२ । १९८, १९९, २००. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५३, ५१, ५१ । २०१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७ । २०२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५७ । २०३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १९७ । २०४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८१ । २०५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८३ । २०६, २०७, २०८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६७, ६८, ७३ । २०९, २१०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ७३-७४, ६८ । २११, २१२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८, २२८ । २१३, २१४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९, ९ । २१५, २१६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८७, ४७-५१ । २१७, २१८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७, २२७ । २१९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६५ । २२०, २२१, २२२, २२३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६५, ६३, १६२, १६२ । २२४, २२५. 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध, सरस्वती, १९०४, मई-जून । २२६. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ७ । २२७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१ । २२८. काव्यालंकार १।१६ । २२९. अरस्तू का

काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० १५ । २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५९-६०, १६२, १५९, १६२, १६६, १६६, १६२ । २३७. गो० तुलसीदास, पृ० २ । २३८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५२ । २३९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५३ । २४०, २४१, २४२, २४३, २४४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५, १७५, १७६, १७६, १७६ । २४५. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २०५ अथवा चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७७ । २४६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७७ । २४७, २४८, २४९, २५०, २५१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८०, १८०, १८०, १८१, १८१ । २५२. सूरदास, पृ० १८७ । २५३. 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध, सरस्वती, मई-जून १९०४, भाग ५, संख्या ५-६ । २५४. 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध, सरस्वती, मई-जून, १९०४, भाग ५, संख्या ५-६ । २५५. लोसाइक्रिटीको, पृ० २६ (हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका में, पृ० ३५ पर उद्धृत) २५६, २५७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५३, १४२ । २५८. प्रिंसिपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० २६७-२६८ । २५९. प्रिंसिपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० २६८ । २६०. प्रिंसिपुल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० २६८ । २६१. प्रिंसिपुल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ० २६८-हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका, पृ० ३६ पर उद्धृत । २६२, २६३. 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध 'सरस्वती', मई-जून, १९०४ । २६४, २६५, २६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९, ९, ८ । २६७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८ । २६८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : शिवनाथ एम० ए०, पृ० ४० । २६९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९ । २७०. समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६५ । २७१. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में प्राकृतिक दृश्य । २७२. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में प्राकृतिक दृश्य । २७३. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में प्राकृतिक दृश्य । २७४. समीक्षक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल : गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, पृ० १६५ । २७५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १५०---कविता क्या है, भाग २, पृ० १० । २७६. काव्य में रहस्यवाद, पृ० २९-३० । २७७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९ । २७८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६८ । २७९, २८०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६८, १६८ । २८१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६९ । २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६९, १६९, १७०, १६८, १६८, १७१, १७१, १७१, १७१ । २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७१, १७१, १७२, १६८, १६८, १६८-१६९, १६९, १६९, १७४, १७४ । ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७, १६, ११, २७, २१, २१८, १८५, १८५, १८५, १८५ । ३११, ३१२, ३१३, ३१४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८५, १८५, १८६, १८६ । ३१५.

सूरदास, पृ० २०५। ३१६. अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४६। ३१७. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० ३१। ३१८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ०५९। ३१९, ३२०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २ भाग १, पृ०१६१। ३२१, ३२२. चिन्तामणि, भाग २ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १०४, १०४। ३२३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६५। ३२४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७। ३२५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५९। ३२६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५९। ३२७. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९६-९७। ३२८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १। ३२९. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११४। ३३०. हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृ० ३ पर उद्धृत। ३३१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७४। ३३२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४। ३३३. सूरदास या रसमीमांसा, पृ० १६१, १०९। ३३४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २। ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २, ४३-४४, ११-१२, १०२, १४३। ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४४, १४४, १४५, १८५, १८५, १८५, १८५। ३४७. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० ३८। ३४८. परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा, पृ० १८। ३४९. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० ३९। ३५०. काव्य प्रकाश ११२ की वृत्ति। ३५१,३५२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ५२, १४९। ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६, ४६, २१४, १०४, १०३। ३५८, ३५९, ३६०, ३६१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७१, भाग २, पृ० १७, भाग १, पृ० १७१, भाग १, पृ० १६३। ३६२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ८-९। ३६३. रसमीमांसा, पृ० २१३। ३६४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६१। ३६५. साहित्यानुशीलन, पृ० ६। ३६६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४६। ३६७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१५। ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७, २१४, २१५, २४-२५। ३७३, ३७४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५, १७९। ३७५. 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध के आधार पर सरस्वती, १९०४ मई-जून अंक। ३७६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२२, ३७७. भाग १, पृ० १७९। ३७८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७९। ३७९. रसमीमांसा, पृ० ३५६। ३८०. थीअरी आफ लिट्रेचर : रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन, पृ० १२६। ३८१ रसमीमांसा, पृ० ४०६। ३८२. काव्य, कला और शास्त्र : डॉ० रांगेय राघव, पृ० ८। ३८३. काव्य, कला और शास्त्र : डॉ० रांगेय राघव पृ० ८। ३८४, ३८५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६०, भाग १, पृ० १४५। ३८६. हिन्दी ध्वन्यालोक, ३।१४, पृ० २६४। ३८७, ३८८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५, १४५। ३८९. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० ४। ३९०. काव्यालंकार २।८७। ३९१. काव्यालंकार २।८६। ३९२, ३९३, ३९४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५, १७१, १७१। ३९५, ३९६. चिन्तामणि, भाग १,

पृ० १७१-१७२, १७२ पर उद्धृत। ३९७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७२। ३९८, ३९९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २६६ (रसात्मक बोध के विविध रूप), २६७। ४००. आलोचना, नवम्बर १९५५, पृ० ३५, ले०—डॉ० रामरतन भटनागर। ४०१, ४०२. आलोचना, नवम्बर, १९५५, पृ० ३४, पृ० ३६। ४०३, ४०४, ४०५. चिन्तामणि भाग १, पृ० २६७, २६७, २६७। ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३. चिन्तामणि, भाग २, पृ०१५५, भाग १, २२५, भाग २, पृ० २१८, ६७, ६७, ६७, ६७, ६७। ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८७, ७०, १०७, ९५, ४९, २१९, ७। ४२१, ४२२, ४२३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११, ११, ११। ४२४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९२। ४२५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९२। ४२६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५९३। ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१. चिन्तामणि भाग २ : काव्य में रहस्यवाद, पृ० ९२, ९४, ९२, ९२, ९२। ४३२. रसमीमांसा, पृ० ९५। ४३३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ९। ४३४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २३। ४३५, ४३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७८, १७८। ४३७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना — डॉ० रामविलास शर्मा पृ० २४०। ४३८, ४३९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७८, १७८। ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७८, १७८, १७९, १७९, १७९, १७९, १२२। ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५४, ५४, ५१, १०७, ५१, ४७। ४५३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४७। ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४७, २२४, भाग १, २२४-२२५ अथवा भाग २, पृ० ४७, ४८, ४९, ४९। ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४९, ४९, भाग १, पृ० २१४, २२१ अथवा भाग २, पृ० ५५-५६, भाग २, पृ० ५१, ५१-५२, ५२। ४६७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८६।

# साहित्य के विविध रूप

**रूप का तात्पर्य**

'रूप्' धातु से 'रूप' शब्द व्युत्पन्न है। 'रूप' धातु का अर्थ है—'रूप बनाना'[1] या केवल 'बनाना या गढ़ना'।[2] हिन्दी के शब्द-कोषों के रूप में अनेक अर्थ मिलते हैं, बनावट, गठन, आकृति, लक्षण, अवस्था, दशा, सौन्दर्य आदि।[3] जहाँ तक सौन्दर्य का सम्बन्ध है, वह 'रूप' शब्द का लक्ष्यार्थ है—अभिधेयार्थ नहीं। जब हम कहते हैं—'कल्पना अति रूपवती युवती है' तो रूपवती, 'सौन्दर्यवती' या 'सुन्दरी' का पर्याय हो जाता है और 'रूप' का अर्थ 'सौन्दर्य' हो जाता है। सामान्यतया रूप के आरम्भ में 'सु' अथवा 'कु' जोड़कर उसके आकर्षण अथवा विकर्षण गुण का निर्देश किया जाता है, किन्तु प्रयत्न-लाघव की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार 'सुरूप' के स्थान पर 'रूप' ही प्रयुक्त होने लगा है। किन्तु वैज्ञानिक विवेचन में 'रूप' का 'सौन्दर्य' के अर्थ में प्रयोग करना अनुचित ही होगा। बनावट, गठन, आकृति, लक्षण, अवस्था, दशा आदि 'रूप' शब्द के वाच्यार्थ हैं। वस्तुतः ये रूप की विशिष्टताएँ हैं और इनका समन्वय ही रूप कहा जायगा।

'रूप' शब्द का अँगरेजी पर्याय 'फ़ार्म' (Form) है। 'फ़ार्म' शब्द को किसी वस्तु की शक्ल-सूरत, किसी वस्तु की आकृति या सीमा-रेखा, बनावट, संयोजन-विधि, रीति या पद्धति, किसी वस्तु के प्रकृत लक्षण आदि अर्थों में[4] प्रयुक्त किया जाता है। स्पष्ट है कि 'प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोष' और 'चैम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी' में उल्लिखित 'रूप' शब्द के अर्थों में आत्यन्तिक साम्य विद्यमान है। अतः 'रूप' और 'फ़ार्म' को पर्याय मानना युक्तियुक्त और उचित है। आचार्य शुक्ल ने 'फार्म' के स्थान पर 'स्वरूप'[5] या 'साँचा'[6] शब्द का प्रयोग किया है। अरस्तू का मत है कि 'रूप' और 'द्रव्य' दोनों अभिन्न हैं, कोई भी द्रव्य रूपहीन नहीं है और न कोई रूप द्रव्यहीन है।[7] उनका यह मत विज्ञान-सम्मत है, किन्तु इतना और ध्यातव्य है कि द्रव्य के एक रूप को दूसरे रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

'द्रव्य' और 'रूप' के ही आधार पर सौन्दर्य शास्त्र में कलाओं की विवेचना और साहित्य-शास्त्र में साहित्य की विवेचना की जाती है। कलाकार किसी द्रव्य या सामग्री (Matter) को जिस विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है, उसे ही सौन्दर्य-मीमांसा में 'कलात्मक रूप' (Artistic Form) या केवल 'रूप' कहते हैं।[8] विभिन्न विद्वानों ने 'फ़ार्म' या 'रूप' की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं—

(क) 'रूप शिल्प' और 'शैली' है[९]—विमसाट और ब्रुक्स।

(ख) 'रूप विभिन्न तत्वों की अन्विति है।'[१०]—सैंतायना।

(ग) 'किसी कलाकृति का कलात्मक रूप उसके द्रव्य या सामग्री (Matter) का कलात्मक एवं अभिव्यंजक संयोजन है।[११]—टी० एम० ग्रीनी।

(घ) 'वह (रूप) अभिव्यंजना का एक प्रकार है।'[१२]—हर्बर्ट रीड।

(ङ) 'कहने का ढंग ही रूप है।'[१३]—जान ड्यूई।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रूप का सम्बन्ध विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण या अभिव्यंजना-कौशल से है।

### साहित्य-रूप का तात्पर्य

न केवल साहित्य के क्षेत्र में वरन् समग्र सृजन अथवा निर्माण के क्षेत्र में 'प्रविधिगत अन्तर' द्रव्य या सामग्री (Matter) के रूपात्मक अन्तर के स्थायी कारण के रूप में स्थिर रहकर उसे विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। एक ही प्रकार की लकड़ी से बनी कुर्सी और बेंच का रूपात्मक अन्तर या भेद संयोजन अथवा सृजन की प्रविधिगत अन्तर का ही परिणमन है और कुछ नहीं। साहित्य में अभिव्यंजना प्रणाली या प्रविधि के अन्तर्गत अलंकार, रीति, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि अनेक तत्वों का समावेश रहता है। इन्हीं के समुच्चय को शैली या प्रविधि या रीति की संज्ञा दी जाती है। शैलीगत अन्तर के कारण ही साहित्यिक रचनाओं के आकार-प्राकार एवं संगठन में अन्तर अनिवार्यतः उपस्थित होता है। वैसे तो हर एक रचना दूसरी रचना से विषय-वस्तु के संगठन या आकार-प्रकार की दृष्टि से भिन्न होती है, किन्तु स्थूल रूप से साहित्य के कुछ सामान्य रूप-भेद किए जाते हैं—जैसे नाटक, कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि। इन्हें ही साहित्य-रूप कहा जाता है।

आचार्य शुक्ल ने 'रूप' और 'साहित्य-रूप' पर विचार लगभग नहीं ही किया है, किन्तु उन्होंने विविध साहित्य-रूपों के विषय में कुछ-न-कुछ विचार अवश्य किया है। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने शिल्प और शैली की दृष्टि से काव्य या साहित्य को वर्गीकृत किया है। उनकी दृष्टि में प्रमुखतया पाँच साहित्य-रूप हैं—१–काव्य, २–नाटक, ३–उपन्यास, ४–गद्यकाव्य और ५–निबन्ध (इसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित हैं)।[१४] उनका मत है कि इनमें से प्रथम तीन रूप काव्य (श्रव्यकाव्य) नाटक (दृश्य-काव्य) तथा कथात्मक गद्य काव्य (उपन्यास) भारत में पहले से मिलते हैं।[१५] इनमें से पहले दो 'काव्य' और 'नाटक' अब तक ज्यों के त्यों बने हैं।[१६] किन्तु कथात्मक गद्य काव्य का स्थान आधुनिक युग में उपन्यासों और छोटी कहानियों ने ले लिया है।[१७] चौथा रूप है काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख, जिसे गद्य-काव्य भी कहा है। पाँचवाँ रूप है विचारात्मक निबन्ध या लेख—जिसमें भाव व्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चारों काव्य-रूपों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो।[१८] ये (अन्तिम) दोनों रूप आधुनिक युग की देन हैं। साहित्य की हदबन्दी करते

समय शुक्ल जी ने उसका (साहित्य का) जो अन्तर शेष वाङ्मय से द्योतित किया है, उसके अनुसार साहित्य में शेष वाङ्मय की अपेक्षा अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन अधिक विशेष होता है।[१९] यहाँ प्रश्न यह है कि उन्होंने साहित्य के काव्य, नाटकादि जिन पाँच विविध रूपों का निर्धारण किया है, उनका आधार क्या है ? उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'उपर्युक्त पाँचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिमाण में ही नहीं, उसकी शासन-विधि में भी भेद होता है।'[२०] स्पष्ट है कि साहित्य के इन पाँचों रूपों में शुक्ल जी के अनुसार भाव या चमत्कारगत अन्तर दो प्रकार का होता है—पहला परिमाणात्मक अर्थात् भाव या चमत्कार के न्यूनाधिक्य का अन्तर तथा दूसरे भाव या चमत्कार की शासन विधि का अन्तर। जहाँ तक भाव या चमत्कार की मात्रा के अन्तर का प्रश्न है, वह स्पष्ट ही है, किन्तु भाव या चमत्कार की शासन-विधि के अन्तर का क्या तात्पर्य है ? यह तो स्पष्ट किया जा चुका है कि साहित्य का भाषा से (वाक् या वाणी से) अभेद्य सम्बन्ध होता है, क्योंकि साहित्य वाङ्मय का ही एक विभाग है और यह भी स्पष्ट हो चुका है कि साहित्य का भावोन्मेष (भाव-व्यंजना) या चमत्कार से भी अभेद्य सम्बन्ध होता है। इस प्रकार भाषा एवं भाव दोनों से साहित्य का अभेद्य सम्बन्ध ठहरता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भाषा और भाव का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? शुक्ल जी के मतानुसार भाव और चमत्कार भाषा को अनुशासित करते हैं, अतः भाव या चमत्कार के शासन-विधि का तात्पर्य हुआ भाव या चमत्कार द्वारा विभिन्न साहित्य रूपों के भाषा बन्ध को शासित करने की प्रविधि में अन्तर। उनका कहना है कि 'कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्रासी और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप रंग बनाकर नाचती दिखाई पड़ती है, अपना खास काम लुक-छिपकर करती है। कहीं इतना कोमल होता है कि वह अपना पहला काम खुलकर करती हुई भाव का कार्य करती है और अच्छी तरह करती है।'[२१]

स्पष्टतः यहाँ शुक्ल जी का संकेत भाषा में प्रयुक्त शब्द-शक्तिवैशिष्ट्य विषयक वैलक्षण्य की ओर है। यह विदित ही है कि भाषा का कार्य है—'अर्थबोध कराना'। वह कभी तो अभिधा द्वारा ही अर्थात् प्रयुक्त शब्दों के साक्षात् संकेतित अर्थयोग द्वारा ही—या तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही अपना यह कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न करती है और कभी-कभी भावोन्मेष या चमत्कार के कारण वह अनेक प्रकार के रूप-रंग बना लेती है या वक्र हो जाती है, परिणामतः अभिधा द्वारा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा प्रकटमान अर्थ अनुपपन्न, बाधित, असम्भव, असंयत और असम्बद्ध हो जाता है तो उपपन्न, अबाध, सम्भव, संयत एवं सम्बद्ध अर्थ की लब्धि लक्षणा एवं व्यंजना के द्वारा ही होती है।

भाव या चमत्कार के परिमाण और उनके शासन-विधि के अन्तर को साहित्य रूपों का निर्धारक तत्त्व मानकर शुक्ल जी ने साहित्य के उपर्युक्त पाँचों रूपों की संक्षिप्त मीमांसा की है, जिनका पृथक्-पृथक् उल्लेख आवश्यक है।

काव्य

काव्य और कविता संस्कृत भाषा और साहित्य में एक-दूसरे के पर्याय हैं। हिन्दी में भी उनका वही अर्थ है। काव्य या कविता शब्द का प्रयोग शुक्ल जी ने दो अर्थों में किया है—कहीं-कहीं तो साहित्य के पर्याय के रूप में और कहीं तो उसके एक अंग या उसकी एक विधा के रूप में। वस्तुत: इन शब्दों का दोनों अर्थों में प्रयोग प्रचुरत: प्रचलित है। अब भी पूर्व और पश्चिम की बहुत सी आलोचना में काव्य को साहित्य और कला का पर्यायवाची मानकर विवेचन किया जाता है। 'कविता क्या है ?' जैसे निबन्धों में शुक्ल जी ने कविता के बारे में जो बातें कही हैं, वे प्राय: सब की सब साहित्य के दूसरे रूपों या अंगों पर भी लागू होती हैं।'[२२] डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन पूर्णत: सही है। यहाँ पर काव्य या कविता शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में अर्थात् साहित्य की एक विधा के अर्थ में किया जा रहा है।

कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न रूपों में से 'कविता' शुक्ल जी को सर्वाधिक प्रिय थी। यही कारण है कि उनके अधिकांश सैद्धान्तिक विवेचन का आधार भी कविता ही है। उनके मतानुसार कविता या काव्य में (गद्यकाव्य में भी) भाव और चमत्कार की मात्रा नाटक और उपन्यास आदि अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में अधिक होती है और बाधित, असम्भव, असंयत या असम्बद्ध अर्थ विधान अर्थात् लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग की सम्भावना भी उसमें शेष साहित्य रूपों की अपेक्षा अधिक रहती है।[२३] काव्य के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक पूर्व अध्याय में विचार किया जा चुका है, अत: उसकी पुनरावृत्ति उचित नहीं। यहाँ पर हम उसके वर्गीकरण मात्र पर विचार करेंगे।

शुक्ल जी ने काव्य का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया है, जिसमें रचना-शैली की दृष्टि प्रमुख है। इस दृष्टि से उन्होंने काव्य को तीन वर्गों में विभक्त किया है—प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य और गीत काव्य। प्रबन्ध काव्य को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इसकी विशेषताओं का निरूपण भी उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा कृतियों में प्रसंगत: किया है। उनके मतानुसार 'प्रबन्ध काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध-शृङ्खला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए।'[२४] विश्लेषण करने पर उसमें निम्न बातें आवश्यक ठहरती हैं—

(१) मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य।

(२) घटनाओं का शृङ्खलाबद्ध स्वाभाविक क्रम-निर्वाह।

(३) नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश।

इन तीनों से युक्त काव्य ही प्रबन्ध काव्य कहा जायगा। प्रथम दो विशेषताएँ, प्रबन्धत्व से और तीसरी विशेषता काव्यत्व से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध है। प्रबन्धत्व और काव्यत्व का योग बराबर है प्रबन्ध काव्य के। प्रबन्धत्व की विशेषताओं के मौजूद होने

पर भी 'रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों' के अभाव में कोई भी कृति इतिवृत्त मात्र होगी, वह काव्य का गौरव न पा सकेगी। शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिये घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बिवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों।'[२५] इसी प्रकार रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों के मौजूद होने पर भी मानव-जीवन के किसी पूर्ण दृश्य और तद्बद्ध घटनाओं के शृङ्खलाबद्ध स्वाभाविक क्रम-निर्वाह के अभाव में कोई भी रचना प्रबन्ध काव्य कहलाने की अधिकारिणी न होगी। यद्यपि वह काव्य होगी फिर भी प्रबन्धत्व के अभाव में प्रबन्ध काव्य न कहला सकेगी। प्रबन्ध काव्य के लिए इतिवृत्त का सुसम्बद्ध निर्वाह और रसात्मकता दोनों अनिवार्य हैं। इतिवृत्त प्रबन्धत्व का आधार है और रसात्मकता काव्यत्व का। इतिवृत्त का बाह्य आधार लेकर ही प्रबन्ध काव्य का निर्माण होता है। अतः सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु यही है। प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्त की स्थिति और गति सम्बन्धी शुक्ल जी के विचार द्रष्टव्य है। उनका मत है कि प्रबन्ध काव्य के भीतर घटना का कहीं-कहीं इतिवृत्त मात्र के रूप में उल्लेख होता है, उसमें एक-एक ब्योरे पर ध्यान नहीं दिया जाता और न पात्रों के हृदय की झलक दिखायी जाती है, किन्तु ऐसे स्थल रसपूर्ण स्थलों की परिस्थितियों की सूचनामात्र देने के लिए होते हैं और आवश्यक भी होते हैं। इतिवृत्त रूप इन वर्णनों के बिना उन परिस्थितियों का ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता, जिनके बीच पात्रों को देखकर श्रोता उनके हृदय की अवस्था का अपनी सहृदयता के अनुसार अनुमान करते हैं।[२६] यह तो हुई प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्ति की स्थिति सम्बन्धी बात, उसकी गति के सम्बन्ध में उनका कथन है कि—'प्रबन्धकाव्य में इतिवृत्त की गति इस ढंग से होनी चाहिए कि मार्ग में जीवन की ऐसी बहुत-सी दशाएँ पड़ जायें जिनमें मनुष्य के हृदय में भिन्न-भिन्न भावों का स्फुरण होता है और जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः कर सकता है।'[२७] बात सच भी है, क्योंकि यदि किसी इतिवृत्त में भावों को उद्दीप्त करने वाले मार्मिक प्रसंगों का प्रचुर सन्निवेश न रहा तो उसमें रसोद्बोधन की क्षमता नहीं उत्पन्न हो सकती। निरन्तर नीरस होने के कारण वह इतिवृत्त अकाव्यात्मक ही रह जायगा, किन्तु मार्मिक प्रसंगों के सन्निवेश से स्थिति पूर्णतः बदल जाती है। प्रबन्ध के बीच मार्मिक स्थलों में इतिवृत्त या कथा के प्रवाह का विराम-सा रहता है। ऐसे ही प्रसंगों के संप्रभाव से नीरस इतिवृत्त भी सरस होकर काव्यात्मक हो जाता है। यदि प्रबन्ध काव्य में ऐसे रसात्मक स्थल प्रचुर मात्रा में आ जाते हैं तो बीच के नीरस इतिवृत्तात्मक उल्लेख भी सम्पूर्ण प्रबन्ध के रस से रसवान हो उठते हैं। साहित्य दर्पणकार का भी ऐसा ही मत है जिसे शुक्ल जी ने स्वयं उद्धृत भी किया है—'रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबंधरसेनैव तेषां रसवतांगीकारात्।'[२८]

यह सत्य है कि सारी कथा स्वतः रसात्मक नहीं होती, किन्तु कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आने वाले मानव-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों के कारण सारी कथा में

रसात्मकता आ जाती है। अतः किसी भी प्रबन्ध काव्य में मर्मस्पर्शी स्थलों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। वस्तुतः इतिवृत्त की गति तो इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'यह समझिए कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने तक के लिए होती है।'[२९]

महाकवि माघ की उक्ति 'अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबंधोदुरुदाहरः' को दृष्टि में रखकर उन्होंने घटनाओं के 'सम्बन्ध-निर्वाह' को इतिवृत्त के संघटन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व माना है। जायसीकृत 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए इस तत्त्व के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि सम्बन्ध-निर्वाह में 'पहले तो यह देखना चाहिए कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं, अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा सम्बन्ध है या नहीं, जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो।'[३०] कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। दशरूपककार के मतानुसार 'मुख्य वस्तु आधिकारिक तथा अंगवस्तु प्रासंगिक कहलाती है।' तत्राधिकारिकं मुख्यमंग प्रासंगिकं विदुः'[३१] किन्तु इतने से बात स्पष्ट नहीं होती है। आगे उन्होंने लिखा है :

आधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥[३२]

अर्थात् 'फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फल भोक्ता (अर्थात् नायक) के द्वारा फल प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त आधिकारिक वस्तु कहलाती है।' और 'प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः' के अनुसार जो कथा या वृत्त दूसरे (अर्थात् आधिकारिक) के प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं फल भी सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक वृत्त है।'[३३] स्पष्ट है कि प्रासंगिक वृत्त का अपना पृथक प्रयोजन भी होता है, किन्तु उसका मूल प्रयोजन आधिकारिक वृत्त के निमित्त होता है अतः उसी पर आश्रित होता है।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में शुक्ल जी का उपर्युक्त कथन प्राचीन आचार्यों के मत के अनुकूल ही है। वस्तुतः प्रासंगिक वस्तु अनिवार्यतः ऐसी होनी चाहिए, जो किसी-न-किसी प्रकार आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ावे या किसी अन्य दिशा में मोड़ दे। आधिकारिक वस्तु-योजना के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी का वही मत है जो दशरूपककार का। दशरूपकार की ही भाँति उन्होंने भी आधिकारिक वस्तु को अधिकारी अर्थात् फल के स्वामी या नायक से अनिवार्यतः सम्बद्ध माना है। उनके मतानुसार प्रबन्धकाव्य की आधिकारिक कथावस्तु नायक से अनिवार्यतः सम्बद्ध होती है, किन्तु उसमें जीवन चरित के समान नायक के जीवन की सभी घटनाओं का विवरण देना प्रबन्धकार के लिए आवश्यक नहीं। व्यक्ति-प्रधान प्रबन्धकाव्यों में 'नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन-गौरव-वृद्धि या गौरव रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं-कहीं कुछ उलट-फेर के साथ होता है'[३४] किन्तु 'घटना-प्रधान प्रबन्ध काव्यों में जिनमें प्रबन्धकार की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर

होती है उनका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है।'[35]

डॉ० जयचन्द्रराय का यह कथन कि 'यूनानी आचार्य अरस्तू ने जिसे 'कार्यान्विय' या 'युनिटी आफ ऐक्शन' कहा है उसका निर्वाह शुक्ल जी जितना नाटक के लिए उचित समझते हैं उतना ही प्रबन्धकाव्य के लिए भी'—पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुक्ल जी ने घटना प्रधान प्रबन्ध काव्यों के लिए ही 'कार्यान्विय' या 'युनिटी आफ ऐक्शन' का निर्वाह आवश्यक माना है, व्यक्ति-प्रधान प्रबन्धकाव्यों के लिए नहीं। 'कार्यान्विय' या 'युनिटी आफ ऐक्शन' का सिद्धान्त वस्तुतः अपने मूल रूप में दृश्यकाव्य या नाटक का सिद्धान्त है। दृश्यकाव्य का स्वरूप घटनाप्रधान ही होता है। अतः घटनाप्रधान प्रबन्धकाव्य पर दृश्यकाव्य के प्रस्तुत सिद्धान्त का लागू करना तर्कसंगत ठहरता है। व्यक्तिप्रधान प्रबन्धकाव्यों में इसका लागू किया जाना उतना संगत नहीं कहा जा सकता। शुक्ल जी ने वस्तुतः घटनाप्रधान प्रबन्धकाव्यों में ही कार्यान्विय की बात की है। उन्होंने लिखा है कि 'जैसे दृश्यकाव्य का वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्धकाव्य का एक कार्य होता है जिसके लिए घटनाओं का सारा आयोजन होता है, जैसे रामचरितमानस में रावण का वध।'[36] ध्यातव्य है कि इसे ही अपने उक्त कथन के प्रमाणस्वरूप श्री जयचन्द्रराय ने भी उद्धृत किया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने निष्कर्ष में अनावश्यक व्याप्ति-विस्तार की भूल की है। यदि उनकी ओर से यह तर्क दिया जाय कि व्यक्ति-प्रधान प्रबन्धकाव्यों में एकान्विति होगी ही, क्योंकि उसमें एक व्यक्ति की ही कथा होती है तो यह उचित नहीं। कारण यह कि 'एक व्यक्ति की कथा में भी अनेकता तथा अन्विति का अभाव हो सकता है।'[37] आचार्य शुक्ल ने कार्यान्विय या 'युनिटी आफ ऐक्शन' के अर्थ का विस्तृत स्पष्टीकरण नहीं किया है, किन्तु उन्होंने इतना बतलाया है कि घटनाप्रधान प्रबन्धकाव्य में उन्हीं वृत्तान्तों का सन्निवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य कार्य के साधन-मार्ग में पड़ते हैं, अर्थात् जिनका उस कार्य से सम्बन्ध होता है। वस्तुतः कथानक की एकता का यह एक अत्यन्त सटीक विवेचन है, इसके अनुसार 'एक' कथानक वह है जिसमें—

(क) एक साध्य कार्य हो।

(ख) प्रत्येक वृत्तांत उस साध्य कार्य का अभिन्न एवं अनिवार्य साधन रूप अंग हो।

(ग) एक भी अनावश्यक अर्थात् उस साध्यकार्य से असम्बद्ध घटना या वृत्तांत न हो।

कहना न होगा कि शुक्ल जी कि प्रस्तुत धारणा अरस्तू के मत से पूर्णतया मेल खाती है। आचार्य कुन्तक ने भी प्रबन्धकाव्य के प्रसंग में सुस्पष्ट शब्दों में इसी मत की पुष्टि की है—(फलबंध) प्रधान कार्य का अनुसंधान करने वाला प्रबन्ध के प्रकरणों का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) में अभिनव सौन्दर्य के तत्त्व को उत्पन्न कर देता है।'[38] स्पष्ट शब्दों में कुन्तक के मत से कथानक का प्रत्येक प्रकरण (अंग) अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध तथा अंत

में प्रधान कार्य का उपकारक होना चाहिए। अरस्तू के मतानुसार कथावस्तु का दूसरा प्रमुख गुण है 'पूर्णता' [39] और 'पूर्ण वह है जिसमें आदि, मध्य और अवसान हो।'[40] शुक्ल जी ने इसे पूर्णतया स्वीकार किया है और जायसी की समालोचना में इसे व्यवहृत भी किया है।

प्रबन्धकाव्य के भीतर नियोजित कार्य नैतिकता, सामाजिकता और प्रभविष्णुता की दृष्टि से महान होना चाहिए या साधारण, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कोई स्पष्ट उत्तर न देकर शुक्ल जी ने डॉ० मैथ्यू आर्नल्ड के मत को उद्धृत किया है, जिससे वे पूर्णतया सहमत जान पड़ते हैं। आर्नल्ड का कथन इस प्रकार है—'मैं यह नहीं कहता कि कवित्वशक्ति का विकास साधारण से साधारण कार्य के वर्णन में नहीं हो सकता या नहीं होता है। पर यह खेद की बात है कि कवि विषय से भी ओर शक्ति तथा रोचकता प्राप्त करते हुए अपनी प्रभविष्णुता को दूनी न करके विषय को ही अपनी कवित्वशक्ति से जबर्दस्ती शक्ति और रोचकता प्रदान कराये।'[41] इससे स्पष्ट है कि श्री आर्नल्ड की झुकाव अन्ततः 'महानकार्य' की ओर ही है, साधारण कार्य की ओर नहीं, यद्यपि वे उसके वर्णन में भी कवित्वशक्ति का विकास संभव मानते हैं।

सम्बन्ध निर्वाह के अन्तर्गत ही शुक्ल जी ने कथा की गति के विराम के बारे में भी विचार किया है। उनके अनुसार किसी प्रबन्धकाव्य की कथा की गति में विरामों का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से होता है और हो सकता है। किसी भी प्रबन्धकाव्य में रसात्मकता लाने के लिए मार्मिक प्रसंगों के विवरण और चित्रण का विरामकाव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक विराम होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए, केवल जानकारी प्रकट करने के लिए, केवल अपनी अभिरुचि के अनुसार असम्बद्ध प्रसंग छेड़ने के लिए या इसी प्रकार की और बातों के लिए जो विराम होता है, वह अनावश्यक होता है।[42]

प्रबन्धकाव्य के भीतर दूसरी प्रमुख विचारणीय बात उन्होंने यह मानी है कि कवि ने इतिवृत्त के अन्तर्गत जिन नाना मार्मिक प्रसंगों का समावेश किया है, उनका उचित निर्वाह अर्थात् अपने वर्णन-कौशल द्वारा उनकी मार्मिकता का पूर्ण उद्घाटन अथवा सम्यक् प्रकाशन वह कर सका है कि नहीं। उनके वर्णन में उसका मन रमा है कि नहीं। प्रबन्धकार कवि की भावुकता की वास्तविक परीक्षा भी इसी आधार या कसौटी पर हो सकती है। उन्होंने लिखा है कि 'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।'[43] यही प्रबन्धकार कवि की भावुकता का वास्तविक निकष है। इसके अनुसार जो कवि आख्यान के मर्मस्थलों को पहचानने में जितना ही अधिक समर्थ होता है, वह उतना ही अधिक भावुक होता है। इसके विपरीत जो कवि अपने आख्यान के उन स्थलों को यों ही कह कर चलता बनता है, जिन स्थलों पर उसे रमना चाहिए वह भावुक न कहला सकेगा, उसमें भावुकता की कमी कही जायगी।

इन मार्मिक प्रसंगों का विस्तार प्रबन्धकाव्यों में दो रूपों में उपलब्ध होता है—(१) कवि द्वारा वस्तु-वर्णन के रूप में, (२) पात्र द्वारा भाव-व्यंजना के रूप में।'[44] वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना दोनों ही माध्यमों से कवि लोग इतिवृत्तात्मक अंशों को सरस बनाते हैं। शुक्ल जी ने वस्तु-वर्णन में संस्कृत कवियों को अत्यन्त निपुण कहा है। उन्होंने प्रबन्धकाव्यों में होने वाले समस्त विस्तृत वस्तु-वर्णनों को आलम्बन रूप माना है।[45] उनका कथन है कि 'जो वस्तुएँ किसी पात्र के आलम्बन के रूप में नहीं आतीं उन्हें कवि और श्रोता दोनों के आलम्बन समझना चाहिए।'[46] यहाँ उनका संकेत विशेषतया प्रकृति-वर्णन की ओर है। प्रबन्धकाव्य में वे प्रकृति वर्णन अनिवार्य नहीं मानते, किन्तु उनकी दृष्टि में 'एक बड़े प्रबन्धकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का श्रोता के भाव के आलम्बन रूप में वर्णन भी आवश्यक है।'[47] भाव व्यंजना के अन्तर्गत उन्होंने केवल दो बातें विचारणीय बतलायी हैं। (१) कितने भावों और गूढ़ मानसिक विचारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है, (२) कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।[48]

प्रबन्धगत भाव-विवेचन के सम्बन्ध में उन्होंने एक मौलिक स्थापना की है। उनका कथन है कि 'जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अन्तर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं, उसी प्रकार किसी प्रबन्धकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटनाचक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है।'[49] विचारपूर्वक देखने से यह प्रस्थापना सत्य प्रतीत होती है। प्रबन्धकाव्य के भीतर प्रधान पात्र में कोई-न-कोई प्रेरक भाव अवश्य रहता है, यह एक वस्तुगत सत्य है। उसे बीजभाव की संज्ञा देकर उसके सैद्धान्तिक प्रस्तुतीकरण का श्रेय निस्संदेह शुक्ल जी को ही है। यह बीजभाव प्राचीन आचार्यों द्वारा साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायीभाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न है।[50] अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रामचरितमानस' पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने कथाकाव्य या प्रबंधकाव्य के चार प्रमुख अवयव माने हैं—(१) इतिवृत्त, (२) वस्तुव्यापार वर्णन, (३) भाव व्यंजना और (४) संवाद।[51] इनमें से प्रथम तीन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'संवाद' भी प्रबन्धकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण अवयव होता है। अतः प्रत्येक प्रबन्धकाव्य में पात्रों की योजना के साथ संवादों का नियोजन कवि को करना ही पड़ता है। संवादों के लिए प्रसंग, पात्र और भाव के अनुकूल होना आवश्यक होता है।[52] भाव प्रेरणा से ही उनकी योजना की जानी चाहिये। यदि संवादों का प्रयोगमात्र चमत्कार उत्पन्न करने के लिये होगा, तो वे कवि-कौशल का परिचय न देंगे।[53] किन्तु यदि उनका प्रयोग भाव प्रेरित होगा तो वे चमत्कार उत्पन्न करने के साथ ही साथ भावव्यंजना में भी सहायक होंगे। परिणामतः कवि-कौशल को लक्षित करेंगे। महाकवि केशव के संवादों की शुक्ल जी ने प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि—'इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है, जैसे लक्ष्मण, राम, परशुराम संवाद तथा लवकुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाव-पेंच का आभास

भी प्रभावपूर्ण है।'[५४] शुक्ल जी की दृष्टि में संवादों में भाषा का भी विशेष महत्त्व होता है उसे पात्र और प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। उन्होंने तुलसीदास के कैकेयी और मंथरा-संवाद की भाषा की प्रशंसा की है।'[५५]

डॉ० जयचन्द्र राय ने लिखा है कि "केशव की आलोचना करते समय शुक्ल जी ने प्रबन्ध काव्य के एक अन्य उपादान का उल्लेख किया है—स्थानिक विशेषता (Local Colour)।'[५६] किन्तु विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि उपर्युक्त इतिवृत्त, वस्तु व्यापार, वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद आदि अवयवों से पृथक् अवयव के रूप में 'स्थानिक विशेषता' को नहीं माना जा सकता है। और वस्तुतः शुक्ल जी ने ऐसा माना भी नहीं है। स्थानिक विशेषता तो वस्तु-व्यापार-वर्णन में की ही एक विशेषता है, कोई पृथक् उपादान नहीं। शुक्ल जी ने दृश्यों के सम्बन्ध में ही इसका विचार भी किया है। उन्होंने केशव की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local Colour) केशव की रचनाओं में ढूंढ़ना तो व्यर्थ ही है।'[५७] निश्चय ही स्थानगत विशेषता से उनका आशय भौगोलिक विशेषताओं से है। प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन के लिये सचमुच यह विशेषता अत्यावश्यक है। इस विशेषता के अनुसार किसी भू-खण्ड के प्राकृतिक-चित्रण में उस स्थान विशेष की ही वनस्पति आदि की विशेषताओं का उल्लेख होना चाहिये—ऐसी वस्तुओं का उल्लेख न होना चाहिए जो वहाँ न हों या न हो सकती हों। स्पष्ट है कि 'स्थानगत विशेषता' वस्तु-वर्णन की एक विशेषता मात्र है, वह प्रबन्धकाव्य का संवाद, इतिवृत्त, भाव-व्यंजना और वस्तु-व्यापार-वर्णन की ही भाँति कोई अन्य अवयव नहीं। यह सही है कि शुक्ल जी ने प्रबन्धकाव्य के लिए तीन बातें अनिवार्य मानी हैं—(१) सम्बन्ध-निर्वाह, (२) कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों की पहचान, (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषता,'[५८] किन्तु इन्हें प्रबन्धकाव्य का अवयव नहीं समझा जाना चाहिये। वस्तुतः ये प्रबन्ध काव्य के पृथक्-पृथक् अवयवों की विशेषताएँ मात्र हैं। 'सम्बन्ध-निर्वाह' प्रबन्धकाव्य के 'इतिवृत्त' नामक अवयव की विशेषता है, इसी प्रकार कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान 'भाव-व्यंजना' नामक अवयव की ओर स्थानगत विशेषता 'वस्तु-व्यापार वर्णन' नामक अवयव की विशेषता है। इसी प्रकार प्रबन्धकाव्य का चौथा अवयव 'संवाद' है। जिसकी प्रमुख विशेषता है, प्रसंगानुसार भाव-प्रेरित होना। विस्तार की दृष्टि से शुक्ल जी ने प्रबन्धकाव्य को एक 'विस्तृत वनस्थली'[५९] बतलाया है और कहा है कि 'प्रबन्ध काव्य सदा बाह्यार्थनिरूपक होता है।'[६०]

शुक्ल जी ने प्रबन्धकाव्य के वर्गीकरण का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु उसका स्पष्ट संकेत उन्होंने अवश्य किया है। जायसीकृत 'पद्मावत' पर विचार करते हुए उन्होंने बतलाया है कि कुछ प्रबन्ध काव्यों में 'दृष्टि प्रमुखतया व्यक्ति पर होती है और कुछ की—किसी प्रधान घटना पर'[६१] अतः प्रथम कोटि के प्रबन्धकाव्यों को 'व्यक्तिप्रधान' और द्वितीय कोटि के प्रबन्धकाव्यों को 'घटना प्रधान' कहा जा सकता

है। शुक्ल जी का कथन है कि 'जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है, उनमें नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन गौरव या गौरवरक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं-कहीं कुछ उलट-फेर के साथ होता है और जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है, उनका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है।[६२]

प्रबन्ध काव्य प्रायः कथात्मक ही होता है, किन्तु रीतिकाल के 'अन्य कवियों पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न एक अन्य प्रकार की प्रबन्धात्मक रचना का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने 'वर्णनात्मक प्रबन्ध'[६३] की संज्ञा दी है। उनका कथन है कि 'इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तु-वर्णन चलता है। कभी-कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कवि जी अपने वस्तु परिचय का भाण्डार खोलते हैं—जैसे बारात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ों जातियों के नाम × × × वहाँ तो अच्छे-अच्छे धीरों का धैर्य छूट जाता है।'[६४] दान लीला, मान लीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मंगल वर्णन, रामकलेवा, इत्यादि इसी प्रकार की ( प्रबन्धात्मक ) रचनाएँ हैं।[६५] एक अन्य दृष्टिकोण से प्रबन्धकाव्यों के वर्गीकरण का स्पष्ट संकेत आधुनिक काव्य के विवेचन के सन्दर्भ में शुक्ल जी ने दिया है। उन्होंने 'निराला' जी के 'तुलसीदास' नामक काव्य ग्रन्थ के बारे में लिखा है कि 'वह एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अन्तर्मुख प्रबन्ध के रूप में है।'[६६] इससे अन्तर्मुख प्रबन्धकाव्य के समानान्तर बहिर्मुख प्रबन्धकाव्य का प्रत्यक्ष और यथार्थ अनुमान स्वभावतः हो जाता है। अतः इस दृष्टि से प्रबन्धकाव्य के अन्तर्मुख और बहिर्मुख दो रूप ठहरते हैं। शुक्ल जी के विवेचन से प्रतीत होता है कि अन्तर्मुख प्रबन्ध काव्य में मनुष्य के अन्तर्जगत् की ही पूर्ण झाँकी मिलती है, बाह्य जगत् की नहीं।'[६७] इसके विपरीत बहिर्मुख प्रबन्ध-काव्य में बाह्य जगत् की पूर्ण झाँकी मिलती है।[६८]

प्रबन्ध काव्य के महाकाव्य और खण्डकाव्य दो प्रचलित विभेदों का भी उल्लेख शुक्ल जी ने किया है—'( भाव की ) स्थायी दशा महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धों में होती है,[६९] किन्तु इनका विस्तृत विवेचन उन्होंने नहीं किया है।

**मुक्तक काव्य**

आचार्य शुक्ल का यह सूक्ति वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है कि—'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।'[७०] यह कहकर उन्होंने प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य के रूपाकारात्मक, रसात्मक एवं कलात्मक अन्तरों को सरलता के साथ व्यक्त कर दिया है। विस्तार एवं वैविध्य की जो स्थिति वनस्थली में मिलती है वह किसी गुलदस्ते में सम्भव नहीं और जो संक्षिप्त एवं घनीभूत सज्जा गुल-दस्ते में मिलती है, वह वनस्थली में संभव नहीं। परिणामतः उनकी प्रभावात्मकता भी भिन्न-भिन्न कोटि की होती है। शुक्ल जी ने लिखा है—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक

मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।'[७१] इसके विश्लेषण से प्रबन्ध और मुक्तक का रस और प्रभाव की दृष्टि से विभेद स्पष्ट हो जाता है। प्रबन्ध में रस की धारा होती है, किन्तु मुक्तक में रस के छींटे होते हैं, धारा नहीं। परिणामतः प्रबन्ध का हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, किन्तु मुक्तक का अस्थायी या क्षणिक। मुक्तक की एक अभावात्मक किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है --इतिवृत्तात्मकता या कथात्मकता का अभाव। कारण यह कि प्रबन्ध में जहाँ 'पूर्ण जीवन'[७२] या उसके 'किसी पूर्ण अंग'[७३] का संघटित क्रम से प्रदर्शन होता है, वहाँ मुक्तक में किसी 'रमणीय खण्ड दृश्य मात्र'[७४] का कलात्मक प्रदर्शन होता है। शुक्लजी के मतानुसार 'इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।'[७५] इसीलिए मुक्तकों की सफल रचना के लिए कवि में 'कल्पना की समाहार शक्ति'[७६] और भाषा की समास शक्ति'[७७] की एक साथ आवश्यकता होती है। बिहारी को उन्होंने एक सफल मुक्तककार माना है और लिखा है कि 'यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं।'[७८]

जीवन की ही भाँति काव्य के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल ने तीन प्रकार की क्षणिक, स्थायी एवं शील भावदशाएँ स्वीकार की हैं। इनमें से क्षणिक भावदशा का सम्बन्ध उन्होंने मुक्तक के साथ और शेष दो 'स्थायी' एवं 'शील' भावदशाओं का सम्बन्ध प्रबन्धकाव्यों के साथ जोड़ा है। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि 'क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धों में और शील दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।'[७९] कहना न होगा कि पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रबन्ध काव्यों में ही सम्भव है, मुक्तक में नहीं। इस सिलसिले में डॉ॰ जयचन्द्र-राय का यह कथन कि 'भावदशा की दृष्टि से मुक्तक और प्रबन्ध का उक्त भेद निरूपण सर्वथा मौलिक और वैज्ञानिक है'[८०] सत्य है।

प्रबन्ध और मुक्तक की तुलनात्मक महत्ता का प्रश्न उठने पर शुक्ल जी की ओर से कहा जाना चाहिए कि वे प्रबन्धकाव्य को श्रेष्ठ समझते थे। जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में प्रबन्ध और मुक्तक की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है—'यदि कोई इसके विचार का आग्रह करे कि प्रबन्ध, मुक्तक इन दो क्षेत्रों में कौन अधिक महत्त्व का है, किस क्षेत्र में कवि की सहृदयता और भावुकता की पूरी परख हो सकती है, तो हम बार-बार वही बात कहेंगे जो गोस्वामी जी की आलोचना में कह आये हैं, अर्थात् प्रबंध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है।'[८१] स्पष्ट है कि वे मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को श्रेष्ठ समझते थे। डॉ॰ रामविलास शर्मा का कथन है कि 'शुक्ल जी ने साहित्य के लोकपक्ष पर जोर दिया है, उसका यह सहज परिणाम है।[८२] मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को महत्तर मानने के पीछे एक प्रबल मनोवैज्ञानिक आधार भी है। वह

यह कि मुक्तक में भाव की स्थायी दशा और शीलदशा की उपलब्धि नहीं होती है, फलतः उसका मानव जीवन पर स्थायी एवं व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत प्रबन्ध में भाव की स्थायी एवं शीलदशा की उपस्थिति के कारण उसका गंभीर, व्यापक एवं स्थायी प्रभाव मानव-हृदय पर पड़ता है। अतः प्रबन्ध काव्य मुक्तक की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरता है। निस्संदेह शुक्ल जी का यह तर्क नितांत प्रबल है। प्रबन्ध की श्रेष्ठता स्वीकार करने के और भी कारण थे। पहला कारण 'परम्परा' कही जा सकती है। काव्य-विवेचन की भारतीय परम्परा में सदैव प्रबन्धकाव्यों या आख्यानकाव्यों को मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। सुन्दर मुक्तक तो अनेक हो सकते थे किन्तु 'अनुज्झितार्थ सम्बन्धों प्रबन्धों दुरुदाहरः' माना जाता था। दूसरा कारण तत्कालीन हिन्दी साहित्य की स्थिति थी। उस समय पाश्चात्य विशेषकर अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता के प्रभाव से हिन्दी में भी कविता को आत्मोद्गार मानने का चलन-सा हो गया था। मुक्तकों में अतिरंजित वर्णनों का प्राचुर्य था। उनमें जीवन के वास्तविक मार्मिक चित्रों का दर्शन दुर्लभ था। यह आम धारणा हो गई थी कि इस युग में 'ऐसी लम्बी कविताएँ पढ़ने की किसी को फुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता है। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे-छोटे प्रगीत मुक्तकों में ही सम्भव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जाने वाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बन्द-सी हो गई थी।'[८३] ऐसी दशा में प्रबन्ध की श्रेष्ठता प्रतिपादन एक वस्तुगत आवश्यकता थी। डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'शुक्ल जी ने प्रबन्ध काव्य को श्रेष्ठ बताकर साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण रूप की ओर हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान ठीक ही आकर्षित किया है।'[८४]

परम्परा और परिस्थिति के अतिरिक्त तीसरा कारण शुक्ल जी का अपना काव्यात्मक दृष्टिकोण था। उनकी मान्यता है कि 'अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है।'[८५] तात्पर्य यह कि वे कवि के लिए वस्तुवादी दृष्टिकोण *प्रायेण प्रबन्धों में ही मिलता है—प्रगीतात्मक मुक्तकों में नहीं।* प्रगीत मुक्तकों में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होती है, वस्तुवादिता की नहीं। अतः उनमें 'निजी योग-क्षेम की भावना' का पूर्ण परिहार नहीं हो पाता है, फलतः प्रगीत मुक्तक शुक्ल जी के मूल काव्य संबंधी दृष्टिकोण के पूर्णतया अनुरूप नहीं पड़ते। अतः प्रगीत मुक्तक और मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध को श्रेष्ठ घोषित करना उनके लिए स्वाभाविक था और उचित भी।

इसी प्रकार उनका रसवादी दृष्टिकोण भी प्रबन्धकाव्य की श्रेष्ठता स्वीकार कराने में प्रमुख रूप से सहायक रहा है। रस की जो तीव्र-धारा प्रबन्धों में प्रवाहित होती है, वह मुक्तकों में सम्भव ही नहीं। उनमें तो रस के छींटे ही मिल सकते हैं, किन्तु उन बूँदों से धारावगाहन में अभ्यस्त हृदय की परितृप्ति नहीं हो सकती। शुक्ल जी का हृदय तो वनस्थली में रमने का शौकीन था, गुलदस्ते से उसे सन्तोष कहाँ से सम्भव था?

इसीलिए बिहारी की समीक्षा करते हुए अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्होंने लिख भी दिया कि—"प्रबन्ध यदि एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।[८६] भले ही गुलदस्ता सभा-समाज के लिए अधिक उपयुक्त हो, किन्तु रमणीयता में वह विस्तृत वनस्थली की समानता कैसे कर सकता है ?

शुक्ल जी जिस प्रकार जीवन में लोक-मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनों के समन्वय के पक्षपाती हैं, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी। लोक-मंगल की साधनावस्था में वे अपूर्व सौंदर्य का दर्शन करते हैं। उसकी उपेक्षा न तो जीवन में और न काव्य में ही वे सह सकते हैं। काव्य में 'सिद्धावस्था' सम्बन्धी सौन्दर्य का प्राचुर्य देख कर वे सदा ही 'साधनावस्था' को काव्य के सर्वश्रेष्ठ विषय के रूप में ग्रहण करने का आग्रह करते रहे। सिद्ध पक्ष अथवा भोग पक्ष में उन्हें उत्साहमय कर्म-सौंदर्य का दर्शन नहीं मिलता था इसीलिए 'साधन' या 'प्रयत्न' पक्ष का उनका आग्रह काफी बढ़ गया था। मुक्तकों की दीर्घकालिक परम्परा में जीवन का सिद्धपक्ष या उपभोग पक्ष ही प्रधानतः काव्य का विषय बनाया गया था। शृङ्गार रस का उनपर एकाधिकार सा था। अधिकांश मुक्तकों में शृङ्गार रस के संयोग और वियोग पक्षों का ही चित्रण रहता था। उनमें प्रयत्न-पक्ष का आकर्षक चित्रण न था। इसका चित्रण उन्हें प्रबन्धों में ही दिखायी पड़ता था। अतः इस कारण भी प्रबन्ध काव्य को मुक्तक की तुलना में श्रेष्ठ घोषित करना स्वाभाविक ही था। यह ध्यातव्य है कि मुक्तकों से लोकमंगल की साधनावस्था का कोई विरोध नहीं है, ऐसे भी मुक्तक हो सकते हैं और हैं भी जिनमें साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष के अत्यन्त आकर्षक चित्र हैं, तथापि यह ऐतिहासिक सत्य है कि मुक्तक परम्परा में परिमाण की दृष्टि से सिद्धपक्ष या उपभोग पक्ष प्रधान मुक्तक ही अधिक लिखे गये।

इसी प्रकार काव्य में विभाव विधान को ही कवि का प्रमुख कार्य मानने के दृष्टिकोण ने भी उन्हें प्रबन्ध काव्य को मुक्तक की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने में पर्याप्त सहायता पहुँचायी। प्रबन्ध के अन्तर्गत विभाव-विधान के लिए अपेक्षित क्षेत्र की उपलब्धि सरलता से हो जाती है, किन्तु अपनी संकुचित सीमा के कारण मुक्तक में यह सम्भव नहीं होता। इसके फलस्वरूप विभाव-विधान की अपेक्षा आत्माभिव्यक्तिपूर्ण भाव पक्ष ही उसमें प्रधान हो उठता है। इस कारण भी यह स्वाभाविक था कि शुक्ल जी प्रबन्ध की श्रेष्ठता स्वीकार करते।

शुक्ल जी सम्पूर्ण गोचर-जगत को ही काव्यालम्बन स्वीकार करते हैं। 'गोचर' के पार जाकर 'अगोचर' की खोज करने की बात वे काव्यक्षेत्र के बाहर की समझते हैं। 'अगोचर' को काव्य का विषय या किसी भाव का आलम्बन बनाने के लिए वे कभी भी तैयार नहीं हुए। संयोग से ही सही उस समय प्रगीत मुक्तकों में अगोचर के चित्रण की चर्चा बड़ी रहस्यात्मकता के साथ धूमधाम से चल रही थी। इसलिए भी मुक्तकों की ओर से उदासीन होना और प्रबन्धों की ओर उनका झुकना स्वाभाविक था।

किन्हीं भी कारणों से सही, प्रबन्ध शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का श्रेष्ठतम

रूप है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त आदि महान आचार्यों ने इसी मत का अत्यन्त सशक्त शब्दों में प्रतिपादन किया है। आचार्य वामन ने 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' में माला और उत्तंस का सम्बन्ध माना है: क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् [८७] अर्थात् जैसे माला गुंफन की कला में पारंगत होने के पश्चात् ही उत्तंस-गुम्फन में सिद्धि प्राप्त होती है, वैसे ही मुक्तक रचना में सिद्धि के पश्चात् ही कवि प्रबध रचना में सिद्धि प्राप्त करता है। कुछ व्यक्ति मुक्तक में ही अपने कवि कर्म की महत्ता मान बैठते हैं, किन्तु वामन की दृष्टि में यह उचित नहीं, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि का पृथक् परमाणु प्रकाश-दान नहीं करता, उसी प्रकार मुक्तक काव्य भी सम्यक्‌रूप से प्रकाशित नहीं होता। आचार्य कुंतक ने प्रबन्ध को कवीन्द्रों का कीर्ति-कन्द अर्थात् यश का मूलाधार माना है: 'प्रबंधेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकान्देषु किं पुनः।'[८८] आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार विभावादि समस्त रसांगों का सम्यक् वर्णन रस के उत्कर्ष का कारण है और वह प्रबन्धकाव्य में ही सम्भव होता है। अतएव मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध का महत्त्व निश्चय ही अधिक है—'तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां समप्राधान्यम्) प्रबन्ध एव।'[८९]

स्पष्ट है कि प्रबन्ध काव्य की श्रेष्ठता सम्बधी शुक्ल जी का मत भारत की गम्भीर-विचार परम्परा द्वारा स्वीकृत मत है। डॉ० जयचन्द्रराय का यह कथन कि 'प्रबन्ध काव्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ चाहे कैसी ही प्रबल क्यों न हों, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि मुक्तक काव्य और विशेषकर प्रगीत मुक्तक की समीक्षा में यह दृष्टिकोण बाधा-स्वरूप हुआ और वे अवसर उसका अवमूल्यन कर गए।'[९०] —उचित प्रतीत नहीं होता। यह सही है कि शुक्ल जी ने मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध की श्रेष्ठता स्वीकार की है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने 'मुक्तक का अवमूल्यन' किया है। कहाँ और कब उन्होंने मुक्तक का अवमूल्यन किया? डॉ० राय ने किसी भी ऐसे स्थल का निर्देश नहीं किया है। अतः प्रगीत मुक्तकों और मुक्तकों के अवमूल्यन करने का उनका आरोप निराधार है। मुक्तक को 'चुना हुआ गुलदस्ता' कहना और 'सभा समाजों के लिए' प्रबन्धों की तुलना में 'अधिक उपयुक्त' बताना क्या उसका अवमूल्यन करना है? वस्तुतः शुक्ल जी की विस्तृत समग्र दृष्टि में समूचे साहित्य की तत्कालीन ऐतिहासिक रूप-रेखा विद्यमान थी, वे समन्वित एवं सन्तुलित दृष्टि के विचारक थे, अतः प्रचुर प्रवृत्ति के प्रति थोड़ी उदासीनता और अल्प किन्तु उपयोगी प्रवृत्ति की ओर झुकाव पैदा करके समन्वय एवं सन्तुलन की स्थापना करना ही उनका प्रमुख लक्ष्य था। आधुनिक हिन्दी कविता के प्रगीत मुक्तकों के व्यापक प्रचार की समीक्षा करते हुए उनका यह कहना कि 'बात यह है कि प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति निरूपक (Subjective) प्रगीत मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण बाह्यार्थ निरूपिणी (objective) प्रतिभा का ह्रास हो गया...।'[९१] अपने-आप में सही और हमारी उपर्युक्त बात का स्पष्ट प्रमाण है। उस समय जो प्रबन्ध लिखे गए, उन पर भी इस अन्तर्वृत्ति निरूपिणी व्यापक प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा और प्रबन्धत्व की किसी सीमा तक क्षति हुई। शुक्ल

जी ने गुप्तजी के 'साकेत' और 'यशोधरा' में प्रबन्धत्व की कमी बतलायी है और कारण बतलाते हुए कहा है कि 'इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्त जो की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी।'[९२] यह सच भी है, किन्तु प्रगीतात्मकता के अतिरेक को प्रबन्धत्व का बाधक बतलाना एक वस्तुगत सत्य का वैज्ञानिक अन्वेषण करना है, न कि प्रगीत मुक्तक या मुक्तक का अवमूल्यन करना। हिन्दी में 'रीतिकाल' प्रकीर्णकों या मुक्तकों का काल था हो, उसके बाद भी फुटकल रचनाओं की ही सफल रचनाएँ होती रहीं—अच्छे प्रबन्ध काव्य नहीं लिखे जा सके। ऐसी हालत में प्रबन्ध काव्य की महत्ता प्रतिपादित करना क्या प्रगीत मुक्तकों का अवमूल्यन करना कहा जाना चाहिए ?

## गीत काव्य

गीत काव्य का मूल स्रोत शुक्ल जी ने लोकगीतों को माना है। गीतों (यानी लोकगीतों) की परम्परा सभ्य-असभ्य सब जातियों में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है।[९३] इन्हीं प्राचीन लोकगीतों का काव्यात्मक अथवा साहित्यिक रूपगीतकाव्य कहलाया। लोकगीतों की परम्परा ने ही अपने परिमार्जित और संस्कृत रूप में गीत-काव्य की साहित्यिक परम्परा को जन्म दिया। दोनों का समानान्तर विकास चलता रहता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल का कहना है कि किसी देश की काव्य-धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्हीं गीतों (लोकगीतों) से मिल सकता है। सूरसागर के विषय में उन्होंने लिखा है कि वह—'किसी चली आती हुई गीत काव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।'[९४]

गीत काव्यों का स्रोत होने के कारण लोकगीतों का अत्यन्त महत्त्व है। गीत काव्य तो किसी देश के शिष्ट समूह की भाव-धारा मात्र का परिचय देते हैं, किन्तु लोक-गीतों से समूचे देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भाव-धारा के स्वरूप का ठीक-ठीक परिचय मिल सकता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भाव-धारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है।'[९५]

शुक्ल जी के मतानुसार गीत काव्य में प्रबन्ध के विपरीत जीवन की अनेक रूपता का समावेश नहीं होता है।[९६] इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि कृष्ण चरित के गान में गीतकाव्य की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई, वह प्रमुखतः यौवन लीला और बाल लीला को लेकर हुई है, उसमें कृष्ण के जीवन के प्रयत्न-पक्ष का समावेश नहीं के बराबर हुआ। गीतिकाव्यों में 'अन्तर्वृत्तिनिरूपक' प्रवृत्ति प्रधान होती है। अतः उसमें आत्माभिव्यक्ति भी वस्तु-निरूपण की अपेक्षा प्रधान होती है। शुक्ल जी की दृष्टि में 'अतिरंजना' गीतिकाव्य की एक प्रमुख विशेषता है। वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना दोनों में ही कवियों का ध्यान अतिरंजना की ओर अधिक रहता है।

रचना-शैली की दृष्टि के अतिरिक्त यथार्थता और अतिरंजना को दृष्टि में रख कर शुक्ल जी ने काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया है (१) अनुकृत (इमिटेटिव) या प्रकृत (रियलिस्टिक) तथा (२) अतिरंजित (एग्जैजरेटिव) या प्रगीत (लिरिकल)।[९७] साथ ही यह भी बतलाया है कि 'कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है।'[९८] वस्तुत' वे स्वाभाविकता के पक्ष में थे। अतिरंजना उन्हें वियोग-वर्णन में भी प्रिय न थी। सूरदास के अतिशयोक्तिपूर्ण विरह वर्णनों को उन्होंने 'बालक्रीड़ा'[९९] की संज्ञा दी है।

काव्य-भेद निरूपण की परम्परा में रचयिता द्वारा अपनायी गयी रचना-दृष्टि की दृष्टि से काव्य को स्वानुभूति निरूपक (Subjective) और बाह्यार्थ निरूपक (objective) दो वर्गों में विभक्त किया जाता रहा है। इस वर्गीकरण का उपयोग शुक्ल जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए इसे अनावश्यक-सा बतलाते हुए लिखा है कि 'स्वानुभूति निरूपक' और बाह्यार्थ निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है।'[१००] उनका तर्क है कि 'कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है, उन्हें भी वह जिस रूप में आप अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अतः वे भी उसकी स्वानुभूति ही हुई।'[१०१] इस प्रकार वस्तुतः प्रत्येक दशा में वह स्वानुभूति की ही व्यंजना करता है, परानुभूति की नहीं। अतः उक्त भेदों का कोई तात्विक आधार ही नहीं।

साधन और सिद्ध अवस्थाओं को दृष्टि में रखकर एक और प्रकार से उन्होंने काव्य का वर्गीकरण किया है (१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य और (२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य। आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत और रामचरितमानस आदि और आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्यासप्तशती और सूर-सागर आदि।'[१०२] कहना न होगा कि यह वर्गीकरण पूर्णतया उनके जीवन दर्शन पर आधारित है, साथ ही वैज्ञानिक और व्यावहारिक आलोचना के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है।

काव्यगत आलम्बन के स्वरूप के आधार पर उन्होंने काव्य को विभाव-विधायक और भाव-प्रदर्शक इन दो कोटियों में विभक्त किया है।'[१०३] वह काव्य जिसमें किसी भाव का कोई विषय इस रूप में लाया जाता है कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति होती है, ऐसे काव्य को ही विभाव-विधायक कहा है।[१०४] इनके विपरीत जिस काव्य में वर्णित आलम्बन अपने स्वरूप के कारण सब के उसी भाव का आलम्बन न बन सके अर्थात् उसका साधारणीकरण न हो तो वह भाव प्रदर्शक कहा जायगा।[१०५] काव्य का यह वर्गीकरण शुक्ल जी द्वारा किया गया मौलिक वर्गीकरण है, जिसका सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक वस्तुगत आधार मौजूद होने के कारण तर्क संगत होना असंदिग्ध है।

### गद्यकाव्य

शुक्ल जी के मतानुसार 'गद्यकाव्य' में भाव और चमत्कार की मात्रा नाटकादि शेष साहित्यरूपों की तुलना में अधिक, किन्तु काव्य की तुलना में समान होती है। काव्य की ही भाँति इसमें भी लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग की सम्भावना शेष साहित्य-रूपों की तुलना में अधिक रहती है।[१०६] गद्यकाव्य के विषय में शुक्ल जी ने अति संक्षेप में ही अपना विचार प्रस्तुत किया है। इसका विस्तृत विवेचन उन्होंने न तो अपने अभिभाषण में किया है और न तो अन्यत्र कहीं ही। अपने अभिभाषण में उन्होंने कहा है—'काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना भेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।'[१०७] गम्भीरतापूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि गद्य काव्य पद्य काव्य का, जिसे सामान्यतया प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति के कारण 'काव्य' या कवितामात्र कह दिया जाता है, प्रतिरूप है। दोनों में रचना-भेद के अति-रिक्त और कोई भेद नहीं होता। रचना की दृष्टि से एक छन्दबद्ध और दूसरा छन्दमुक्त होता है। यही उनका अन्तर है। अर्थ की दृष्टि से दोनों समान होते हैं। पद्य काव्य की ही भाँति गद्य काव्य में भी वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ आदि सभी का समावेश रहता है। पद्य काव्य की ही भाँति गद्य काव्य भी मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार के हो सकते हैं।'[१०८] शुक्ल जी के मतानुसार श्रीयुत रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि के प्रभाव से हिन्दी में नए ढंग के गद्यकाव्य की बहुलता हुई।'[१०९] मासिक पत्रिकाओं में अनेक रूप रंग के भावात्मक गद्य प्रबन्ध निकलने लगे।[११०] श्रीयुत रामकृष्णदास की 'साधना' और वियोगी हरि की 'अन्तर्द्वन्द्व' नामक पुस्तकें निकलीं।'[१११] साहित्य में इस प्रकार के गद्य प्रबन्धों को भी वे विशिष्ट स्थान देते हैं, किन्तु इनकी भरमार को वे अच्छा नहीं सम-झते।'[११२] उन्होंने लिखा है कि 'यदि इसी प्रकार के गद्य की ओर ही लोगों का ध्यान रहेगा, तो प्रकृत गद्य का विकास रुक जायगा और भाषा की शक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पड़ेगी।'[११३]

### उपन्यास

उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव प्रवृत्ति पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है।'[११४] आचार्य शुक्ल के मतानुसार मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना,[११५] समाज के विभिन्न रूपों और भिन्न-भिन्न वर्गों की प्रवृत्तियों का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण कराना,[११६] आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निरा-करण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है,[११७] लोक या किसी जन समाज के बीच की गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियों को गोचर रूप में सामने लाना[११८] और उनके निस्तार का मार्ग प्रत्यक्ष करना[११९] आदि उपन्यासों के प्रमुख कार्य हैं। उनका कहना है कि 'यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन

बनता है और जो इतिहास आदि के पहुँच के बाहर हैं।'[१२०] बात सच प्रतीत होती है, क्योंकि संसार में मनुष्य-जीवन सम्बन्धी बहुत-सी ऐसी-ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं, जिनका इतिहास लेखा नहीं रख सकता, पर जो बड़ी महत्त्व की होती हैं। ऐसी ही बातों का प्रत्यक्षीकरण कराना उपन्यास का प्रमुख कार्य होता है। यहीं पर 'उपन्यास' और महापुरुषों के जीवन-चरित्र के अन्तर को भी समझ लेना उपयुक्त होगा। शुक्ल जी के मतानुसार महापुरुषों के जीवन चरित्र मानव जीवन का पूर्ण और वास्तविक चित्रण नहीं करते। इनमें भी बहुत सी सूक्ष्म घटनाएँ तो असामर्थ्य के कारण छूट जाती हैं और बहुत सी स्थूल घटनाएँ किसी विशेष अभिप्राय से छिपा दी जाती हैं। इनमें मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ साफ-साफ नहीं झलकाई जातीं,[१२१] किन्तु उपन्यास में मानवीय अन्तःकरण की तुच्छ और उच्च दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण आवश्यकतानुसार होता है।

आचार्य शुक्ल ने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों पर ही प्रमुख रूप से विचार किया। उनके मतानुसार ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास के सच्चे पात्रों के अतिरिक्त अन्य कल्पित पात्रों की योजना की जा सकती है, किन्तु उन्हें तत्कालीन सामाजिक परिवेश के अनुकूल ही होना चाहिए।[१२२] ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का प्रमुख कार्य होता है, किसी इतिहास प्रसिद्ध घटना के ऐसे-ऐसे अंगों का वर्णन, जिन पर इतिहास ने ध्यान नहीं दिया।[१२३] यह कार्य अनुमान के ही आधार पर सम्पन्न होता है, किन्तु इससे उसकी ऐतिहासिकता की कोई क्षति नहीं होती है। इतिहास में जो व्यापार केवल दो-एक शब्द (यथा, अत्याचार) द्वारा निर्दिष्ट हो उसे अनुमान और कल्पना के आधार पर प्रत्यक्षीकृत करने का अधिकार ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक को होता है। यह अधिकार निरपेक्ष न होकर इतिहास में वर्णित देश-काल आचार-व्यवहार सापेक्ष होता है। अतः यह ऐसी कोई बात नहीं कह सकता जो इतिहास की प्रसिद्ध घटना व व्यक्ति के विरुद्ध सिद्ध हो।[१२४] शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बहुत ही जिम्मेदारी का काम समझते हैं।[१२५] उन्होंने लिखा है—'जब तक भारतीय-इतिहास से भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेषरूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्योरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।[१२६] उनका मत है कि 'ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ ही साथ परम्परागत रहन-सहन, बोल-चाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए।[१२७] इन्हीं बातों के अभाव के कारण उन्होंने पंडित किशोरीलाल गोस्वामी की आलोचना करते हुए लिखा है—'गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं-कहीं तो काल-दोष तुरन्त ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।[१२८]

सामाजिक उपन्यासों के विषय में शुक्ल जी का कहना है कि—"कहीं पर ये उपन्यास यह दिखलाते हैं कि समाज कैसा है और कहीं पर यह दिखाते है कि समाज को कैसा होना चाहिए।'[१२९] इस प्रकार उन्होंने यथार्थ और आदर्श दोनों को औपन्यासिक विषय वस्तु की सीमा में समेट लिया है। वे उपन्यासों में मनुष्य जीवन को देव-जीवन और धराधाम को स्वर्ग-धाम बनाने की सम्भावनाओं को पसन्द करते हैं।[१३०] साथ ही अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुसार उनमें देश तथा समाज की सामान्य जीवन पद्धति तथा समस्याओं का चित्रण देखना चाहते हैं।[१३१] इसीलिए योरोपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय का सामान्य जीवन-चित्रण उपन्यासों में उन्हें पसन्द नहीं। देश तथा समाज की सामान्य जीवन-पद्धति के आदर्शोन्मुख चित्रण के कारण ही उन्होंने प्रेमचन्द को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माना है।'[१३२] उपन्यासों में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण भी उन्हें प्रिय है।[१३३]

उन्होंने उपन्यासों के बारे में कुछ उम्दा सुझाव दिये हैं, बहुत से पात्र और घटनाएँ इकट्ठा करने के बदले पात्रों के भरे-पूरे चित्रण और उनके चरित्र-विकास पर जोर दिया है।[१३४] उपन्यासकारों को उन्होंने सलाह दी है कि उन्हें देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों को बातों को लेकर ही न चलना चाहिए।[१३५] उन्होंने लिखा है कि 'वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं।'[१३६] विश्लेषण करने पर तीन प्रमुख बातें निकलती हैं—

(१) वे उपन्यास को एक बहुत बड़ी शक्ति और समाज-सुधार का प्रबल अस्त्र समझते हैं, मनोरंजन का साधन मात्र नहीं।

(२) उनके मतानुसार उपन्यास की प्रमुख विशेषता है, विस्तृत प्रत्यक्षीकरण, जो उन्हें अन्य साहित्यिक विधाओं से पृथक् करती हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—'उपन्यास में जितने विस्तार से समाज की गतिविधि का चित्रण किया जा सकता है, उतने विस्तार से न तो कविता में संभव है, न नाटक में। यही कारण है कि साहित्य में यथार्थवाद के विकास के साथ-साथ उपन्यास ही उसका मुख्य रूप बन गया है।'[१३७]

(३) वे उपन्यासों में समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में उत्पन्न होने वाली वर्गीय प्रवृत्तियों का चित्रण चाहते हैं, व्यक्तिवादिता के प्रति आग्रह उनमें नहीं है।

शुक्ल जी का मत है कि 'उपन्यास में मन बहुत कुछ घटनाचक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं, पात्रों द्वारा भावों की लम्बी-चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।'[१३८] सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि उपन्यास में प्रायेण भाव-व्यंजना की अपेक्षा घटना-संघटन ही प्रधान होता है।

अतः भाव-व्यंजना के गुणीभूत होने के कारण उपन्यास के कथा-प्रवाह और कथोपकथन में काव्य और गद्य-काव्य ही नहीं, प्रत्युत नाटक की भी तुलना में, अर्थ अपने प्रकृत रूप में कहीं अधिक विद्यमान रहता है।'[१३९] ऐसा शुक्ल जी का निश्चित मत है। अर्थ की दृष्टि से उनकी धारणा है कि निबन्ध के अतिरिक्त शेष सभी साहित्य-रूपों की भाँति उपन्यास में भी कल्पित अर्थ की ही प्रधानता रहती है और शेष तीनों प्रकार के प्रत्यक्ष, अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं।'[१४०]

ऊपर कहा गया है कि उपन्यास में शुक्ल जी घटना-संघटन की प्रधानता स्वीकार करते हैं, भाव-व्यंजना की नहीं, किन्तु प्रारम्भ में उनका कुछ दूसरा ही मत था। उन्होंने 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' नामक उपन्यासों के रचयिता बाबू देवकीनन्दन खत्री को साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का पहला उपन्यासकार नहीं माना और उनके उक्त उपन्यासों की गणना साहित्य-कोटि में नहीं की। उन्होंने लिखा है कि 'इन (चन्द्रकांतादि) उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रस संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते।'[१४१] वे काव्य-कोटि में उन्हीं उपन्यासों को समाविष्ट करने के पक्ष में थे, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो।'[१४२] वैसे तो अन्त तक के भावों के प्रति आग्रह से मुक्त नहीं हो सके और अपने इन्दौर वाले भाषण में भी पुराने कथात्मक गद्य प्रबन्ध के ढाँचे का उन्होंने समर्थन किया है—'उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था।'[१४३] किन्तु अपने आग्रह को उन्होंने आगे चलकर शिथिल किया। अन्त में उनकी यह धारणा बनी कि उपन्यासों के भीतर लम्बे-लम्बे दृश्यवर्णनों तथा धारा प्रवाह भाव-व्यंजना पूर्ण भाषण की प्रथा उचित नहीं, अतः उपन्यास की अपनी निज की विशिष्टता यही है कि उसकी घटनाएँ और पात्रों के क्रियाकलाप ही भावों को बहुत कुछ व्यक्त कर दें, पात्रों के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे। पात्रों के थोड़े मार्मिक शब्द ही हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव को पूर्ण कर दें।[१४४]

उनके मतानुसार उपन्यास का आधार अनुमान शक्ति है केवल कल्पना नहीं। उन्होंने लिखा है कि 'बहुत से लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है न कि केवल कल्पना।'[१४५] यह बात उन्होंने उपन्यासकार के पक्ष को दृष्टि में रखकर कही है जो तत्त्वतः संगत भी है। श्री शिवनाथ जी का यह कथन कि 'उपन्यास रचना के क्षेत्र में हमें स्थूलतः 'कल्पना' और 'अनुमान शक्ति' में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता'[१४६] 'स्थूलतः ही सत्य प्रतीत हो सकता है, किन्तु सूक्ष्मतः नहीं।

उपन्यासों का वर्गीकरण

कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार हिन्दी के अपने वर्तमान उपन्यासों को उन्होंने निम्न सात प्रमुख वर्गों में विभक्त किया—

(१) घटनावैचित्र्य प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे जासूसी और वैज्ञानिक, आविष्कारों का चमत्कार दिखाने वाले।[१४७] इसमें साहित्य का गुण अत्यन्त अल्प होता है, केवल इतना ही होता है कि आश्चर्य और कुतूहल जगाते हैं।[१४८]

(२) मनुष्य के अनेक पारस्परिक सम्बन्धों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखने वाले, जैसे प्रेमचन्द जी का 'सेवा सदन'।[१४९]

(३) समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले, जैसे प्रेमचन्द जी का 'रंगभूमि'।[१५०]

(४) अंतर्वृत्ति अथवा शीलवैचित्र्य और उसका विकासक्रम अंकित करने वाले जैसे प्रेमचन्द जी का 'गबन'।[१५१]

(५) भिन्न-भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देने वाले।[१५२]

(६) समाज के पाखण्डपूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करने वाले जैसे पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल'।[१५३]

(७) बाह्य और अभ्यांतर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करने वाले।[१५४]

किन्तु उन्होंने इन्हीं वर्गों तक अपने को सीमित न रखकर यह भी कह दिया है कि 'अनुसंधान और विचार करने पर इसी प्रकार और दृष्टियों से भी कुछ भेद किए जा सकते हैं।'[१५५]

कहानी

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक, शाश्वत एवं सार्वभौमिक है।[१५६] स्पष्ट शब्दों में आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अन्तर्गत है, उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों में चला आ रहा है।'[१५७]

यह सही है कि समूचे विश्व में, भारतवर्ष में भी, कथा साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु आधुनिक कथा-साहित्य प्राचीन कथा-साहित्य से भिन्न कोटि का साहित्य है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ और विकास दिखाते हुए उसका सम्बन्ध अंगरेजी साहित्य से जोड़ा है।[१५८] उनके मतानुसार अंगरेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियाँ निकला करती थीं वैसी कहानियों की रचना पहले 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी, फिर 'सरस्वती' पत्रिका में भी उसी प्रकार की कहानियों के दर्शन होने लगे। इस वास्तविकता का स्पष्ट उल्लेख कर उन्होंने हिन्दी साहित्य की आधुनिक कहानियों या नई कहानियों को

प्राचीन भारतीय कहानियों से पृथक् किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने उनके बीच के प्रमुख अन्तर को भी स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार की कहानियों में इतिवृत्त का प्रवाह विद्यमान रहता है, किन्तु जहाँ 'पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा-प्रवाह अखण्ड गति से एक ओर चला चलता था जिसमें घटनाएँ पूर्वापर जुड़ती सीधी चली जाती थीं'[१५९] वहीं आधुनिक लेखक नए ढंग की कहानियों में 'कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृङ्खला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृङ्खलाओं से गुंफित होती चलती है और अन्त में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।'[१६०] स्पष्ट है कि शुक्ल जी नए ढंग की कहानियों को पुराने ढंग की कहानियों से अलग करते हैं और उसका प्रमुख आधार है नई कहानियों का घटना-विन्यास-वैचित्र्य। घटना-विन्यास-वैचित्र्य का तात्पर्य घटना-वैचित्र्य समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए। घटनाओं का वैचित्र्य तो प्राचीन कहानियों में ही प्रचुर था और इसीलिए कौतूहल की मात्रा भी उनमें अधिक थी, किन्तु आधुनिक कहानियों में यथार्थता, स्वाभाविकता और बौद्धिकता या बुद्धिवादिता का प्रमुख स्थान है, इसीलिए उनमें अपेक्षाकृत 'कौतूहल की मात्रा कम हो गई है।'[१६१] घटना-विन्यास-वैचित्र्य से शुक्ल जी का अभिप्राय वस्तु-विन्यास के ढंग में पाई जाने वाली वक्रता से है। हिन्दी साहित्य की आधुनिक कहानियों के वस्तु-विन्यास के ढंग में पाए जाने वाले वैचित्र्य के संदर्भ में उन्होंने लिखा है : 'घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्यय कहीं-कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिए कुछ देर रुकना पड़ेगा।'[१६२] क्योंकि कभी-कभी एक ही नंबर (परिच्छेद) के भीतर चलते हुए वृत्त के बीच थोड़ी सी जगह छोड़कर किसी पूर्वकाल की परिस्थिति पाठकों के सामने एकबारगी रख दी जाती है। कहीं-कहीं चलते हुए वृत्त के बीच में परिस्थिति का नाटकीय ढंग का एक छोटा-सा चित्र भी आ जाता है।'[१६३] यहाँ घटनाविन्यास वैचित्र्य का तात्पर्य और स्वरूप काफी स्पष्ट हुआ है। 'घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्यय' और 'चलते हुए वृत्त के बीच में परिस्थिति के नाटकीय ढंग के लघुचित्र का समावेश' उसके दो प्रमुख रूप ठहरते हैं।

प्राचीन कहानियों और नई कहानियों के बीच के वस्तुविन्यासगत अन्तर के अतिरिक्त अन्य अन्तरों का स्पष्ट उल्लेख शुक्ल जी ने नहीं किया है, किन्तु कुछ का संकेत सरलता से मिलता है। प्राचीन कहानियों में वस्तु विन्यास की शैली मात्र विवरणात्मक थी, किन्तु आधुनिक कहानियों में वस्तु विन्यास की शैली के रूप में 'केवल विवरण की अपेक्षा कथोपकथन को भी आश्रय'[१६४] मिला। शुक्ल जी के मतानुसार आधुनिक कहानियों में 'कथोपकथन' का समावेश नाटकों के आधार पर किया गया।[१६५] अलंकृत भाषा के स्थान पर स्वाभाविक भाषा का भावानुरूप प्रयोग भी आधुनिक कहा-

नियों की एक विशेषता है।

आचार्य शुक्ल ने 'कहानी' को भी गत्यात्मक दृष्टिकोण से देखा है। उसे निरन्तर विकासशील माना है, इसीलिए उसे परिभाषित करने का प्रयास भी नहीं किया है। उन्होंने हिन्दी उपन्यासों के मुकाबले में कहानियों के विकास को 'और भी विशद और विस्तृत' [१६६] बताते हुए लिखा है कि 'उनके इतने रूपरंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो सब में विस्तार के किसी नियम का पालन मिलेगा, न चरित्रविकास का अवकाश। एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं-कहीं ठीक न घटेगा।' [१६७] यह स्पष्ट है कि वे कहानी की परिभाषा देने के चक्कर में न पड़कर उसके स्वरूप को ही विवेचित करना उचित समझते हैं। ठीक भी है, क्योंकि जो वस्तु दिन-प्रति-दिन तीव्रता के साथ बदलती हुई विकास को प्राप्त हो रही हो उसे परिभाषा में समेटा नहीं जा सकता। उसके परिवर्तन की गति और दिशा का स्पष्टीकरण मात्र सम्भव है। जहाँ तक कहानियों के पाश्चात्य आदर्शों के अनुसरण का प्रश्न है, वे उसे अनिवार्य नहीं मानते हैं। 'हृदयेश' जी की 'शान्ति निकेतन' कहानी के बारे में उन्होंने लिखा है कि 'शांति निकेतन में घटना और कथोपकथन दोनों कुछ नहीं। यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमें मानना पड़ेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमें नहीं है, न सही।' [१६८] आधुनिक हिन्दी कहानियों के बारे में उन्होंने बतलाया है कि उनमें एक संवेदना या मनोभाव के पाश्चात्य आदर्श या सिद्धान्त के स्थान पर 'हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा।' [१६९] स्पष्ट है कि कहानी के प्रति उनका कोई स्थायी एवं अपरिवर्तनीय पूर्वाग्रह न था। उन्होंने उसे गतिशील दृष्टि से ही देखने का प्रयास किया है।

उपन्यास की भाँति कहानी में भी पाठक या श्रोता की दृष्टि प्रधानतः घटना पर रहती है और गौणतः भाव पर, जब कि कविता में श्रोता या पाठक की दृष्टि प्रधानतः भाव पर होती है और गौणतः घटना पर। कविता और कहानी का अन्तर बतलाते हुए उन्होंने यही बात कही है : "कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है, 'जरा फिर तो कहिए।' कहानी सुनने वाला कहता है "हाँ तब क्या हुआ ?"" [१७०] तात्पर्य यह कि सामान्यतः कविता भाव-प्रधान होती है और कहानी घटना-प्रधान। किन्तु आचार्य शुक्ल जी ऐसी कहानियों की भी स्थिति स्वीकार करते हैं, जिनमें घटनाएँ नहीं होतीं और जिनमें कहानीकार का लक्ष्य मार्मिक परिस्थिति का चित्रण होता है। ऐसी कहानियों में बाह्य वस्तु वा प्रकृति-चित्रण की बहुलता होती है। उन्होंने लिखा है 'जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य में रखकर चलेंगी उसमें बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-रंगों के सहित और परिस्थितियों का चित्रण भी बराबर मिलेगा। घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहेंगे।...'शान्ति

निकेतन'[१७१] में घटना और कथोपकथन दोनों कुछ नहीं। यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमें मानना पड़ेगा।'[१७२]

शुक्ल जी के मतानुसार कहानियों को घटना प्रधान और मार्मिक (भाव प्रधान) इन दो स्थूल कोटियों में बाँटने की प्रथा प्राचीन है।[१७३] बृहत्कथा, बैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटनाचक्र में रमाने वाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ हैं। कादम्बरी, माधवानल कामकंदला, सीत बसंत इत्यादि वृत्त वैचित्र्यपूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमाने वाले भाव-प्रधान आख्यान हैं। उनकी दृष्टि में घटना-प्रधान कहानियों में इतिवृत्त का प्रवाहमात्र अपेक्षित होता है, किन्तु दूसरी कोटि की मार्मिक या भाव-प्रधान कहानियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है। यही उनका प्रमुख भेद है।[१७४] हिन्दी की कहानियों को, उनकी भिन्न-भिन्न प्रणालियों को, दृष्टि में रखकर शुक्ल जी ने स्थूलतः पाँच वर्गों में विभक्त किया है—

(१) सादे ढंग से केवल अत्यन्त व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्यवसित होने वाली कहानियाँ जैसे स्वर्गीय गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था।'[१७५]

शुक्ल जी के मतानुसार 'ऐसी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या-द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है।'[१७६]

(२) परिस्थितियों के विशद और मार्मिक—कभी-कभी रमणीय और अलंकृत वर्णनों और व्याख्यानों के साथ मन्द, मधुरगति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होने वाली कहानियाँ, जैसे स्वर्गीय चण्डीप्रसाद हृदयेश की 'उन्मादिनी', 'शान्ति निकेतन'।[१७७]

(३) उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलने वाली कहानियाँ, जैसे प्रेमचन्द जी की कहानियाँ।[१७८]

शुक्ल जी के मतानुसार ऐसी कहानियों में घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है।'[१७९]

(४) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली कहानियाँ, जैसे प्रसाद जी तथा रायकृष्णदास जी की कहानियाँ।[१८०]

(५) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करने वाली लाक्षणिक कहानी, जैसे पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'भुनगा'।[१८१]

विभिन्न प्रणालियों के आधार पर हिन्दी कहानियों का वर्गीकरण करने के साथ ही साथ 'वस्तुसमष्टि के स्वरूप'[१८२] की दृष्टि से भी शुक्ल जी ने हिन्दी कहानियों का वर्गीकरण किया है। प्रमुख वर्ग अधोलिखित हैं—

(१) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लाने वाली।[१८३]

(२) भिन्न-भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखने वाली, जैसे, प्रेमचन्द जी की 'शतरंज के खिलाड़ी' नामक कहानी।[१८४]

(३) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग-कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खण्ड-चित्र दिखाने वाली जैसे प्रसाद जी की 'आकाशवाणी।'[१८५]

(४) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जन समुदाय की दुर्दशा सामने लाने वाली, जैसे भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी।'[१८६]

(५) राजनैतिक आन्दोलन में सम्मिलित नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करने वाली, जैसे पांडेय बेचन शर्मा उग्र की 'उसकी माँ' नाम की कहानी।[१८७]

(६) समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाजसुधार, व्यापार-व्यवसाय, सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट में होने वाले पाखंडपूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लाने वाली कहानियाँ जैसे 'उग्र' की 'चाँदनी' नाम की कहानी।[१८८]

(७) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था में विकास का आदिम रूप झलकाने वाली जैसे रायकृष्णदास जी की 'अन्तःपुर का प्रारम्भ।'[१८९]

(८) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक काल खण्ड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करने वाली जैसे पं० लालकराम विनायक श्री बिन्दु ब्रह्मचारी और श्रीमंत समंत की कहानियाँ।[१९०]

(९) हास्य विनोद द्वारा अनुरंजन करने वाली जैसे जी० पी० श्रीवास्तव और कांतानाथ पाण्डेय चोंच की कहानियाँ।[१९१]

शुक्ल जी ऐसी कहानियों में शिष्ट, परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण हास-परिहास के ही लाए जाने के पक्ष में हैं।[१९२]

**नाटक**

शुक्ल जी के मतानुसार काव्य और गद्य-काव्य की अपेक्षा 'नाटक में भाव व्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थ-क्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है। केवल बीच-बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबा कर अपना काम लेते हैं।'[१९३] भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार 'नाट्य अथवा रूपक जिसके छोटे-बड़े अनेक भेद उल्लिखित हैं, दृश्य काव्य है, क्योंकि उसका प्रभाव सम्पूर्णतया रंगशाला में अभिनय के प्रेक्षण द्वारा ही ग्राह्य है। शेष सभी काव्य-रूप श्रव्य काव्य की कोटि में आते हैं, क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से है।'[१९४] काव्य का यह वर्गीकरण किस ज्ञानेन्द्रिय पर काव्य का सीधा प्रभाव पड़ता है, इस दृष्टि से किया गया है, इसे इन्द्रियगत वर्गीकरण कहा जा सकता है।

आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'दृश्य काव्य' साहित्य का एक बड़ा आवश्यक अंग है।[१९५] इसका उद्देश्य भी उन्होंने अन्य साहित्य-रूपों की ही भाँति रस संचार करना ही माना है। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—'भारतीय साहित्यशास्त्र में नाटक भी

काव्य के ही अन्तर्गत माना गया है अतः उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शील स्वभाव के पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस संचार करना ही है।'[१९६]

इस उक्ति पर विचार करने से पता चलता है कि उन्होंने इतने अल्प शब्दों द्वारा ही नाटक के लक्ष्य को निर्दिष्ट करने के साथ-साथ अन्य काव्य-रूपों से उसके अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है। ऊपर उद्धृत अंश से सुस्पष्ट है कि पात्रों के वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस संचार करना नाटक की अपनी विशेषता है। यही विशेषता उसे अन्य काव्य-रूपों से पृथक् करती है। कहना न होगा कि इस विशेषता में कथोपकथन और अभिनेयता दोनों समाविष्ट हैं। उन्होंने लिखा है—'नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं।'[१९७] नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है।[१९८] नाटकीय कथोपकथन के विषय में उन्होंने लिखा है—'पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता के लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा।'[१९९] इससे स्पष्ट है कि नाटकीय कथोपकथन के लिए उनकी दृष्टि में स्वाभाविकता सर्वाधिक आवश्यक गुण है और कथोपकथन में अस्वाभाविकता अतिशयवक्रता और अतिरंजन के कारण आती है। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने श्री हरिकृष्ण प्रेमी के कथोपकथनों को 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त कहा है।[२००] उन्होंने बतलाया है कि 'भाषा को रंगने वाली चित्रमयी कल्पना और भावुकता की अधिकता'[२०१] के कारण प्रसाद जी के 'कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्यकाव्य के खण्ड हो गए हैं।'[२०२] इसके विपरीत श्री हरिकृष्ण प्रेमी के कथोपकथनों में 'प्रसंगानुसार बातचीत का चलता हुआ स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्मव्यंजक अनूठापन भी।'[२०३] इस आधार पर कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के मतानुसार नाटकीय कथोपकथन के तीन प्रमुख गुण—स्वाभाविकत्व, प्रसंगानुसारत्व और सर्वहृदयग्राह्यत्व हैं।

कथोपकथन के विवेचन के पश्चात् अभिनेयता का प्रश्न सामने आता है। शुक्ल जी नाटक के लिए अभिनेयता अति आवश्यक मानते हैं। उन्होंने अभिनेयता को दृष्टि में रखकर बद्रीनारायण चौधरी के 'भारत सौभाग्य' नाटक, जो 'कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिए सन् १८८८ में लिखा गया था।'[२०४] की आलोचना करते हुए लिखा है—'पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए।'[२०५] इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि पात्रों और उनकी कोटियों की अधिकता अभिनय को दुस्साध्य बनाती है।

कथावस्तु की दृष्टि से शुक्ल जी नाटक में ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों तथा सामाजिक और पारिवारिक जीवन के उलझे हुए विविध मार्मिक पक्षों का सर्वांगीण चित्रण चाहते हैं। हिन्दी के गद्य-साहित्य के द्वितीय उत्थान में 'नाटक' विधा की चर्चा आलोचनात्मक दृष्टि से करते हुए उन्होंने लिखा है—'इन मौलिक रूपकों की सूची देखने

से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिए लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पौराणिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्‌भावना उनमें नहीं पाई जाती।'[२०६] स्पष्ट है कि वे ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही पक्षों का चित्रण नाटक में चाहते हैं। उनकी रुचि एकांगीण नहीं।

मृत्यु, वध, युद्ध इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यापारों का प्रदर्शन प्राचीन भारतीय एवं यवनानी दोनों ही नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में वर्जित है। इन व्यापारों के बारे में आज क्या दृष्टि होनी चाहिए, इसे शुक्ल जी ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने तटस्थतापूर्वक इतना भर कहा है कि 'आजकल उस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं मानी जाती। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, वध और आत्महत्या दिखायी है।'[२०७] किन्तु उन्होंने चुम्बन, आलिंगन आदि व्यापारों का प्रदर्शन स्पष्टतया निषिद्ध किया है। उनका कहना है कि "देश की परम्परागत सुरुचि की रक्षा के लिए कुछ व्यापार तो हमें आजकल भी वर्जित रखने चाहिए, जैसे चुम्बन, आलिंगन।"[२०८]

नाटक की कथावस्तु में समय के अतिशय विस्तार को भी उन्होंने अनुचित माना है। इसी दृष्टि से 'प्रसाद' कृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक की उन्होंने आलोचना की है। उन्होंने लिखा है—'उसके भीतर सिकन्दर के भारत पहुँचने के कुछ पहले से लेकर सिल्यूकस के पराजय तक के २५ वर्ष के दीर्घकाल की घटनाएँ लेकर कसी गई हैं जो एक नाटक के भीतर नहीं आनी चाहिए। जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरम्भ में दिखाई पड़े, वे नाटक के अन्त में भी उसी रूप में सामने आते हैं।'[२०९]

प्रसाद कृत 'चन्द्रगुप्त' को ही दृष्टि में रखकर कथावस्तु के संगठन के संदर्भ में उन्होंने लिखा है—'बहुत से भिन्न-भिन्न पात्रों से सम्बद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है।'[२१०] इस सिलसिले में डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'यह एक ऐसा दोष है जो नाटक के अलावा हिन्दी और अन्य भाषाओं के भी बहुत से उपन्यासों में पाया जाता है। चरित्रों के विकास का अवकाश होना चाहिए, वर्ना वे चरित्र पाठकों को याद नहीं रहते, उनके अविकसित रहने से उपन्यास अधूरा लगता है, पाठक को तृप्ति नहीं होती, वह लेखक की जल्दबाजी को कोसता है, इसीलिए वर्तमान नाटककारों और उपन्यास लेखकों के लिए शुक्ल जी का सूत्र इतना महत्वपूर्ण है।[२११]

नाटकों के विषय में भी आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण विकासवादी है, उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को हिन्दी नाटकों पर ज्यों का त्यों लागू करने का प्रयास न कर उन्हें आवश्यकतानुसार परिवर्तित एवं संशोधित कर युगीन एवं उपयुक्त नवीन रूप देकर विकसित किया और उन्हीं के आधार पर हिन्दी के नाटकों के लिए विकास का स्वतन्त्र मार्ग स्पष्ट किया। वे यह भली-भाँति जानते थे कि 'अपने नाट्यशास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यों लेकर तो हम आजकल चल

नहीं सकते, पर उसका बहुत-सा रूप रंग अपने नाटकों में ला सकते हैं; जिससे भारतीय परम्परा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं।'[२१२] इसीलिए उन्होंने सैद्धान्तिक रूप में सुझाव दिया कि 'हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिए और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी बातों का मेल सफाई के साथ करते चलें।'[२१३] उन्होंने स्पष्ट किया कि 'हमारे यहाँ के पुराने ढाँचे के भीतर शील वैचित्र्य का वैसा (योरप जैसा) विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बन्धन हटाकर वैचित्र्य के लिए मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ रसात्मकता भी हम निकाल दें।'[२१४] इस प्रकार उनका दृष्टिकोण सुसंगत रूप में समन्वयात्मक है। वे साहित्य के भारतीय लक्ष्य 'रसात्मकता' और पाश्चात्य लक्ष्य 'शील वैचित्र्य' दोनों का समन्वय चाहते हैं। इसके लिए वे प्राचीन नाट्यशास्त्र के बन्धनों को हटाने के लिये पूर्णतः तैयार हैं। अपने इसी मौलिक दृष्टिकोण के कारण 'प्रसाद' और 'प्रेमी' जी के नाटकों में रस-विधान और शील वैचित्र्य दोनों का समन्वय देखकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की है।[२१५] योरप में नाटकों में यदि शील वैचित्र्य था तो भावात्मकता या रसात्मकता का अभाव था, और भारत में नाटकों में रसात्मकता थी तो शील वैचित्र्य का अभाव था। आचार्य शुक्ल ने इन्हीं दोनों शील वैचित्र्य और भावात्मकता के समन्वय द्वारा हिन्दी नाटकों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है—'शुक्ल जी ने एक ओर जहाँ नाटक-रचना के पुराने बन्धन ढीले करके उसमें शील वैचित्र्य लाने पर जोर दिया है, वहाँ नाटक का रूप विकृत न हो, नाटक-नाटक ही रहे, यह भी जरूरी समझा है।'[२१६] शुक्ल जी ने श्री पंत द्वारा अँगरेज कवि शेली के ढङ्ग पर लिखे गए रूपक 'ज्योत्स्ना' के लिये लिखा है—'सब मिला कर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।'[२१७] कारण यह कि शेली में 'जहाँ आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत के स्वातन्त्र्य का एक समन्वित प्रसंग है, वहाँ पंत जी में बहुत दूर तक केवल सौन्दर्य-चयन करने वाली कल्पना मनुष्य के सुख-विकल्प की भावना के अनुकूल सामग्री जुटाती है। उसके उपरान्त आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन है।'[२१८]

प्रारम्भ में ही हिन्दी नाटकों में संस्कृत के नाटकों से भिन्नतायें आने लगी थीं। योरप के नाटकों के प्रभाव से हिन्दी नाटकों में भी अंक के आरम्भ और बीच में भी समय, स्थान तथा पात्रों के रूपरंग और वेशभूषा का बहुत सूक्ष्म ब्योरे के साथ लम्बा वर्णन होने लगा।[२१९] स्वगत भाषण की चाल उठ गई।[२२०] पात्रों के भाषणों और उनके वाक्यों की लम्बाई भी कम हो गई।[२२१] नांदी-मङ्गलाचरण तथा प्रस्तावना आदि भी निकाल फेंके गए।[२२२] भारतेन्दु काल से ही अंकों का अवस्थान अंग्रेजी ढङ्ग पर होने लगा। अंकों के बीच के स्थान परिवर्तन या दृश्य परिवर्तन को 'दृश्य' और कभी-कभी 'गर्भांक' शब्द रखकर सूचित करने लगे, यद्यपि 'गर्भांक' शब्द का हमारे नाट्यशास्त्र में कुछ और ही अर्थ है।[२२३] इसी प्रकार 'उद्‌घातक', 'कथोद्‌घातक' आदि अभिनय की रोचकता बढ़ाने वाली युक्तियाँ भी अप्रचलित हो गईं। इस सन्दर्भ में शुक्ल

जी ने लिखा है कि—'अभिनय की रोचकता बढ़ाने वाली जो युक्तियाँ हैं, जैसे उद्घातक, कथोद्घातक' उनमें से कोई एक को आवश्यक रूपान्तर के साथ और स्थान का बन्धन दूर करके हम बनाए रख सकते हैं।'[२२४] स्पष्ट है कि इसे वे हिन्दी के नाटकों में बनाए रखना चाहते हैं। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटकों में इसके उदाहरण पाकर उन्होंने सन्तोष व्यक्त किया है।[२२५] उनकी दृष्टि हिन्दी नाटकों में घटित होने वाले सभी परिवर्तनों की ओर गई। उन्होंने लिखा है कि एक बात बहुत अच्छी यह हुई कि पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से सम्बद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है।[२२६]

**निबन्ध**

निबन्ध साहित्य का एक प्रधान अंग है। गद्य के अन्तर्गत इसकी बड़ी महत्ता है। शुक्ल जी भी निबन्ध को साहित्य का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।[२२७] वास्तव में निबन्ध में ही गद्य का निजी रूप दिखायी पड़ता है, अतः उसे गद्य की कसौटी कहना तर्कसंगत है। उनकी यह उक्ति संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुरूप और उसी पर आधारित होते हुए भी उससे उच्चतर एवं सूक्ष्मतर अवस्था की परिचायिका है। अंग्रेज समीक्षक श्री जे० डबल्यु० मैरिआट् ने भी निबन्ध को लेखक की कठोर परीक्षा माना है।[२२८] डॉ० गुलाबराय के मतानुसार 'साहित्य की अन्य विधाओं में (जैसे जीवनी आदि में) तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र है किन्तु निबन्ध में वह अपनी पूर्ण शक्ति और सज-धज के साथ प्रकट होती है।[२२९] अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का यह कथन भी कि 'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है, सही है। वस्तुतः अर्थ वैचित्र्य और भाषा-शैली दोनों ही के नूतन विकास के लिए निबन्ध बहुत उपयुक्त स्थान है।

अपने शाब्दिक अर्थ में निबन्ध से अभिप्राय होता है ऐसी रचना से, जिसमें सम्यक् संगठन हो और जिसके विभिन्न अंग भली-भाँति व्यवस्थित हों।[२३०] संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का अर्थ ही है—जिसमें निःशेषरूप से बंध या संगठन हो।[२३१] हिन्दी में निबन्ध शब्द अंगरेजी 'ऐसे' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। यद्यपि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु कोई ऐसी परिभाषा नहीं बन सकी है, जिसके अन्तर्गत निबन्धों के सभी रूपों और उनकी विशेषताओं का समावेश हो। आचार्य शुक्ल ने निबन्ध की परिभाषा नहीं दी है, फिर भी उन्होंने अन्य साहित्य-रूपों से उसे पृथक् करने वाले उसके लक्षणों को स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार कविता आदि निबंधेतर साहित्यरूपों में कल्पना प्रसूत वस्तु या अर्थ की प्रधानता रहती है और विचार प्रसूत अर्थ गौण होता है, किन्तु इसके विपरीत निबन्ध

में विचार प्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है।[२३२] इसके अतिरिक्त 'दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबन्ध अर्थ प्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ मिला जुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच-बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।'[२३३]

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में निबन्ध का प्रमुख लक्षण 'व्यक्तिगत विशेषता' है। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है—'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शनों के लिए विचारों की श्रृङ्खला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराए जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।'[२३४] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता का अर्थ विचार-श्रृङ्खला का अभाव, अलौकिक अर्थ योजना और भाषा वैचित्र्य नहीं है। इन्हें ही व्यक्तिगत विशेषता मान लेने पर वे उसे निबन्ध का प्रमुख लक्षण या लक्षण मानने के लिए तैयार नहीं।

व्यक्तिगत विशेषता से शुक्ल जी का क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है। उनके मतानुसार एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना ही व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार है।[२३५] उन्होंने लिखा है 'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।'[२३६] स्पष्ट है कि एक ही वस्तु को एक दार्शनिक जिस दृष्टि से देखता है, एक निबन्ध-लेखक उसी दृष्टि से नहीं देखता है। यही नहीं, विभिन्न निबन्ध-लेखक भी उसे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हैं, इसका कारण उनका भिन्न-भिन्न मानसिक संघटन है। अतः यदि व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से एक ही बात को देखना है तो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखने का मूलाधार भिन्न-भिन्न मानसिक संघटन है। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का

नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार यही है।'[२३७]

आचार्य शुक्ल की स्थापना की सत्यता व्यवहारत: सिद्ध है। प्रत्येक लेखक के निबन्धों में, चाहे वे किसी भी विषय पर लिखे गये हों, उसके अपने मानसिक संघटन का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ हम आचार्य शुक्ल को ही लेते हैं। उनका मानसिक संघटन साहित्यिक था, वे साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। उनके सभी प्रकार के निबन्धों में साहित्यिकता का विशेष पुट इसी का परिणाम कहा जायगा। उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भी प्रचुर साहित्यिकता से सम्पन्न होने के कारण सरस हैं। कोई भी मनोवैज्ञानिक 'क्रोध' आदि मनोविकारों पर शुक्ल जी की तरह साहित्यिक निबन्ध सम्भवत: प्रस्तुत न कर पाता, क्योंकि उसकी दृष्टि दूसरे ही संबन्ध-सूत्रों पर दौड़ती। सम्भवत: उसके लेख में गम्भीर बौद्धिक विश्लेषण मात्र होता, उसमें हृदय की झलक उसमें न होती। तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक के लिए बुद्धि के साथ हृदय का समन्वय आवश्यक नहीं, किन्तु इसके विपरीत निबन्ध-लेखक के लिये आवश्यक होता है। 'निबन्ध लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुगे। जो करुण प्रकृति के हैं, उनका मन किसी बात को लेकर अर्थ संबन्ध सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता।'[२३८] शुक्ल जी के मतानुसार प्रत्येक परिस्थिति में निबन्ध में अर्थगत विशेषता अर्थात् कोई न कोई विचार श्रृङ्खला होनी ही चाहिये। इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजन प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। 'जहाँ नाना अर्थ-संबन्धों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।[२३९] डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में 'वहाँ निबन्ध अपना साहित्यिक रूप खोकर सिर्फ एक तमाशा बन जायगा।'[२४०]

आचार्य शुक्ल ने निबन्धों के विषय-विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। वस्तुत: यह ठीक भी है, क्योंकि निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। निबन्ध 'कुछ नहीं' (Nothing) से लगाकर विश्व की अनन्तता में आने वाली जितनी वस्तुएँ, भाव और क्रियाएँ हैं उन सब पर लिखे जा सकते हैं।'[२४१] किसी नवीन अथवा मौलिक आधार पर निबन्धों को वर्गीकृत करने का कोई प्रयास भी शुक्ल जी में परिलक्षित नहीं होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने मात्र इतना लिखा है—'निबन्ध या गद्य-विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में निबन्धों की ३ प्रमुख कोटियाँ ठहरती हैं — (१) विचारात्मक, (२) भावात्मक और (३) वर्णनात्मक। यद्यपि इनके मिश्रण से और भी अनेक प्रकार की कोटियाँ हो सकती

हैं। इनमें से विचारात्मक को वे निबन्धों की सर्वोच्च कोटि मानते हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों पर विचार करते हुए उन्होंने इस कोटि के निबन्धों के विषय में लिखा है—'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हों।' [२४२] इस प्रकार स्पष्ट है कि विचारों की गूढ़ गुम्फित परम्परा ही विचारात्मक निबन्धों की प्रधान विशेषता है, जिसके प्रभाव से पाठक की बुद्धि नवीन विचार-सरणि पर अग्रसर होती है। काव्य समीक्षा के अतिरिक्त अन्य प्रकार का विचारात्मक निबन्ध साहित्यिक भी हो सकता है और असाहित्यिक भी। सभी विचारात्मक निबन्ध साहित्यिक हों, यह आवश्यक नहीं। साहित्यिक होने के लिए निबन्ध में विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक के हृदय की पूरी झलक अनिवार्यतया होनी चाहिए। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'काव्य समीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य-कोटि में वे ही आते हैं, जिनमें बुद्धि के अनुसंधान-क्रम या विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी-पूरी झलकती हैं।' [२४३] इससे शुक्ल जी की धारणा स्पष्ट होती है कि काव्य समीक्षा संबंधी सभी निबन्ध अनिवार्यतया साहित्यिक होते हैं। उनके असाहित्यिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता और शेष प्रकार के निबन्धों में साहित्यिक होने के लिए लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और उसके हृदय का पूर्ण प्रतिबिम्ब आवश्यक होता है।

भावात्मक निबन्धों से शुक्ल जी का आशय 'भाव' या 'मनोविकार' सम्बन्धी निबन्धों से नहीं, अपितु भावात्मक प्रणाली में लिखे गए निबन्धों से है। इस कोटि के निबन्धों की उन्होंने कोई स्पष्ट सैद्धान्तिक विवेचना नहीं की है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे इस शैली को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। इस प्रणाली को विशेष स्थान देते हुए भी उन्होंने विचार और चिन्तन के क्षेत्रों में इसके प्रवेश को निषिद्ध कर दिया है। हिन्दी साहित्य में भावात्मक शैली के विचार एवं चिन्तन के क्षेत्रों में प्रवेश की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—'काव्य पर न जाने कितने ऐसे निबन्ध लिखे गए जिसमें सिवा इसके कि 'कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है,' 'कविता हृदय कानन में खिली हुई कुसुम-माला है', 'कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है', और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना।' ·····इससे हमारे साहित्य में घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है। जिन विषयों के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परम्परा अपेक्षित है, उन्हें भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा।' [२४४] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी इस शैली को हवाई शैली समझते हैं और इसका उपयोग भी वे चलते-फिरते हवाई विषयों के क्षेत्र में ही चाहते और उचित समझते हैं। गूढ़ विचार या सूक्ष्म चिन्तन के क्षेत्र में वे इसका प्रयोग सर्वथा अनुचित

मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण तर्कसंगत और उचित होने के साथ ही साथ उनकी उत्कृष्ट कोटि की बौद्धिकता का परिचायक है।

वर्णनात्मक निबन्धों की विवेचना आचार्य शुक्ल ने नहीं ही की है। सम्भवतः स्वतः स्पष्ट और अधिक महत्वपूर्ण न होने के कारण। शुक्ल जी का कथन है कि उक्त निबन्धों में 'लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति।'[२४५] इन शैलियों अथवा रीतियों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट विवेचन उन्होंने नहीं किया है। वस्तुतः उन्होंने ऐसा करने की आवश्यकता ही नहीं महसूस की।

### साहित्यालोचन

'साहित्यालोचन' को आचार्य शुक्ल ने 'निबन्ध' साहित्य रूप के भीतर ही समाविष्ट किया है, उसे स्वतन्त्र और पृथक साहित्यरूप नहीं माना है।[२४६] वस्तुतः उसे निबन्ध में ही सम्मिलित किया भी जाना चाहिए। क्योंकि व्यवहार में साहित्यालोचन प्रायेण निबन्धों के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। स्वयं शुक्ल जी ने अपनी आलोचनाओं को निबन्ध अथवा प्रबन्ध की ही संज्ञा दी है। ध्यातव्य है कि 'प्रबन्ध' निबन्ध का ही एक प्रकृष्ट स्वरूप है।

साहित्यालोचन को निबन्ध के अन्तर्गत समाविष्ट कर उन्होंने उसे असंदिग्ध रूप से स्थायी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया है, किन्तु तथापि सभी प्रकार की आलोचनाओं को स्थायी साहित्य के भीतर परिगणित करने के पक्ष में वे नहीं हैं। उसी समालोचना को वे स्थायी साहित्य में परिगणित करते हैं 'जिसमें किसी कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं।'[२४७] उस आलोचना को जो 'भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता'[२४८] इत्यादि परम्परागत विषयों तक ही सीमित रहती है, जिसमें कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद नहीं होता है और उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, वे स्थायी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं करते। आधुनिक कालीन हिन्दी साहित्य के द्वितीय उत्थान (सम्वत् १९५०-१९७५) की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—'पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परम्परागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।'[२४९] इसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के सन्दर्भ में उनका कथन है कि 'केवल गुण दोष दिखाने वाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने

वाली पुस्तक जिसमें गुण-दोष कथन भी आ जाता था, स्थाई साहित्य में स्थान पाती थी।'[२५०]

इन उद्धरणों से उपर्युक्त सिद्धान्त की इतनी स्पष्ट परिपुष्टि होती है कि संदेह अथवा विवाद का अवसर ही नहीं रह जाता। आलोचना या समालोचना का अभिप्राय 'काव्य मीमांसा' या 'साहित्य मीमांसा' नहीं है। दोनों को एक अथवा पर्यायवाची समझना एक बहुत बड़ी भूल होगी। 'काव्य मीमांसा' समालोचना से भिन्न कोटि की वस्तु है, यद्यपि दोनों परस्पर सम्बद्ध और सहायक हैं। काव्य-मीमांसा का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के आख्यान और निरूपण से होता है, जब कि समालोचना का उद्देश्य-गुण दोष विवेचन सहित कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन कर उनका मूल्यांकन करना होता है, सैद्धान्तिक निरूपण और आख्यान नहीं, भले ही प्रसंगवश आनुषंगिक रूप से उसमें कहीं-कहीं सिद्धान्त कथन भी विद्यमान हो। सारांश यह कि आलोचना या समालोचना, जिसकी चर्चा यहाँ की जा रही है, का तात्पर्य व्यावहारिक आलोचना से है, सैद्धान्तिक आलोचना से नहीं। स्वयं आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के तृतीय उत्थान के गद्य-साहित्य पर विचार करते हुए 'समालोचना और काव्य मीमांसा'[२५१] शीर्षक का प्रयोग किया है। समालोचना के अन्तर्गत उन्होंने तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीनदयाल गिरि, कबीरदास, केशव, मैथलीशरण, प्रेमचन्द, प्रसाद, पद्माकर और मीरा से सम्बद्ध, पुस्तकाकार और भूमिकाओं के रूप में निकली व्यावहारिक आलोचना कृतियों पर ही विचार किया है, काव्य-सिद्धांत निरूपक, उदाहरणार्थ बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन' और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत 'विश्व-साहित्य' आदि ग्रन्थों पर नहीं। इन पर काव्य-मीमांसा के अन्तर्गत उन्होंने विचार किया है और साथ ही साथ आलोचना के कुछ सिद्धान्तों और पाश्चात्य वादों की चर्चा की है, जिनका उल्लेख समालोचना के अन्तर्गत उन्होंने नहीं किया है।[२५२] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में भी समालोचना और काव्य-मीमांसा एक नहीं, अपितु दो पृथक् वस्तुएँ हैं। और समालोचना से उनका भी तात्पर्य व्यावहारिक आलोचना तक ही सीमित है, उसके भीतर सैद्धान्तिक आलोचना का समावेश नहीं है। पश्चिम में तो समालोचना स्वयं शुक्ल जी के शब्दों में 'काव्य-सिद्धान्त निरूपण से स्वतन्त्र एक विषय'[२५३] है ही।

आलोचना और काव्य मीमांसा के इस भेद को दृष्टि में रखते हुए साहित्यरूप के अन्तर्गत समालोचना पर विचार करते समय हम अपने को व्यावहारिक आलोचना के उद्देश्य, रूप और विभिन्न पद्धतियों तक ही सीमित रखेंगे। उसके सैद्धान्तिक पक्ष अर्थात् आलोचना के विभिन्न सिद्धान्तों एवं वादों का सविस्तर विवेचन हम आगे उचित स्थान पर करेंगे।

स्वयं आलोचक होने के कारण आलोचना के विषय में शुक्ल जी ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। यहाँ उन्होंने रूढ़िवाद का बहुत ही स्पष्ट और तीव्र खण्डन किया है।[२५४] संस्कृत साहित्यालोचन उनके मतानुसार गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित

था।[२५५] उन्हीं के शब्दों में 'संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षणग्रन्थ लिखता था, तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उन्हें दोषों के उदाहरण में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी, वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था।'[२५६] साहित्य दर्पणकार ने शृङ्गार रस के उदाहरण में 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' यह श्लोक उद्धृत किया। रस गंगाधर कार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण में अपना बनाया श्लोक भिड़ाया।[२५७] इसके अतिरिक्त जहाँ तक समालोचना के दूसरे उद्देश्य अर्थात् 'कवियों की अलग-अलग विशेषताओं के दिग्दर्शन'[२५८] का प्रश्न है, संस्कृत साहित्यालोचन में उसकी पूर्ति किसी कवि की स्तुति में ही दो एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कहकर ही लोग मान लिया करते थे।'[२५९]

यह सही है कि संस्कृत में साहित्यालोचन का उद्देश्य प्रमुखतः 'गुण-दोष-विवेचन' ही समझा जाता था। इस प्रकार की आलोचना में साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर आलोचक किसी भी साहित्यिक कृति के गुणों और दोषों का विवेचन करता था।[२६०] किन्तु संस्कृत साहित्यालोचन मात्र गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित न था, उसमें टीकाओं की भी एक स्वस्थ परम्परा रही है। इस प्रकार की आलोचना में किसी ग्रन्थ पर व्याख्यात्मक ढंग से विवेचना की जाती थी। इस प्रकार की आलोचना पद्धति से न केवल किसी भी ग्रन्थ के अर्थ का स्पष्टीकरण होता था, वरन् उसके साहित्यिक सौंदर्य का विवेचन भी हो जाता था।[२६१] इस प्रकार की अनेक टीकायें संस्कृत में मिलती हैं। उदाहरणार्थ महाकवि भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य पर श्री मल्लिनाथ की 'घण्टापथ' नामक टीका। डॉ० रामविलास शर्मा का भी मत है कि— 'संस्कृत आलोचना में जहाँ इस तरह की रूढ़ियाँ हैं, वहाँ उनसे बाहर विशद सैद्धांतिक चर्चा और अनेक कवियों की प्रतिभा की व्याख्या भी है। इस सिलसिले में अभिनवगुप्त, मम्मट और मल्लिनाथ का नाम लेना काफी होगा।'[२६२] अतः आचार्य शुक्ल की उक्त धारणा पर्याप्त सीमा तक सत्य होते हुए भी पूर्णतया सत्य नहीं कहला सकती।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि शुक्ल जी साहित्यालोचन का उद्देश्य गुण-दोष विवेचन मात्र नहीं मानते, वरन् किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराना और उसके विचारधारा में डूबकर उसकी अन्तर्वृत्तियों की छानबीन करना मानते हैं, जिसमें गुण-दोष कथन भी आ जाता है।

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द का प्रयोग अँगरेजी 'क्रिटिसिज्म' के पर्याय के रूप में होता है। 'आलोचना' शब्द का अर्थ है—'चारों ओर से देखना।' संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियां आलोचना'[२६३] इस प्रकार व्युत्पत्ति की जाती है। 'समीक्षा' शब्द का भी इसी अर्थ में प्रचुर मात्रा में प्रयोग प्रचलित है। इसकी व्युत्पत्ति 'सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्'[२६४] की जाती है।

साहित्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी के मतानुसार समीक्षा या समीक्षण शब्द का अर्थ है 'भली प्रकार देखना, जाँच करना तथा पूरा ज्ञान प्राप्त करना ।'[२६५] शुक्ल जी का भी ऐसा ही मत है । उनके अनुसार 'समीक्षा अच्छी तरह देखना या विचार करना है ।[२६६] उन्होंने इन दोनों शब्दों को समान अर्थ में प्रयुक्त किया है । वस्तुतः हिन्दी साहित्य में प्रयोग बाहुल्य के कारण दोनों आलोचना और समीक्षा शब्द एकार्थक हो गये हैं ।

आलोचना को शुक्ल जी ने सदैव एक गम्भीर कार्य माना है । इसके लिए उन्होंने विस्तृत अध्ययन, मनन, सूक्ष्म निरीक्षण और मार्मिक काव्य-दृष्टि आदि की अपेक्षा स्वीकार की है । उनका स्पष्ट कथन है कि 'उच्चकोटि की आधुनिक शैली की आलोचना के लिए विस्तृत अध्ययन सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है ।'[२६७] अतः उनकी दृष्टि में आलोचक का दायित्व बड़ा ही गुरुतर सिद्ध होता है ।

शुक्ल जी के मतानुसार समीक्षा या समालोचना के सम्बन्ध में पहली बात समझने की यह है कि 'वह जब होगी विचारात्मक होगी । कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचना द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं ।'[२६८]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में 'विचारात्मकता' समालोचना के लिए विकल्प नहीं अपितु अनिवार्यता है । 'आलोचना' आलोचना तभी कहला सकती है, जब वह विचारात्मक हो । विचारात्मकता के अभाव में सच्ची आलोचना सम्भव नहीं । भावात्मक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं, उसे समीक्षा कहना ही नहीं चाहिए । प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (Impressionist Criticism) के संबंध में उनका अभिमत है कि 'इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं, आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुन्दरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे । कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है ।'[२६९] इस उद्धरण पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से पता चलता है कि यथार्थ में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना वस्तुगत न होकर नितान्त आत्मगत होती है । परिणामतः ऐसी समीक्षाओं में वस्तुगत विश्लेषण का सर्वथा अभाव और 'किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असम्बद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट'[२७०] का अतिरेक रहता है । 'इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा-विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है । लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार, आदि में उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छन्द विचारधारा के लिए जगह ही नहीं मिलती ।'[२७१] हिन्दी में भी प्रारम्भ में ऐसी ही समीक्षाओं का बाहुल्य था । उसमें यह सजावट अँगरेजी के अथवा बंगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य ला-लाकर खड़ी की जाती थी ।[२७२]

कहीं-कहीं तो किसी अँगरेजी कवि के सम्बन्ध में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिन्दी कवि पर भिड़ा दिया जाता था।[२७३] ऐसी समीक्षाओं में शुक्ल जी के मतानुसार 'ऊपरी रंगढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय कुछ और है, आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं।'[२७४] इस उद्धरण से पता चलता है कि प्रभावाभिव्यंजक आलोचना में कभी-कभी आलोच्य वस्तु और आलोचना में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। शुक्ल जी के मतानुसार प्रभाववादी आलोचक आलोचना का किसी कवि की प्रकृति, स्वभाव, सामाजिक परिस्थिति आदि से कोई प्रयोजन ही नहीं स्वीकार करते।[२७५] उनका पक्ष है कि 'हमारे चित्त पर किसी काव्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिए क्या? जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।'[२७६] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु ठहरती है जो वस्तुतः ठीक नहीं। इन्हीं सब कारणों से शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।'[२७७]

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के सम्बन्ध में शुक्ल जी की यह धारणा पर्याप्त सीमा तक तर्कसंगत प्रतीत हो रही है, क्योंकि वस्तुतः आलोचना केवल आलोचक की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती, वह उसका एकाधिकारी नहीं होता, वरन् उस पर पूरे पाठक-समाज का सामूहिक स्वामित्व होता है और वह सामाजिक सम्पत्ति होती है। अतः उसे ऐसे रूप में होना ही चाहिए जिससे समग्र पाठक-समुदाय को आलोच्यकृति अथवा कवि की समस्त विशेषताओं को यथासम्भव सम्यक् रूपेण हृदयंगम करने में सहायता मिल सके। स्वयं शुक्ल जी का यह तर्क सही है कि—'किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।'[२७८] अतः यदि किसी रमणीय अर्थगर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वय कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है, वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है तो उसे लेकर कोई क्या करेगा।'[२७९] सचमुच ऐसी आलोचना व्यर्थ ही कही जानी चाहिए। ऐसी धारणा के आचार्य शुक्ल अकेले प्रतिनिधि नहीं। आई० ए० रिचर्ड्स और एबरक्रांबी आदि अंग्रेजो के अनेक समीक्षकों की कुछ ऐसी ही धारणाएँ हैं। रिचर्ड्स ने आलोचना को आलोच्य वस्तु से अनिवार्यतः सम्बद्ध माना है। इसके अभाव में आलोचना आलोचना न होकर मात्र आत्म-चरित रह जाती है।[२८०] उन्होंने समीक्षा के नाम पर प्रचलित वागाडम्बर का कठोर

प्रतिषेध किया है। एबरक्राम्बी के मतानुसार—'"'समालोचना स्वभावतः वैयक्तिक पूर्वाग्रहों अथवा भावात्मक संयोगों की दया पर निर्भर प्रभावों पर आरूढ़ होने की अपेक्षा कुछ और अधिक भरोसे की वस्तुओं पर आरूढ़ होना पसन्द करती है।'[२८१] तात्पर्य यह कि समालोचना का वास्तविक आधार प्रभाव नहीं होते। स्वयं शुक्ल जी ने लिखा है कि 'साइकालोजिकल अप्रोच टु लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' नाम की पुस्तक में यह अच्छी तरह दिखा दिया गया है कि प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई समीक्षा ही नहीं।'[२८२] कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तुतः इन्हीं सब आधारों पर उनकी यह धारणा विकसित होकर परिपुष्ट हुई होगी।

आचार्य शुक्ल ने आलोचना की उस हवाई शैली की भी भर्त्सना की है जो पद्मसिंह शर्मा और कुछ छायावादी आलोचकों में दिखाई पड़ती है। ऐसी आलोचना के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि'''अहा हा! और वाह वाह!' वाली इस चाल का समालोचना कहा जाना जितनी ही जल्दी बन्द हो जाय उतना ही अच्छा।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने विचारात्मक आलोचना को ही वास्तविक आलोचना माना है। आलोचना के क्षेत्र में भावात्मकता का इन्होंने सर्वथा निषेध किया है। परन्तु भावात्मक आलोचना के प्रति उनका यह नितान्त विरोधी रुख सतत् स्थायी नहीं रह सका। अन्ततः उन्होंने समन्वयात्मक एवं संतुलित दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया। प्रभाववादी आलोचकों और उसके विरोधियों के वाद प्रतिवाद का समाहार सा करते हुए अपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा :' '''समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशांत रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना ( Judicial Criticism ) और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं।'[२८३] यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शुक्ल जी ने ऐसी सन्तुलित दृष्टि प्रारम्भ में ही क्यों नहीं अपनायी? प्रारम्भ में क्यों उन्होंने भावात्मक आलोचना को पूर्णतया व्यर्थ बताया? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले यह कहना आवश्यक है कि यहाँ उनका सैद्धांतिक विकास स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। प्रारम्भ में भावात्मक समीक्षा का तीव्र प्रतिक्रिया के कारण पूर्णतः खण्डन और आगे चलकर उसकी स्वीकृति। सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में भी ऐसी गतियाँ प्रायेण दिखायी पड़ती हैं। प्रारम्भिक शत्रुत्व और द्वेष भाव का मैत्री और स्नेह भाव में परिणत होना जीवन की सामान्य बातें हैं। शुक्ल जी के समक्ष हिन्दी का तत्कालीन रूढ़िवादी साहित्यालोचन प्रारम्भ में आया। उसे उन्होंने तर्कों से उड़ा दिया। उस समय प्राचीन रीतिशास्त्र के अन्धानुकरण के स्थान पर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल नवीन साहित्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना और नवीन समीक्षा-पद्धति के विकास की आवश्यकता थी। अतः वे मिश्र बंधुओं, पंडित पद्मसिंह शर्मा और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षाओं से संतुष्ट न हो सके। पद्मसिंह शर्मा की अनूठी शैली, विद्वत्ता आदि की प्रशंसा करने के बावजूद

उन्होंने लिखा कि 'शर्मा जी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है।'[२८४] उस समय 'पुरानी रूढ़ियों के साथ कुछ नयी रूढ़ियों का भी जन्म हो रहा था। आलोचना में संगत तर्क-पद्धति की जगह गद्य काव्य रचने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूंज है।'[२८५] इस तरह के वाक्यों का मजाक उड़ाते हुए शुक्ल जी ने 'घोर विचार-शैथिल्य' और 'बुद्धि का आलस्य फैलने'[२८६] के खतरे से हिन्दी लेखकों को सावधान किया है।[२८७] इन्हीं खतरों से हिन्दी साहित्यालोचन को सुरक्षित करने के उद्देश्य से इन नवीन रूढ़ियों के प्रसार एवं विकास को पूर्णतया अवरुद्ध करने के लिए उन्होंने प्रारम्भ में भावात्मक आलोचना की नितांत विरोधी दृष्टि अपनायी थी। और इसी कारण उसे पूर्णतया व्यर्थ भी बताया था। उस समय उनकी दृष्टि मूलतः भावात्मक समीक्षाओं में अपनायी जाने वाली भावात्मक शैली ही पर थी, उनमें व्यक्त किये जाने वाले प्रभावों पर नहीं इसीलिए उसे उन्होंने पूर्णतया व्यर्थ बतलाया था, किन्तु उनका यथार्थ तात्पर्य उस समय भी प्रलापात्मक एवं भावात्मक समीक्षा-शैली के ही निषेध से था, आलोचना में प्रभावों की अभिव्यक्ति के निषेध से नहीं। प्रभाववादी आलोचना की भावात्मक अभिव्यंजना प्रणाली से तो कोई भी उत्कृष्ट साहित्यिक आज भी सहमत नहीं हो सकता। शुक्ल जी ने इसे 'अन्त में भी स्वीकार नहीं किया। विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक दोनों समीक्षाओं की आवश्यकता स्वीकार करने का आशय समीक्षा की भावात्मक अभिव्यंजना प्रणाली को स्वीकार करना कदापि नहीं हो सकता। समीक्षा की अभिव्यंजना-प्रणाली तो प्रत्येक दशा में विचारात्मक ही होगी, भावात्मक कदापि नहीं। शुक्ल जी की तत्वतः यही दृष्टि है।

समीक्षा के क्षेत्र में 'अर्थक्रीड़ा' अर्थात् किसी पद्य का और का और अर्थ करने की प्रवृत्ति भी प्राचीन है। इसे अथवा ऐसी कृतियों को शुक्ल जी कल्पनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अवश्य परिगणित करते हैं, किन्तु विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं। उनका स्पष्ट कथन है कि 'वे साहित्य के अन्तर्गत अवश्य हैं पर विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं आ सकती।'[२८८]

शुक्ल जी के मतानुसार समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं—पहला निर्णयात्मक (Judicial Method) और दूसरा व्याख्यात्मक (Inductive criticism)। निर्णयात्मक आलोचना के बारे में उनका कथन है कि 'निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निन्दा।'[२८९] अन्यत्र उसकी तुलना प्रभावात्मक आलोचना से करते हुए पाश्चात्य समीक्षक श्री जे० ई० स्पिन्गर्न के मत को उद्धृत करते हुए उन्होंने बतलाया है कि निर्णयात्मक आलोचना एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर किसी काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होती है और उसके प्रभाव में न आकर अपनी क्रिया में तत्पर रहती है, किन्तु प्रभावात्मक आलोचना आलोच्य काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है।[२९०] उनकी दृष्टि में 'एक पुरुष है, दूसरी स्त्री।

एक सक्रिय है दूसरी निष्क्रिय ।'[२९१] आगे उन्होंने बताया है कि निर्णयात्मक आलोचना काव्य की परीक्षा तद्‌गत अनुभूति के प्रेषक साधनों—रीति, लक्षण आदि की उपयुक्तता की दृष्टि से करती है, क्योंकि जब साधन ही ठीक न होंगे तब साध्य सिद्ध कहाँ से हो सकता है ।[२९२] प्रभावात्मक आलोचना केवल यही कहती है कि साध्य सिद्ध हो गया है,[२९३] वह उसके साधनों की उपयुक्तता की परीक्षा करने नहीं जाती ।

व्यवहार के क्षेत्र में उपर्युक्त आलोचनाओं के वास्तविक सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर शुक्ल जी ने बतलाया है कि प्रायः 'एक का निर्णय दूसरी के अनुमोदन से भिन्न-पड़ता है ।'[२९४] उनका कथन है कि 'हृदय और बुद्धि दोनों के साथ-साथ चलने से ही इन दोनों का सामंजस्य हो सकता है ।'[२९५] एक स्थल पर 'निर्णयात्मक आलोचना' के बारे में उन्होंने लिखा है कि 'केवल निर्णयात्मक आलोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है । अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियों की श्रेणी बाँधना, उन्हें नंबर देना अब एक बेहूदा बात समझी जाती है ।'[२९६]

दूसरी प्रकार की अर्थात् 'व्याख्यात्मक आलोचना' शुक्ल जी के मतानुसार ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है । यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती । ऐसी आलोचना अपने शुद्धरूप में काव्यवस्तु ही तक परमित रहती है, अर्थात् उसी के अंग प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूंढ़ निकालने और भावों को व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है ।'[२९७]

व्याख्यात्मक समालोचना के अनेक रूप होते हैं जिसमें सामाजिक, राजनीतिक साम्प्रदायिक, परिस्थिति आदि का प्रभाव विशेष रूप से विवेचित रहता है उसे 'ऐतिहासिक समीक्षा' (Historical Criticism) कहते हैं ।[२९८] शुक्ल जी के मतानुसार इसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है ।[२९९] जिसमें कवि के जीवन क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान भी है, उसे 'मनोवैज्ञानिक आलोचना' (Psychological Criticism) कहते हैं ।[३००] इसी प्रकार शुक्ल जी के मतानुसार 'इनके अतिरिक्त दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से समालोचना की और भी कई पद्धतियाँ हैं और हो सकती हैं ।'[३०१] समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली अर्थात् 'तुलनात्मक समालोचना' पर भी शुक्ल जी ने अपना विचार प्रकट किया है । हिन्दी में 'तुलनात्मक समीक्षा' की बाढ़ पर उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए लिखा कि उसकी (तुलनात्मक समालोचना की) और लोगों का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने 'तुलना' को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओं में तथा इधर-उधर भी लगे भिन्न-भिन्न कवियों के पद्यों को लेकर मिलान करने । यहाँ तक कि जिन दो पद्यों में वास्तव में कोई भाव साम्य नहीं, उनमें भी बादरायण सम्बन्ध स्थापित करके लोग इस 'तुलनात्मक समालोचना' के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे ।'[३०२]

इससे यह तथ्य स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो रहा है कि शुक्ल जी तुलना को समालोचना की एक प्रणाली अवश्य मानते हैं, किन्तु उसे ही वे समालोचना का चरम लक्ष्य स्वीकार नहीं करते। इस प्रणाली का अनावश्यक प्रयोग उन्हें पसन्द नहीं।

•

## सन्दर्भ

१. बृहद् अनुवाद चन्द्रिका, पृ० ४०६ । २. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ८४७ । ३. प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोष, पृ० ११०२ । ४. चेम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ४१६ । ५. चिन्तामणि भाग २, पृ० १७५ । ६. चिन्तामणि भाग २, पृ० १७२ । ७. डिक्शनरी आव लिट्रेचर : शिपले, पृ० १६७ । ८. द आर्ट्स एण्ड द आर्ट आव क्रिटिसिज्म, टी०एम० ग्रीनी, पृ० १२३ । ९. लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री : विमसाट एण्ड ब्रुक्स, पृ० ७४८ । १०. द सैन्स आव ब्यूटि : सैंतायना, पृ० ५९ । ११. द आर्ट्स एण्ड द आर्ट आव क्रिटिसिज्म, पृ० १२३ । द मीनिंग आव आर्ट, पृ० २४ । १३. आर्ट ऐज एक्सपीरिअंस, पृ० १०६ । १४, १५, १६, १७, १८, १९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५९-१६० के आधार पर । २०. चिन्तामणि भाग २, पृ० १६० । २१. चिन्तामणि भाग २, पृ० १६० । २२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २१६ । २३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६१ । २४, २५. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६६, ६६ । २६, २७, २८, २९. जायसी ग्रन्थावली, पृ० क्रमशः ६६-७७, ६८, ६७, ६७ । ३०. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ७० । ३१. हिन्दी दशरूपक, धनंजय, अनुवादक डॉ० गोविन्दा-त्रिगुणायत, पृ० ८ (१।८) । ३२, ३३. दशरूपक, क्रमशः पृ० ९ (१।१२) ९ । ३४. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ७१ । ३५, ३६. जायसी ग्रन्थावली, पृ० क्रमशः ७१, ७२ ।* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ८६ । ३७. अरस्तू का काव्यशास्त्र (भूमिका), पृ० ७२ । ३८, ३९, ४०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र डॉ० नगेन्द्र, पृ० क्रमशः ७२, ७२, ७३ । ४१, ४२. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ७३, ७३ । ४३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७० । ४४, ४५, ४६. जायसी ग्रन्थावली, पृ० क्रमशः ७६, ९०, ९० । ४७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २५ । ४८. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ९१ । ४९, ५०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२१ । ५१, ५२, ५३, ५४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः १३१, १९६, १३१, १९६ । ५५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १३१ । ५६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ८७ । ५७, ५८, ५९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः १९५, १९४, २२९ । ६०. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७ । ६१, ६२. जायसी ग्रन्थावली, पृ० क्रमशः ७१, ७१ । ६३, ६४, ६५, ६६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः २९८, २९८, २९८, ६६४ ।

६७, ६८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ६६४। ६९. चिन्तामणि भाग २, पृ० २३९। ७०, ७१, ७२, ७३, ७४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः २२९, २२८-२९, २२९, २२९, २२९। ७५, ७६, ७७, ७८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः २२९, २२९, २२९, २२९। ७९. चिन्तामणि भाग २, पृ० २३८। ८०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ८९। ८१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २१०। ८२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २१७। ८३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०३। ८४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २१७। ८५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७। ८६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२९। ८७. हिन्दी का० सूत्र, १।३, पृ० २८-२९। ८८. वक्रोक्ति जीवित, ४।२६। ८९. अभिनव-भारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २२८। ९०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ९२। ९१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१४। ९२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६५। ९३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२। ९४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२। ९५, ९६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः १५३, १५२। ९७, ९८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० क्रमशः ५९, ५९। ९९. सूरदास, पृ० ८२। १००. गोस्वमी तुलसीदास, पृ० ६८। १०१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६८। १०२. चिन्तामणि भाग १, पृ० २१५। १०३, १०४, १०५. चिन्तामणि भाग १, पृ० क्रमशः २२७, २२७, २२७। १०६. चिन्तामणि भाग २, पृ० १६१। १०७. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १६१। १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३. चिन्ता-मणि, भाग २, पृ०, २३८, २३८, २३८, २३८, २३८, २३८। ११४. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० स०, भाग १५, सं० ३। ११५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९३। ११६, ११७, ११८, ११९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९३। १२०, १२१, १२२, १२३. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १५ सं० ३। १२४. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १५ संख्या ३। १२५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डॉ० राम-विलास शर्मा, पृ० २२२। १२६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९४। १२७. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १५ संख्या ३। १२८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६०। १२९, १३०. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १५, संख्या ३। १३१. अभिभाषण, पृ० १०६। १३२. अभिभाषण, पृ० १०६। १३३. काव्य में रहस्यवाद, पृ० २१। १३४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ६ (भूमिका), १३५, १३६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ४९२, ४९३। १३७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२१। १३८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६१। १३९, १४०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० क्रमशः १६१, १६२। १४१, १४२.

हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५८ । १४३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २५७ । १४४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६५ । १४५. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १५, संख्या ३ । १४६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३५ । १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१-४६८ पर । १५५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६८ । १५६. साहित्य रूप (प्र० सं०), पृ० ६६---डॉ० रामअवध द्विवेदी । १५७, १५८, १५९, १६०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ४६०, ४६१, ४६१, ४६१ । १६१. काव्य के रूप : डॉ० गुलाबराय, पृ० २०१ । १६२, १६३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५९ । १६४. काव्य के रूप, पृ० २०१ । १६५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१ । १६६, १६७, १६८, १६९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९९, ४९९, ४९९, ४९९ । १७०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२२-२२३ । १७१. हृदयेश जी की कहानी । १७२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९९ । १७३, १७४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१ । १७५, १७६, १७७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५००, ५००, ५०० । १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५००, ५०१ पर । १८९, १९०, १९१, १९२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०१ । १९३. चिन्तामणि भाग २, पृ० १६१ । १९४. साहित्य रूप (रामअवध द्विवेदी), पृ० २०-२१ । १९५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३३ । १९६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०५ । १९७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६१ । १९८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०८ । १९९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६१ । २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५०८, ५०७, ५०७, ५०८, ४३०, ४३० । २०६, २०७, २०८, २०९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५६, ५०६, ५०६, ५०७ । २१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०७ । २११. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२० । २१२, २१३, २१४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५०५, ५०५, ५०५ । २१५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०५ । २१६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२० । २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५१२, ५०४, ५०६, ५०६, ५०६, ५०६, ५०६, ५०६ । २२५, २२६, २२७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५०६, ५०५, ४६३ । २२८. मैरिआट्स माडर्न एसे एण्ड स्केचेज, भूमिका, पृ० १० । २२९. काव्य के रूप, पृ० २१९ । २३०. साहित्य रूप, पृ० १०८ । २३१. काव्य के रूप, पृ० २१९ । २३२, २३३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६१, १६२ । २३४, २३५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६४, ४६४ । २३६, २३७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६४, ४६४ । २३८, २३९. हिन्दी

साहित्य का इतिहास, पृ० ४६४, ४६५। २४०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२३। २४१. काव्य के रूप, पृ० २२१। २४२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६७। २४३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५९-१६०। २४४, २४५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५१६, ४६४। २४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६०। २४७, २४८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२। २४९, २५०, २५१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ४५२, ४८३, ५१६। २५२, २५३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१६-५३०, ४८३। २५४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२४। २५५, २५६, २५७, २५८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८२-८३ पर। २५९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८३। २६०, २६१. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० १६, १७। २६२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २२४। २६३, २६४. समीक्षाशास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ७, ७। २६५. समीक्षा शास्त्र, पृ० ७। २६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १९३। २६७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८६। २६८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १९३। २६९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१८। २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५१७, ५१९, ५१७-१८, ५१८, ५२५, ५१८, ५१८-१९, ५१९। २७८, २७९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१९। २८०. प्रिंसिपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, एबरक्राँबी, पृ० १४। २८२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१९। २८३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९३। २८४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८७। २८५, २८६, २८७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१६, ५१६, ५१६। २८८, २८९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० क्रमशः ५२०, ४८३। २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९३, ९३, ९४, ९४, ९४। २९६, २९७, २९८, २९९, ३००. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८४, ४८४, ४८४, ४८४, ४८४। ३०१, ३०२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८४, ४८८।

# प्राचीन सिद्धान्त

## रस सिद्धान्त

रस-सिद्धान्त आचार्य शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्त का केन्द्रीय सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का अपना एक गौरवमय एवं विशाल इतिहास है। वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र की महती परम्परा में यह सिद्धान्त सदैव आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। इतिहास के विकास में विभिन्न आचार्यों ने समय-समय पर इसकी व्याख्या कर इसके विकास में योगदान किया है। आचार्य शुक्ल ने भी इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है, जिसका विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

## रस-दशा

आचार्य शुक्ल ने 'रस' की परिभाषा अथवा उसके शाब्दिक अर्थ के निर्वचन से रस-विमर्श की शुरुआत नहीं की है। उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र की दीर्घकालिक परम्परा में विभिन्न आचार्यों द्वारा विवेचित रस सिद्धान्त के सार तत्व के प्रकाश में जीवन के भीतर उसके अनुसंधान के प्रयास से उसकी शुरुआत की है और प्रखर विवेक तथा तर्क से वाग्जाल को छिन्न कर उसके शुद्ध, निर्मल और वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया है। उनके रस-सिद्धान्त की आधारभूमि है बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत् का सम्बन्ध, यही उसकी नींव और प्रारम्भ-बिन्दु है। उनका स्पष्ट मत है कि—'हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत के ही हैं।'[1] 'निष्कर्ष यह कि अनन्त रूपात्मक जगत् के विविध रूप-व्यापार मानव के अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर रत्यादि नाना भावों को उद्बुद्ध करते हैं। मानव-मन जगत् के नाना रूपों का प्रत्यक्ष बोध करता है। इस बोध के समय उसके हृदय की दो स्थितियाँ हो सकती हैं— पहली स्थिति में उसे अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान बना रहता है और वह उस रूप को अपने वैयक्तिक हानि-लाभ एव योग क्षेम से सम्बद्ध करके देखता है, दूसरी स्थिति में वह अपने-आपको भूल जाता है, अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट जाता है, उसे अपने हानि-लाभ या योग-क्षेम का कोई ख्याल ही नहीं रह जाता। आचार्य शुक्ल ने पहली स्थिति को हृदय की बद्धावस्था और दूसरी स्थिति को मुक्तावस्था की संज्ञा दी है और बतलाया है कि हृदय की यही मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।

निश्चय ही रस का सम्बन्ध उन्होंने मानव-हृदय की अनुभूतिकालिक अवस्था या दशा विशेष से प्रत्यक्षतः जोड़ा है। स्पष्ट शब्दों में 'कविता क्या है?' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है—'जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र (जगत्) के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। (किंतु) इन रूपों एवं व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है।'[2] हृदय की इसी मुक्तावस्था को उन्होंने 'रसदशा' कहा है। उन्होंने लिखा है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।'[3] निष्कर्ष यह कि हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा है और हृदय की मुक्तावस्था का प्रमुख लक्षण है अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से मुक्ति। हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा का यही लक्षण उन्होंने भिन्न-भिन्न शब्दों में अनेक स्थलों पर बताया है। इसे उन्होंने कहीं अपने-पराये के भेद-भाव से मुक्ति,[4] कहीं निर्वैयक्तिकता,[5] कहीं व्यक्ति सत्ता का परिहार,[6] कहीं सामान्य भावसत्ता में तल्लीनता[7] और कहीं अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना[8] कहा है। कहना न होगा कि पाश्चात्य समीक्षा में 'अहं का विसर्जन और निस्संगता का सिद्धान्त' शुक्ल जी द्वारा निरूपित हृदय की इस मुक्तावस्था या रसदशा के अनुरूप है।

यहीं एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न उठ सकता है कि जिस प्रकार हृदय की मुक्तावस्था को आचार्य शुक्ल ने 'रसदशा' की संज्ञा दी है, क्या उसी प्रकार हृदय की बद्धावस्था को 'विरसदशा' की संज्ञा देना उचित होगा? उत्तर है, हाँ। क्योंकि 'रस का विलोम 'विरस' होता है अतः रसदशा की उल्टी दशा विरसदशा कही जा सकती है। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने हृदय की बद्धावस्था को 'विरसदशा' स्पष्ट रूप से नहीं कहा है, किन्तु इस सन्दर्भ में उन्होंने 'विरसता'[9] शब्द का प्रयोग अवश्य किया है अतः विरसदशा नाम-करण अटकलपच्चू न होकर तर्कसंगत ही होगा।

रसदशा का दूसरा उल्लेख आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार किया है—'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।'[10] डॉ० रामलाल सिंह का यह कथन कि "रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानना तथा लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लीन होना स्वीकृत करना सूक्ष्मतः एक ही बात है,"[11] पूर्णतः सच है। कारण यह कि लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय के लीन होने का तात्पर्य ही है अपनी पृथक् व्यक्ति-सत्ता का परिहार या निर्वैयक्तिकता अर्थात् हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा। इसे ही दूसरे शब्दों में लोक-हृदय के साथ व्यक्ति-हृदय का तादात्म्य कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि जीवन में शुक्ल जी ने दो प्रकार का बोध स्वीकार किया है, एक 'रसात्मक' और दूसरा 'अरसात्मक'। प्रत्यक्ष जीवन में रसात्मक बोध की धारणा उनकी सर्वथा मौलिक धारणा है।

आचार्य शुक्ल की 'रस मीमांसा' में 'हृदय की मुक्तावस्था', 'रसदशा', 'रसात्मक बोध', 'रसात्मक अनुभूति', 'रसानुभूति' आदि शब्द समानार्थक हैं। इन सभी शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उन्होंने किया है। अत: यहाँ भी इन शब्दों का आवश्यकतानुसार समान अर्थ में व्यवहृत होना स्वाभाविक है।

रस अथवा रसानुभूति के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने प्रसंगवश भिन्न-भिन्न अवसरों पर कुछ चलती बातें कह दी हैं जो रसदशा या रसानुभूति सम्बन्धी उनकी मूल धारणा से भिन्न प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए 'हृदय की अनुभूति' की रट लगाने वाले किन्तु रस के नाम पर मुंह बनाने वाले आधुनिक कवियों एवं समीक्षकों की नासमझी दूर करने के लिए उन्होंने लिखा है :—'भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर हृदयवाद लेकर सामने आते। सम्भव है इसका पता पाने पर कि हृदयवाद तो रसवाद ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें।'[१२]

प्रस्तुत उद्धरण में 'हृदय की अनुभूति' को रस और भाव कह दिया गया है। विचारपूर्वक देखने से पता लगता है कि यह न तो निर्दोष ही है और न तो रसदशा की उनकी मूल धारणा से अभिन्न ही, क्योंकि हृदय की प्रत्येक अनुभूति रसात्मक नहीं होती, अपितु वही अनुभूति रसात्मक होती है जो अनुभूति के क्षणों में अपने अनुभवकर्ता की पृथक् वैयक्तिक सत्ता का परिहार कर देती है। अतः उपर्युक्त कथन में अति व्याप्ति दोष है। रस प्रत्येक दशा में अनुभूतिपरक होता है, किन्तु हर अनुभूति रसात्मक हो यह आवश्यक नहीं। अत: ऐसी प्रासंगिक उक्तियों को रसदशा सम्बन्धी उनकी मूल धारणा के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

ऊपर यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि शुक्ल जी के मतानुसार हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा का प्रमुख लक्षण है अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से मुक्ति। अपने उसी निबन्ध में आगे चलकर उन्होंने रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण बताए हैं—

(१) अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, और

(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।''[१३]

इन्हीं दो लक्षणों के आधार पर किसी भी अनुभूति की रसात्मकता का निश्चय असंदिग्धरूप से किया जा सकता है।

अनुभूति का सम्बन्ध रसात्मक और अरसात्मक दोनों प्रकार की अनुभूतियों का सम्बन्ध, शुक्ल जी के मतानुसार, मानसिक रूप-विधान से होता है। मानसिक रूप विधान ही भावों को जागरित करते हैं। मानसिक रूप विधान तीन प्रकार के होते हैं— (१) प्रत्यक्ष रूप विधान, (२) स्मृति रूप विधान, (३) कल्पित रूप विधान। तीनों प्रकार के रूपविधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें, यही शुक्ल जी की मूल प्रस्थापना है। कल्पित रूप-विधान द्वारा

जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है, किन्तु प्रत्यक्ष या स्मृति द्वारा जागरित अनुभूति को रसात्मक कोटि में पूर्ववर्ती विद्वानों ने नहीं माना है, किन्तु शुक्ल जी की स्थापना है कि 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।'[१४] उनकी यह स्थापना सतर्क और साधार है, तर्कहीन पूर्वाग्रह नहीं। उन्होंने रसात्मक अनुभूति के लक्षणों को प्रत्यक्ष बोध से सम्बद्ध वास्तविक अनुभूतियों पर घटित कर दिखाया है। वस्तुतः यह विषय विवादास्पद है। आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्यानुभूति या काव्यास्वाद को ही रसात्मक या रस माना है, प्रत्यक्षानुभूति या प्रत्यक्षास्वाद को नहीं। उनका मत है कि—'लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य-नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं।

"सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के समवेत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मनसा साक्षात्कार या चर्वण ही 'रस' है।"

× × ×

"अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है।"[१५]

आधुनिक प्रख्यात आलोचक डॉ० नगेन्द्र भी अभिनव का ही समर्थन करते हैं। उनकी मान्यता है कि यद्यपि लौकिक जीवन में 'प्रीति-संदर्भों की रमणीय उक्तियाँ शृङ्गार रस के अत्यन्त निकट पहुँच जाती हैं, क्योंकि रमणीय उक्ति ही तो काव्य है, किन्तु यहाँ भी शुद्ध शृङ्गार रस नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के प्रसंग भी व्यक्ति की सीमाओं से परिबद्ध हैं, इनके स्थायी, संचारी और उद्दीपन सभी विशिष्ट एवं असाधारणीकृत हैं। अतः रस की स्थिति यह नहीं है।'[१६]

इसके विपरीत शुक्ल जी का सतर्क पक्ष यह है कि 'जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है, वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।'[१७]

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि दोनों ही मतों के विद्वान् रसात्मक अनुभूति के लक्षणों के विषय में एकमत हैं। प्रत्येक की दृष्टि में साधारणीकरण और व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्ति ही रसात्मक अनुभूति के अनिवार्य लक्षण हैं। किन्तु यह एक अद्भुत बात है कि रस या रसानुभूति के लक्षणों के सम्बन्ध में सहमत होते हुए भी दोनों एक-

दूसरे के विरोधी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक न मानने वाले विद्वानों के अनुसार प्रत्यक्ष जीवन में न तो अनुभूति के आलम्बन का साधारणीकरण होता है और न तो अनुभवकर्ता का हृदय ही व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होता है। इसके विपरीत कुछ विशेष दशाओं में प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक कोटि की मानने वाले विद्वान् आचार्य शुक्ल के मतानुसार प्रत्यक्ष अथवा वास्तविक अनुभूति के आलम्बन का साधारणीकरण भी कुछ विशेष दशाओं में होता है और व्यक्तिगत सत्ता का परिहार भी। देखना है वास्तविकता क्या है? यही वास्तविकता उपर्युक्त विरोधी मतों में से एक को सत्य और दूसरे को असत्य सिद्ध कर देगी।

वास्तविकता के अनुसन्धान के लिए जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों का विश्लेषण किया जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति यदि अपनी जिन्दगी के पन्ने उलटना शुरू करे तो निश्चय ही उसे अपनी जिन्दगी के कुछ क्षण ऐसे लगेंगे, जिनका मुकाबला जिन्दगी भर में देखे गए, नाटकों और पढ़े गए काव्यों की अनुभूतियों के क्षण मिलकर भी नहीं कर सकते। क्या उन क्षणों की रसात्मकता में सन्देह हो सकता है? यदि जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ रसात्मक नहीं, तो उनकी कल्पनात्मक काव्यात्मक अनुभूतियाँ भी रसात्मक नहीं हो सकतीं। रसात्मकता उनमें कहाँ से टपकेगी। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप विधान ही स्मृति और कल्पित रूप विधानों के मूल होते हैं। शुक्ल जी की यह प्रस्थापना अकाट्य है। स्थायीभाव 'क्रोध' को लेकर हम ठोस रूप में इसे देखते हैं। शुक्ल जी के अनुसार—'यदि हमारे मन में किसी ऐसे के प्रति क्रोध है, जिसने हमें या हमारे किसी सम्बन्धी को पीड़ा पहुँचाई है, तो उस क्रोध में रसात्मकता न होगी। पर किसी लोक-पीड़क या क्रूरकर्मा अत्याचारी को देख-सुनकर जिस क्रोध का संचार हममें होगा, वह रसकोटि का होगा जिसमें प्राय: सब लोग योग देंगे।'[१८]

यहाँ पर दोनों क्रोध भिन्न कोटि के हैं, कारण यह कि उनके आलम्बन भिन्न कोटि के हैं। पहले का 'आलम्बन' लोक पीड़क नहीं है, अपितु उसने हमारे किसी सम्बन्धी को पीड़ा पहुँचायी है, इसलिए उस पर हमें क्रोध होता है, यदि उसने किसी और के सम्बन्धी को पीड़ा पहुँचायी होती, जो हमारा सम्बन्धी न होता तो हमें क्रोध न आता। अत: यहाँ हमारे क्रोध का आधार व्यक्ति-सम्बन्ध विशेष है न कि आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप। किन्तु दूसरे क्रोध का 'आलम्बन' लोक-पीड़क है, जिस पर हमें इसीलिए क्रोध नहीं आता कि उसने हमारे सम्बन्धी को पीड़ा पहुँचायी है, बल्कि हमारे क्रोध का कारण उसका अत्याचारी स्वरूप है। अत: यह आलम्बन लोक-पीड़क होने के कारण साधारणीकृत आलम्बन कहलाएगा, जब कि प्रथम आलम्बन का स्वरूप साधारणीकृत न होगा। साधारणीकृत होने के कारण लोकपीड़क के प्रति होने वाले हमारे क्रोध में पूरा लोक योग देगा, किन्तु पहले आलम्बन के प्रति होने वाले हमारे क्रोध में कुछ सगे सम्बन्धी ही योग दे सकते हैं, पूरा लोक कभी भी योग न देगा। ऐसी दशा में निस्संदेह द्वितीय कोटि का क्रोध रसात्मक होगा। अपनी स्थापना के समर्थन में आचार्य शुक्ल ने आई० ए० रिचर्ड्स की पंक्तियाँ उनके 'व्यावहारिक समीक्षा' ग्रन्थ से उद्धृत की हैं और

बताया है उन्हें भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास'[19] सा हुआ है।

शुक्ल जी ने अपनी यह प्रस्थापना सभी भावों की प्रत्यक्षानुभूतियों के विश्लेषण के आधार पर की है। 'रतिभाव' के सम्बन्ध में उनका कथन है,[20] कि 'गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रसलोक में ही पहुँचा रहता है।' 'हास' के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'जहाँ उसका पात्र सामने आया कि मनुष्य अपना सारा सुख-दुःख भूल एक विलक्षण आह्लाद का अनुभव करता है, जिनमें बहुत से लोग एक साथ योग देते हैं।'[21] 'उत्साह' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'अपने निज के लाभ वाले विकट कर्म की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कर्म को हम लोग कल्याणकारी समझेंगे, उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के संकुचित मण्डल से बद्ध न रहकर बहुत व्यापक होगी।'[22]

इसी संदर्भ में शुक्ल जी ने यह कहा कि सुखात्मक प्रत्यक्ष अनुभूतियों को तो लोग सरलता से रसात्मक मान लेंगे, किन्तु रसास्वाद के आनन्दस्वरूप माने जाने से दुःखात्मक प्रत्यक्षानुभूति को रसात्मक स्वीकार करने में कठिनाई होगी, क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है।[23] इस सम्बन्ध में शुक्ल जी की अपनी धारणा है कि सुख और दुःख दोनों रसात्मक हो सकते हैं और होते हैं, उसके लिए आवश्यक यही है कि हृदय मुक्तावस्था में हो।[24] वे करुण रस-प्रधान नाटक के अवलोकन से दर्शकों को होने वाली अनुभूति को दुःखात्मक ही मानते हैं, किन्तु उनका कहना है कि 'हृदय की मुक्तिदशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।'[25] अपनी इसी धारणा के अनुसार उन्होंने 'आनन्द' को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण न कर 'हृदय की मुक्तावस्था' के अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने लिखा है : 'आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध-दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।'[26]

जहाँ तक हृदय के व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त होने की बात है, उसके लिये आवश्यक यही है कि आलम्बन सामान्य हो—उसमें लोकधर्मों की प्रतिष्ठा हो। रति आदि सुखात्मक और करुण आदि दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों के सामान्य आलम्बन हृदय को व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्तदशा में पहुँचाते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भय, क्रोध आदि दुःखात्मक भावों की अनुभूति—रसात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि यदि उनका आलम्बन सामान्य हुआ तो हृदय व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त होगा ही।

रति आदि समस्त स्थायी भावों में 'करुणा' एक विलक्षण भाव है। इसके संबंध में शुक्ल जी ने कहा है कि 'करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है, जिसका प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है।'[27]

समग्र विवेचन के आधार पर शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत अन्तिम निष्कर्ष यह है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि

उनका एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।'[28]

प्रत्यक्ष अनुभूतियों की ही भाँति स्मृति अनुभूतियों को भी शुक्ल जी ने कुछ दशाओं में रसात्मक माना है। उनके मतानुसार स्मृति दो प्रकार की होती है—(क) विशुद्ध (ख) प्रत्यक्षाश्रित या प्रत्यभिज्ञान। विशुद्ध स्मृति में अतीत की किसी प्रत्यक्षीकृत घटना, व्यापार, वस्तु या दृश्य का स्मरण आता है, किन्तु प्रत्येक स्मरण रसात्मक नहीं होता। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'किसी को कोई बात भूल गई हो और फिर याद हो जाय, या कोई वस्तु कहाँ रखी है यह ध्यान में आ जाय तो ऐसा स्मरण रसक्षेत्र के भीतर न होगा।[29] 'प्रत्युत केवल उन्हीं बातों का स्मरण रसात्मक होगा' जो हमारी मनोवृत्ति को शरीर-यात्रा के विधानों की उलझन से अलग करके शुद्ध मुक्त भाव-भूमि में ले जाता है।'[30] प्रायः रति, हास और करुणा से सम्बद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक कोटि में आता है। किन्तु उनका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य भावों के आलम्बनों का स्मरण किसी भी दशा में रसात्मक होता ही नहीं, या हो ही नहीं सकता। शुक्ल जी की दृष्टि में 'दूसरे भावों के आलम्बनों का स्मरण भी कभी रस-सिक्त होता है, पर वहीं जहाँ हम सहृदय द्रष्टा के रूप में रहते हैं। अर्थात् जहाँ आलम्बन केवल हमारा ही व्यक्तिगत भावसत्ता से सम्बद्ध नहीं, सम्पूर्ण नर-जीवन की भावसत्ता से सम्बद्ध होते हैं।'[31] प्रत्यभिज्ञान के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है—'स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में रस-संचार की बड़ी गहरी शक्ति होती है। बाल्य या कौमार जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के भीतर उमड़ पड़ते हैं और हमारी वृत्ति उनके माधुर्य में किस प्रकार मग्न हो जाती है।'[32] उनकी दृष्टि में प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व के पीछे डाले रहता है।[33] 'स्मृति' कुछ दशाओं में रसात्मक होती या हो सकती है, यह बात कवयित्री महादेवी के निम्नलिखित कथन से भी सत्य प्रमाणित होती है: 'जंगवीर के स्वार्थत्याग पर कोई काव्य चाहे न लिखा जावे; पर मेरे हृदय में उसकी स्मृति एक कोमल मधुर कविता है।'[34]

जैसा कि प्रारम्भ में ही निर्दिष्ट किया गया है, कि शुक्ल जी प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पित तीनों ही रूपविधानों को रसात्मक मानते हैं। प्रत्यक्ष और स्मृति का ऊपर विवेचन हो चुका है। कल्पित रूप विधान के विवेचन में शुक्ल जी ने पहले उस कल्पना को लिया है जो 'स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।'[35] इस प्रकार की कल्पना को उन्होंने 'स्मृत्याभास कल्पना' की संज्ञा दी है। उन्होंने इस कल्पना के दो आधार स्वीकार किए हैं—पहला आप्तशब्द (इतिहास) और दूसरा शुद्ध अनुमान। इतिहास के संकेत पर जगनेवाली स्मृत्याभास कल्पना के सम्बन्ध में उनका कथन है कि—'इसकी मार्मिकता भी निज के अतीत जीवन की स्मृति की मार्मिकता के ही समान होती है।'[36] उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलने वाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है।[37]

इतिहास में जिन वस्तुओं का उल्लेख नहीं होता उसकी पूर्ति कल्पना द्वारा ही की जाती है।

शुद्ध अनुमान पर आधारित स्मृत्याभास कल्पना को भी शुक्ल जी रसात्मक कोटि की मानते हैं।[38] उनका मत है कि स्मृतियाँ और उनके आधार पर चलने वाली —स्मृत्याभास कल्पनाएँ सुख-दुःख की अनुभूतियों से परे होती हैं। वस्तुतः वे हमारा मर्म-स्पर्श करती हैं और हम उनमें लीन होते हैं। यही कारण है कि वे रसात्मक होती हैं।[39]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मतानुसार प्रत्यक्ष और स्मृति रूप-विधानों द्वारा जागरित अनुभूतियाँ कुछ दशाओं में और कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूतियाँ सर्वत्र रसात्मक होती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि काव्य का सम्बन्ध इनमें से किससे है ? शुक्लजी का कथन है कि 'काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं।'[40]

रस का स्वरूप विवेचित करने के पहले शुक्ल जी की उपर्युक्त रसात्मक बोध सम्बन्धी धारणा का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन आवश्यक प्रतीत होता है। जिस रस को आचार्य अभिनवगुप्त और उनके परवर्ती आचार्यों ने काव्य और नाट्य तक सीमित रख-कर, अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहकर, लोक-जीवन से पृथक् कर स्वर्गस्थ सा कर दिया था, उसे शुक्ल जी ने प्रत्यक्षादि अनुभूतियों को रसात्मक मानकर लोक-जीवन की ठोस धरती पर अवतरित कर सप्राण किया और युग की मूलभूत ऐति-हासिक आवश्यकता की पूर्ति की। इसे शुक्ल जी की मौलिक चिन्तना का अद्वितीय परिणाम कहा जाना चाहिए। डॉ० जयचन्द राय ने ठीक ही लिखा है कि 'पूर्व या पश्चिम के किसी आलोचना सिद्धान्त में इसको अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष जीवन में भाव-योग की सिद्धि का स्पष्ट निदर्शन है।'[41]

## रस का स्वरूप

रसदशा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने रस को 'आस्वाद' रूप ही माना है। 'आस्वाद्य' रूप नहीं। विद्वानों में इस विषय में मतभेद भी नहीं है, किन्तु रस सिद्धांत के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य भरत का मत इसके सर्वथा विपरीत था। उनकी दृष्टि में 'रस आस्वाद नहीं, आस्वाद्य है—अर्थात् अनुभूति नहीं है अनुभूति का विषय है : नवीन शब्दावली में रस विषयिगत नहीं है, विषयगत है।'[42] अपने रस सूत्र—'तत्र विभावा-नुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[43] में निहित मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—'अत्राह-रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्।'[44] अर्थात् यहाँ प्रश्न उठता है कि रस कौन सा पदार्थ है ? अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ?

उत्तर आस्वाद्य होने से, अर्थात् जो आस्वाद्य हो वह रस है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में रस आस्वाद नहीं अपितु आस्वाद का विषय है। उनके मतानुसार रस का आस्वाद हर्ष, कुतूहल आदि के रूप में अनुभूत होता है। विवेचन से यह ज्ञात होता है कि रस के प्रति आचार्य भरत ने वस्तुगत अथवा विषयगत दृष्टि अपनायी है, उनका रस सम्बन्धी विवेचन वस्तुगत है, जब कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि अपेक्षाकृत आत्मगत है और उनका विवेचन भी उसी के अनुरूप है। आचार्य भरत की दृष्टि में रस नाट्यगत है, सामाजिक गत नहीं, सामाजिकगत रस की अनुभूति है, उसका आस्वाद है अर्थात् हर्ष और कुतूहल आदि हैं, रस नहीं। किन्तु आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रस के आस्वाद रूप होने से रस सामाजिकगत ही कहा जायगा। कहना न होगा कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस का यही रूप प्रधानतः मान्य रहा। भरत के परवर्ती आचार्यों के विवेचन में रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और यह आस्वाद्य से आस्वाद बन गया। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार इस अर्थ-परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है। अभिनवगुप्त शैवाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य थे। अतः उन्होंने अपनी दार्शनिक मेधा के द्वारा रस-विवेचन को भी शैवाद्वैत सिद्धांत के रंग में रंग दिया। 'उनके अनुसार रस का अर्थ है आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है : विषय तो आत्म-परामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है, जिसके द्वारा प्रमाता संविद-विश्रांति लाभ करता है। यह संविद-विश्रांति ही आनन्द है। अतः रस नाट्यगत नहीं हो सकता—नाट्य तो संविद-विश्रांति रूप रस का माध्यम मात्र ही हो सकता है।'[४५] निस्सन्देह अभिनव के अनुसार रस आस्वाद से अभिन्न होता है अर्थात् रस आस्वाद रूप ही होता है, आस्वाद्य या आस्वाद का विषय नहीं। इस पक्ष को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल के मत की आचार्य भरत एवं अभिनव के मतों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि शुक्ल जी का मत आचार्य अभिनव के मत के अनुकूल है और आचार्य भरत के मत से उतना ही भिन्न कोटि का है, जितना कि आचार्य भरत के मत से आचार्य अभिनव का मत भिन्न कोटि का है।

यदि आचार्य शुक्ल की रस स्वरूप सम्बन्धी इस धारणा पर उनके समग्र काव्य-दर्शन के संदर्भ में विचार किया जाय तो, यह पता चलता है कि उसमें एक महत्त्वपूर्ण असंगति विद्यमान है। रस को आस्वाद रूप में मानते हुए भी उसे वे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि अवैज्ञानिक है। उनके रस सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि वह कोई काव्यगत तत्त्व नहीं, वरन् आस्वाद रूप होने से सामाजिक या सहृदयगत तत्त्व है। ऐसी दशा में उसे काव्यात्मा कैसे माना जा सकता है, क्योंकि काव्यात्मा का निवास तो काव्य में ही होना चाहिए, काव्य के बाहर सामाजिक में नहीं। अतः रस को या तो काव्यात्मा न माना जाय या काव्य के तत्त्व के रूप में उसकी व्याख्या की जाय, न कि सहृदयगत तत्त्व के रूप में। स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने इस असंगति की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उनका ध्यान इस ओर गया होता तो या तो रस को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार करते हुए काव्यगत तत्त्व के रूप में वस्तुगत एवं वैज्ञानिक

दृष्टि से उन्होंने उसकी व्याख्या की होती अथवा उसे काव्यात्मा के रूप में न स्वीकार किया होता और सहृदयगत तत्त्व के रूप में ही उसकी व्याख्या की होती। इस असंगत की ओर ध्यान न देना निश्चय ही एक चातुर्यपूर्ण साहित्यिक घपला है। जहाँ तक आचार्य भरत के मत का प्रश्न है वह वस्तुगत एवं वैज्ञानिक है। उनके समय में काव्यात्मा का विवाद वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं हुआ था और उन्होंने रस का प्रतिपादन काव्यात्मा के रूप में किया भी नहीं। उनकी धारणा के अनुसार रस नाट्यगत है--सहृदयगत नहीं अतः यदि उन्होंने काव्यात्मा के रूप में रस की स्थापना की होती तो बात संगत भी होती, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। उनके पश्चात् जब विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा काव्यात्मा सम्बन्धी स्थापनाएँ होने लगीं तब रस-सिद्धांत के परवर्ती आचार्यों ने रस को भी काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। रस का काव्यात्मा के रूप में उल्लेख 'अग्निपुराण' से पूर्व कहीं नहीं मिलता।[४६] अग्निपुराण के अतिरिक्त महिमभट्ट एवं विश्वनाथ जैसे कुछ परवर्ती आचार्यों ने ही रस की चर्चा काव्यात्मा के रूप में की है।[४७]

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यदि रस आस्वाद रूप है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं—तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचार्य भरत की व्याख्या अशुद्ध है, और यदि रस आस्वाद्य पदार्थ है, आस्वादरूप नहीं तो अभिनव और विश्वनाथ की व्याख्या गलत है, किन्तु यदि रस आस्वाद और आस्वाद्य दोनों रूप है तो दोनों ही व्याख्याएँ अपनी-अपनी जगह ठीक होती हुई भी अधूरी हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि यदि आस्वाद्य और आस्वाद दोनों ही रूपों में रस की व्याख्या की जाय तो अधिक संगत होगा। इस प्रकार रस के दो रूप हो जायेंगे, जिसमें आस्वाद्य रूप काव्यगत रस को काव्यात्मा के रूप में माना जा सकता है।

रस आस्वाद रूप है, इस विषय में आचार्य शुक्ल और आचार्य अभिनव एक मत हैं, किन्तु इस आस्वाद के स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें एकता नहीं। आचार्य अभिनव के मतानुसार रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है। शृङ्गार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त का आस्वाद तो स्पष्टतः आनन्दमय होता है, किन्तु उनकी दृष्टि में करुण, भयानक, बीभत्स आदि का आस्वाद भी आनन्दमय होता है। शुक्ल जी इस मत से सहमत नहीं। उन्होंने रस की अनिवार्य आनन्दरूपता का स्पष्ट खण्डन किया है—'यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द रूप अनुभव हुआ तो 'साधारणीकरण' कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किये उनका रूप प्रदर्शित किया है।'[४८] उनकी धारणा है कि काव्य से प्राप्त अनुभव को प्रत्येक दशा में आनन्द-स्वरूप कहना काव्य के उद्देश्य को मनोरंजन मात्र तक सीमित कर देना है।[४९] एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है—'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर' अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से न तो उसके

अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित्त। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप सुख का दे देता है। क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं ? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं। क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते ? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दगत है ? इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।[५०]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रस को अनिवार्यतः आनन्दस्वरूप नहीं मानते। उनकी दृष्टि में रस सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। उनकी अपनी धारणा है कि सुख और दुःख दोनों रसात्मक हो सकते हैं और होते हैं, उसके लिए आवश्यक यही है कि हृदय मुक्तावस्था में हो।[५१] वे करुण रस प्रधान नाटक के अवलोकन से दर्शकों को होने वाली अनुभूति को दुःखात्मक ही मानते हैं,[५२] किन्तु उनका कहना है कि 'हृदय की मुक्तिदशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।[५३] अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की दृष्टि में रसात्मकता का अर्थ है हृदय की 'मुक्ति दशा', न कि 'आनन्द'। कुछ दशाओं में सुख और दुःख दोनों हृदय को मुक्तिदशा में ले जा सकते हैं अतः दोनों ही रसात्मक होते हैं। सुख और दुःख दोनों के रसात्मक होने का अर्थ ही है रस का सुखात्मक और दुःखात्मक होना। 'आनन्द' शब्द के साधारणतया प्रचलित अर्थ में शुक्ल जी रस को अनिवार्यतः आनन्द स्वरूप नहीं मानते, यह सच है, किन्तु वे उसके अर्थ को हृदय की मुक्ति दशा में परिणत कर उसे स्वीकार करने के लिये तैयार से हैं। उनका कहना है कि "आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।[५४] इस प्रकार 'आनंद' शब्द के अर्थ को रसात्मकता की अपनी धारणा के अनुसार परिवर्तित कर प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य रसास्वाद की आनंद-स्वरूपता को वे स्वीकार सा कर लेते हैं, किन्तु आनंद को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल और सामान्य अर्थ में ग्रहण करने पर वे रसस्वाद को कदापि आनंद स्वरूप मानने को तैयार नहीं।

प्राचीन आचार्यों ने 'आनंद' को सामान्यतः सुख के ही अर्थ में ग्रहण किया है। धनिक, धनंजय, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी रसों को नितान्त सुख रूप मानते हैं। इन्होंने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। विश्वनाथ ने इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपिस्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥[५५]

आचार्य शुक्ल का मत इसके सर्वथा विपरीत है । स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि "करुण रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि 'आनंद में भी तो आँसू आते हैं' केवल बात टालना है । दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं ।"[५६]

स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ करुण रस के आस्वाद को सुखात्मक मानते हैं, किन्तु आचार्य शुक्ल दुःखात्मक । अतः दोनों की रसास्वाद संबंधी धारणाएँ निश्चय ही भिन्न हैं—एक नहीं । अतः विचारणीय यह है कि इनमें से कौन-सी धारणा वैज्ञानिक है ?

आचार्य शुक्ल की रसास्वाद सम्बन्धी धारणा जैन आचार्य द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत से मेल खाती है । इन आचार्यों का मत है—'सुखदुःखात्मकोरसः' अर्थात् रस सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं ।'[५७] इनके अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत सुख प्रधान रस हैं और करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं ।[५८] । सारांश यह है कि जैन आचार्यों ने यह स्वीकार नहीं किया कि सभी रस सुखात्मक होते हैं ।

वस्तुतः बहुमत और अल्पमत के आधार पर किसी सिद्धान्त की वास्तविकता या सत्यत्व का निर्णय नहीं किया जाना चाहिये, अपितु यथार्थ की पृष्ठभूमि ही उसके निर्णय का एकमात्र निकष है । यदि बहुमत को वैज्ञानिकता की कसौटी माना जाता है, तो निश्चय ही निर्णय आनन्दवादियों के पक्ष में जायगा । संस्कृत के आचार्यों की भाँति आधुनिक आलोचकों में भी अधिकांश आनन्दवाद के ही उपासक हैं । हिन्दी के आलोचकों में आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० श्याम सुन्दरदास, डॉ० गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि सभी प्रख्यात आलोचक रस को आनन्द स्वरूप ही मानते हैं । यही दशा मराठी और बँगला के आलोचकों की भी है । अतः अल्पमत के कारण आचार्य शुक्ल और जैन आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र का मत नितान्त अवैज्ञानिक कहा जायगा । किन्तु गम्भीरता और सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर निश्चय ही इन्हीं आचार्यों का पक्ष वैज्ञानिक और तर्क सम्मत प्रतीत होता है ।

वस्तुतः रसास्वाद के स्वरूप का निर्णय स्थायी भावों के स्वरूप के आधार पर किया जाना चाहिये । कारण यह है कि स्थायी भाव ही रस के आधार होते हैं, उन्हीं के आधार पर रस-भेद का निर्णय किया जाता है । यदि कुछ स्थायी भाव सुखात्मक और कुछ दुःखात्मक होते हैं तो निश्चय ही उन पर आधारित रस भी अपने-अपने स्थायी भाव के अनुरूप सुखात्मक या दुःखात्मक होंगे । राग या रति, हास, उत्साह,

विस्मय आदि स्थायी भाव सुखात्मक होते हैं और क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा आदि स्थायी भाव दु:खात्मक होते हैं, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। अतः क्रमशः राग, हास, उत्साह और विस्मय स्थायी भावों पर आधारित शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत रस सुखात्मक होंगे और क्रोध, शोक, भय और जुगुप्सा स्थायी भावों पर आधारित रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रस दुःखात्मक होंगे। दो भिन्न वर्गों के स्थायी भावों पर आधारित दोनों वर्गों के रसों के आस्वादन निश्चय ही भिन्न रूप के होंगे, समान रूप के नहीं। यही नहीं, एक ही वर्ग के प्रत्येक रस के आस्वाद में भी उसी वर्ग के अन्य रसों के आस्वादों से भिन्नता होती है। यदि भिन्नता न होती तो भेद ही क्यों किया जाता ? सभी रसों को आस्वाद की दृष्टि से आनन्दस्वरूप मानने का कोई मनोविज्ञान सम्मत आधार नहीं दिखता। इसके विपरीत रसों के आस्वाद को सुखात्मक और दुःखात्मक दो कोटियों का मानना ही मनोविज्ञान सम्मत प्रतीत होता है। डॉ० नगेन्द्र ने अति विस्तार के साथ रसास्वाद की आनन्दस्वरूपता का प्रबल प्रतिपादन अपने ग्रंथ 'रस सिद्धान्त' में किया है। उन्होंने आचार्य शुक्ल के भी मन्तव्य का आलोचनात्मक उल्लेख किया है।

शुक्ल जी के मन्तव्य को उन्होंने आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से पृथक् किया है और उसे निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—'रस न सुखात्मक है और न दुःखात्मक —रसदशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है जिसमें वैयक्तिक रागद्वेष और उनके परिणामी सुख दुःख सर्वथा निश्शेष हो जाते हैं : रस की अनुभूति चित्त के वैशद्य की एक प्रकार से शांति की अनुभूति है।'[५९]

इस प्रस्तुतीकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शुक्ल जी की धारणा का कुछ अंश अवश्य सम्मिलित है, किन्तु इसमें कुछ बातें उनके मत के बिल्कुल विपरीत डॉ० नगेन्द्र ने अपनी ओर से जोड़ दी हैं। यह सही है कि शुक्ल जी के मतानुसार 'रसदशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है जिसमें वैयक्तिक राग-द्वेष निश्शेष हो जाते हैं', किन्तु यह कहना कि 'उनके परिणामी सुख दुःख भी सर्वथा निश्शेष हो जाते हैं और 'रस न सुखात्मक है और न दु:खात्मक' शुक्लजी के मत के सर्वथा विपरीत है। इसके अतिरिक्त अंतिम वाक्य भी पूरी तौर पर डॉ० नगेन्द्र द्वारा अपनी ओर से ही जोड़ा गया है। उसे भी पृथक् कर देना चाहिए। शुक्ल जी ने तो जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है करुण रस प्रधान नाटक के अवलोकन के प्रसंग में स्पष्ट शब्दों में लिखा है : 'दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्तिदशा में होने के कारण यह दुःख भी रसात्मक होता है।'[६०] दूसरे वाक्य पर थोड़ा सा भी ध्यान देने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि शुक्ल जी नेयहाँ हृदय की मुक्तिदशा में भी दुःख की स्थिति मानी है, किन्तु हृदय की मुक्ति दशा में ही होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है। अतः यह कहना कि शुक्ल जी की दृष्टि में 'रस न सुखात्मक है और न दुःखात्मक' और हृदय की मुक्तावस्था में उसके (वैयक्तिक राग द्वेष के) परिणामी सुख-दुःख भी निश्शेष हो जाते हैं' वस्तुतः शुक्ल जी के मुँह में अपनी मनचाही बात बलात् उगल देना

है। वास्तविकता यह है, जैसा कि पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आचार्य शुक्ल का मत जैन आचार्य द्वय रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत के पूर्णतया अनुरूप है, उससे पृथक् और विपरीत नहीं।

डॉ० नगेन्द्र ने जैन आचार्यों के मत को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है 'रस सुखात्मक भी है और दुःखात्मक—अर्थात् प्रीतिकर स्थायी भावों पर आश्रित शृंगार, वीर, शान्त आदि का स्वरूप सुखात्मक और अप्रीतिकर स्थायी भावों पर आश्रित करुण, भयानक, बीभत्स आदि का स्वरूप दुःखात्मक होता है।'[६१]

कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल का भी मत तत्वतः यही है। दोनों ही आचार्यों के मतानुसार रस सुखात्मक भी है और दुःखात्मक भी, अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी रसदशा को हृदय की मुक्तावस्था की संज्ञा दे दी है, किन्तु जैन आचार्यों ने ऐसा नहीं किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी की 'हृदय की मुक्तावस्था' वाली स्थापना को अरस्तू के विरेचन सिद्धांत से प्रभावित[६२] और डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स के 'अन्तःवृत्तियों की समाहित'[६३] सिद्धांत के अनुरूप बताते हुए कहा है कि 'इन दोनों आचार्यों (आचार्य शुक्ल और डॉ० रिचर्ड्स) द्वारा निर्दिष्ट मनःस्थितियाँ—'हृदय की मुक्तावस्था' और 'अन्तःवृत्तियों की समाहिति' निरानन्द नहीं मानी जा सकतीं : प्रत्यक्ष अनुभव इसका प्रमाण है।'[६४]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी ने 'आनन्द' शब्द को व्यक्ति सुख के स्थूल अर्थ से मुक्त कर हृदय की 'मुक्तावस्था' के अनुरूप उसका अर्थ कर उसे स्वीकार किया है और डॉ० नगेन्द्र ने 'हृदय की मुक्तावस्था' को ही आनन्द स्वरूप सिद्ध करने का प्रयास किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'हृदय की मुक्तावस्था का स्वरूप क्या है? क्या वह आनन्द दशा है? 'हृदय की मुक्तावस्था को शुक्ल जी ने आनन्द दशा नहीं कहा है। उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से पृथक् होकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाना ही मुक्त हृदय होना है।'[६५] अतः हृदय की मुक्तावस्था का तात्पर्य अनुभूति से हृदय का परे होना नहीं, अपितु वैयक्तिक योग-क्षेम हानि-लाभ और सुख-दुःख से परे होकर लोक मात्र के योग-क्षेम हानि-लाभ और सुख-दुःख की अनुभूति करना ही है। स्पष्ट है कि हृदय की इस मुक्तावस्था में भी लोकमात्र की सुख-दुःखात्मक दोनों ही अनुभूतियाँ अन्तर्हित हैं न कि केवल सुखात्मक अनुभूतियाँ। अतः हृदय की मुक्तावस्था आनन्ददशा का पर्याय नहीं मानी जा सकती है। हृदय की मुक्तावस्था के सुख-दुःखात्मक होने के आधार पर निष्कर्ष यही निकलता है कि रस सुखात्मक भी होते हैं, और दुःखात्मक भी, अनिवार्यतया आनन्द रूप नहीं।

डॉ० नगेन्द्र यह मानने को तैयार नहीं कि करुण, भयानक आदि काव्य प्रसंगों का आस्वाद उनके आधारभूत स्थायी भावों के अनुरूप दुःखमय ही होता है। उन्होंने इसके विरुद्ध कुछ व्यावहारिक शंकाएँ उठायी हैं। उनका कथन है कि 'दुःख का अनुभव

करने के लिए बुद्धिमान व्यक्ति काव्य का मनन या नाटक का प्रेक्षण क्यों करेगा।'[६६]

सूक्ष्मतापूर्वक देखने से डॉ० नगेन्द्र के तर्क का यह सार तत्त्व प्रकट होता है कि बुद्धिमान व्यक्ति सुख का अनुभव करने के लिए काव्य का मनन या नाटक का प्रेक्षण करता है अतः उसका अनुभव निश्चय ही सुखात्मक होता है। वस्तुतः डॉ० नगेन्द्र ने सीधे यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं की कि 'करुण आदि रसों का भी अनुभव दुःखमय नहीं, सुखमय होता है, अपितु पाठक या दर्शक के उद्देश्य को बीच में लाकर उन्होंने समस्या को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश की है। पहले तो काव्य नाट्य के पाठक या दर्शक का उद्देश्य सुख या दुःख का अनुभव करना नहीं, अपितु जीवनगत सुख-दुःख के अनुभवों का अनुभव प्राप्त करना ही मानना होगा। यह अनुभवों का अनुभव स्वभावतः ही सुखात्मक भी होगा और दुःखात्मक भी। जब पाठक या दर्शक सहानुभूति योग्य पात्रगत दुःख के अनुभव का अनुभव करेगा तो उसका भी अनुभव दुःखात्मक ही होगा, सुखात्मक नहीं।

अभिनवगुप्त आदि प्राचीन आचार्यों ने रस को अलौकिक[६७] माना है। शुक्ल जी रस की अलौकिकता स्वीकार नहीं करते।[६८] उनकी दृष्टि में रस लौकिक है, अलौकिक नहीं। प्रत्यक्ष जीवन में उन्होंने रसात्मक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार की है, इसे पहले ही दिखाया जा चुका है। रसात्मक अनुभूति को वे प्रत्यक्षानुभूति या वास्तविक अनुभूति से भिन्न नहीं मानते। उन्होंने लिखा है कि रसानुभूति को 'लोकोत्तर जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव में वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं।'[६९] उनका कथन है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।'[७०] उनकी धारणा है कि रस को अलौकिक कह देने से उनके बारे में कुछ भी कहना न कहना बराबर हो जाता है।[७१] उनका मत है कि यदि उसे अलौकिक कहा भी जा सकता है तो केवल हृदय की मुक्तावस्था अर्थात् वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्ति के अर्थ में, जिसे पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and Detachment) कहते हैं, किसी इस लोक से असम्बद्ध स्वर्गीय विभूति के अर्थ में नहीं।'[७२]

प्राचीन आचार्यों ने रस को आत्मरूप माना है, किन्तु मनोविज्ञान के गम्भीर प्रभाव के कारण शुक्ल जी ने उसे मनोमयकोश का ही माना है, आत्मरूप नहीं।[७३] अलौकिकत्व और आत्मरूपत्व की ही भाँति रस का ब्रह्मास्वाद सहोदरत्व भी उन्हें स्वीकार नहीं है।[७४] किन्तु सत्वोद्रेक से रस का सम्बन्ध उन्हें प्राचीन आचार्यों की ही भाँति मान्य है।[७५] एक स्थान पर उन्होंने लिखा है 'रसानुभूति के समय प्रकृति सत्त्वस्थ रहती है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।'[७६]

रस के अखण्डत्व का तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन भी किया है। उन्होंने दध्यादिन्याय, प्रपानकरसन्याय का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है कि सभी अवयवों से संयोग होने पर इसका ज्ञान उस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से भिन्न है—जिसमें

भिन्न-भिन्न विषय या अवयव अपना पृथक्-पृथक् रूपबोध कराते हैं, अपितु प्रपानक रस की भाँति उनकी अपृथक्रूपेण एक रसानुभूति या अखण्ड अनुभूति होती है ।[७७]

**रस-निष्पत्ति**

रस निष्पत्ति के विवेचन का मूलाधार है आचार्य भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र— विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[७८] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (भावों) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'रसमीमांसा' में पृष्ठ १६४ पर प्रसंगवश उद्धृत किया है और सिद्ध किया है कि 'किसी भाव की 'विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से व्यंजना' ही श्रोता या दर्शक में उस भाव का अनुभव नहीं करा सकती अर्थात् पूर्णरस की निष्पत्ति नहीं कर सकती। तीनों संयोजकों द्वारा लज्जा की व्यंजना देखने से श्रोता या दर्शक के मन के सामने लज्जा का पूर्ण स्वरूप भर खड़ा होगा, हृदय में लज्जा का अनुभव न उत्पन्न होगा।'[७९] उनकी स्थापना है कि स्थायी या प्रधान भाव ही रस की अवस्था तक पहुँच सकते हैं, अन्य भाव नहीं। अतः स्थायी भाव की ही व्यंजना से पूर्ण रस की निष्पत्ति होती है और हो सकती है, अन्य किसी भी लज्जा आदि भाव की व्यंजना विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से विधिवत् की जाने पर भी रस की अवस्था तक नहीं पहुँच सकती या पूर्ण रस की निष्पत्ति नहीं कर सकती।[८०]

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने शुक्ल जी की प्रस्तुत धारणा को शास्त्रीय मान्यता से विलक्षण और भिन्न बताया है।[८१] किन्तु सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से पता चलता है कि शुक्ल जी की धारणा शास्त्रीय मान्यता का ही युक्ति युक्त रूप से प्रतिपादन करती है और पूर्णतः उसी के अनुरूप है, विलक्षण व भिन्न नहीं।

यद्यपि आचार्य भरत के 'रस सूत्र' में 'स्थायी भाव' का शब्दशः उल्लेख नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या से और उनके परवर्ती समस्त आचार्यों की व्याख्याओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। आचार्य भरत ने 'निष्पत्ति' की व्याख्या करते हुए लिखा है :

"यथाहि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनौरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नाना भावोपगताअपिस्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।'[८२]

अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) रस को प्राप्त होते हैं। उसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—'यथाहि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोवेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।'[८३]

अर्थात् जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

इस दृष्टान्त के अनुसार स्थायी भाव अन्न ठहरता है : विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी द्रव्य, व्यंजन, औषधि आदि और नाट्यरस भोज्य रस ठहरता है। इससे स्पष्ट है कि भोज्य रस में जितनी महत्ता अन्न की है, नाट्यरस ने उतनी ही महत्ता 'स्थायी भाव' की है। जैसे अन्न भोज्यरस का आधार है, वैसे ही स्थायी भाव नाट्यरस का आधार है। अतः बिना अन्न और स्थायी भाव के भोज्यरस और नाट्यरस की व्यंजना सम्भव नहीं। अन्न ही विविध व्यंजनों से संस्कृत होकर भोज्यरस बन जाता है और स्थायी भाव ही विविध भावों से संयुक्त होकर रस बन जाता है।

स्पष्ट है कि आचार्य भरत ने 'विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव की ही व्यंजना को रस की निष्पत्ति माना है। उन्होंने यह नहीं स्वीकार किया है कि विभावादि के संयोग से चाहे किसी संचारी की ही व्यंजना की जाए, उससे रस की निष्पत्ति होगी। आचार्य भरत के परवर्ती आचार्य लोल्लट, भट्टनायक, शंकुक एवं अभिनव आदि सभी आचार्यों ने विभावादि के संयोग से स्थायी भावों की ही व्यंजना से रस-निष्पत्ति मानी है। अतः यह कहना कि शुक्ल जी का मत शास्त्रीय मान्यता से विलक्षण और भिन्न है, सहजानुभूति जनित भ्रांति है।

शास्त्रीय मत और आचार्य शुक्ल के मत में वस्तुतः कोई भी अन्तर नहीं है, अन्तर केवल मतों की स्थापना पद्धति में है। प्राचीन आचार्यों ने मात्र इतना ही कहा है कि विभावादि के संयोग से स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं, किन्तु शुक्ल जी ने इतना कहने के साथ ही साथ यह भी स्पष्टतः कह दिया है कि विभावादि के संयोग से भी लज्जादि संचारी भावों की व्यंजना पूर्ण रस की निष्पत्ति नहीं कर सकती।

विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से यदि प्रधान या स्थायीभावों की व्यंजना की जाती है, तो शुक्ल जी साधारणतः उससे पूर्ण रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है—'विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा रस-व्यंजना होती है यह तो प्रसिद्ध ही है। इनमें से संचारी को छोड़ दें तो वह भाव-व्यंजना होगी।'[८४] इस उद्धरण के विश्लेषण से निम्न निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं—

(१) विभाव, अनुभाव और संचारी तीनों के संयोग से रस की व्यंजना होती है, किन्तु

(२) इनमें से संचारी को छोड़ देने पर मात्र विभाव और अनुभाव के संयोग से भाव की ही व्यंजना होती है, रस की व्यंजना नहीं।

इससे सिद्ध होता है कि शुक्ल जी रस-व्यंजना के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी तीनों का संयोग आवश्यक मानते हैं।

भरत के परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सूत्र की व्याख्याएँ की हैं और निष्पत्ति के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। आचार्य भट्ट लोल्लट के मतानुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'उत्पत्ति'।[८५] रस की उत्पत्ति मानने से ही उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहा जाता है[८६]। आचार्य शंकुक के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुमिति'[८७] इसी से इनका मत 'अनुमितिवाद'[८८] कहा जाता है। आचार्य भट्टनायक के अनुसार 'निष्पत्ति का अर्थ है 'भुक्ति',[८९] इनका मत 'भुक्तिवाद'[९०] कहलाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अभिव्यक्ति'[९१] इनका मत 'अभिव्यक्तिवाद'[९२] कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि शुक्ल जी निष्पत्ति का क्या अर्थ ग्रहण करते हैं ?

'रसमीमांसा' के परिशिष्ट में प्रस्तुत 'रस-निर्णय' वाली टिप्पणी से यह असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि शुक्ल जी 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' ग्रहण करते हैं। उनका कथन है कि 'विभाव अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन द्वारा भाव की अनुभूति श्रोता या दर्शक के हृदय में रस रूप में उत्पन्न होती है। रस विभाव-अनुभाव के संयोग से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार दूध और मट्ठा या जमावन के मिश्रण से दही उत्पन्न होता है (दध्यादि न्याय)।'[९३]

शब्द-शक्ति सम्बन्धी विवेचन के बीच भी प्रसंगवश उन्होंने लिखा है—'वस्तुतः रस उत्पन्न होता है, ज्ञात नहीं कराया जाता।'[९४] ध्यातव्य है कि अलंकार-शास्त्रियों ने रस को कार्य नहीं माना है, जो उत्पन्न किया जा सके।[९५] शुक्ल जी के मतानुसार रस वस्तुतः कार्य है, उसके कार्यत्व के सम्बन्ध में जो आपत्ति उठायी गई है वह आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है।[९६] आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार ज्ञान (कागनिशन) और अनुभूति (फीलिंग) दोनों की युगपत् अनुभूति हो सकती है। क्योंकि दोनों विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ हैं।[९७] शुक्ल जी का कथन है कि आलंकारिकों में ज्ञान और अनुभूति विषयक पारस्परिक विवेक का अभाव था, इसीलिए उन्हें रस का कार्यत्व स्वीकार न था।[९८] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी रस को कार्य या उत्पाद्य मानकर उसकी 'उत्पत्ति' स्वीकार करते हैं। प्राचीन आचार्यों के मतों की अनुरूपता में हम इसे 'आचार्य शुक्ल का उत्पत्तिवाद' कह सकते हैं। यहीं पर, प्रस्तुत उत्पत्तिवाद के अन्तर्गत 'संयोग' के नाना रूपों का भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

शुक्ल जी की दृष्टि में संयोग का तात्पर्य है—विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का स्थायी भाव से संयोग—यही संयोग रसोत्पत्ति का कारण है या रसोत्पादक है। अतः संयोग का अर्थ हुआ 'उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध'—रस उत्पाद्य है और विभावादि का स्थायी भाव से संयोग उत्पादक। अब देखना यह है कि विभावादि का क्रमशः स्थायी भाव से क्या सम्बन्ध है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में (स्थायी) भाव व्यंग्य होता है[९९] और विभाव भाव को जगाने और जमाने वाला होता है, यह जगाना और जमाना ही एक प्रकार से विभाव का व्यंजकत्व व्यापार है अतः क्रिया या संयोग की दृष्टि से स्थायी भाव के साथ विभाव का व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। मनोवैज्ञानिक

दृष्टि से भाव के साथ अनुभाव का सम्बन्ध शुक्ल जी अंगांगि सम्बन्ध मानते हैं,[१००] किन्तु उन्होंने यह भी बताया है अनुभाव भाव के कार्य होने के कारण उसके सूचक होते हैं[१०१] अतः इस दृष्टि से स्थायीभाव के साथ अनुभाव का सूच्य सूचक-भाव-सम्बन्ध हुआ। अब शेष रहा स्थायी भाव के साथ संचारी भाव का सम्बन्ध। काल-क्रम की दृष्टि से शुक्ल जी के मतानुसार संचारी स्थायी का परवर्ती होता है।[१०२] वे उनमें अंगांगिभाव सम्बन्ध मानते हैं,[१०३] कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं, किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि संचारी भाव स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं[१०४] अतः इस दृष्टि से स्थायी भाव के साथ संचारी भाव का पोष्य-पोषक-भाव-सम्बन्ध सिद्ध होता है।

उपर्युक्त सम्बन्ध व्यवस्था के आधार पर हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी के मतानुसार विभावों द्वारा व्यक्त, अनुभावों द्वारा प्रतीयमान अथवा सूचित और संचारीभावों द्वारा परिपुष्ट स्थायी भाव के दर्शन से श्रोता या दर्शक के हृदय में रस की उत्पत्ति होती है। ध्यातव्य है कि शुक्ल जी रस की स्थिति सहृदयों के हृदय में ही स्वीकार करते हैं।[१०५]

कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल का उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद से तो भिन्न हैं ही, वह भट्ट लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' से भी भिन्न है। किन्तु भिन्न होते हुए भी वह उसके सर्वाधिक निकट है।

श्री शिवनाथ जी ने भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' से आचार्य शुक्ल के मत को सम्बद्ध किया है,[१०६] किन्तु यह उचित नहीं कहा जा सकता। भट्टनायक ने भुक्तिवाद की स्थापना करने के लिए शब्द में स्वीकृत अभिधा और लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नये व्यापारों की कल्पना की है। उनके अनुसार शब्द का 'भावकत्व' व्यापार काव्यार्थ का साधारणीकरण करता है और काव्यार्थ के इस व्यापार द्वारा साधारणीकृत हो जाने पर शब्द का 'भोजकत्व' नामक व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है।[१०७] यही भट्टनायक का भोजकत्व सिद्धान्त है जो भुक्तिवाद कहलाता है। आचार्य शुक्ल ने इन व्यापारों की कल्पना नहीं की है और न 'भुक्तिवाद' की स्थापना ही की है। अतः उनके मत को इससे सम्बद्ध करना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता।

अनुमितिवाद का तो शुक्ल जी ने स्पष्ट खण्डन किया है। शंकुक की ही भाँति महिम भट्ट ने भी रस को अनुमान सिद्ध माना है। शुक्ल जी ने महिमभट्ट का ही नामोल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि 'निदान, भाव की स्थिति का ज्ञान अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा होता है—इस सिद्धान्त से रस अनुमेय सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि केवल भाव की सत्ता के ज्ञान से रस सर्वथा पृथक् होता है।'[१०८] भाव-ज्ञान और रस के पार्थक्य का शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण मनोविज्ञान सम्मत 'ज्ञान' (कागनिशन) और अनुभूति (फीलिंग) के पार्थक्य पर आधारित होने के कारण युक्ति-युक्त है।

रस को अनुमेय मान लेने पर निष्पत्ति का अर्थ होता है अनुमिति और संयोग

का अर्थ हुआ अनुमेय अनुमापक सम्बन्ध, यह शुक्ल जी को स्वीकार नहीं है।

अभिनव गुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' भी उन्हें मान्य नहीं। अभिव्यक्तिवाद के अनुसार-रस 'व्यंग्य' होता है, निष्पत्ति का अर्थ होता है 'अभिव्यक्ति' और संयोग का अर्थ होता है 'व्यंग्य-व्यंजक' सम्बन्ध।[१०९] इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने निर्भ्रान्त शब्दों में लिखा है - 'रस व्यंग्य होता है यह कथन कुछ भ्रामक अवश्य है। इससे यह भ्रम होता है कि जिस भाव की व्यंजना होती है, वही भाव रस है।'[११०] इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में 'भाव' व्यंग्य होता है, रस नहीं और रस व्यंग्य भाव से भिन्न होता है। अतः 'रस व्यंग्य होता है' यह कथन उनके मतानुसार भ्रामक है।

अन्यत्र 'व्यंजना' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'व्यंजना का शाब्दिक अर्थ है—प्रकट करना (प्रकाशन)। 'प्रकाशन' शब्द का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु का प्रकाशन होने वाला है, उसकी सत्ता पहले से ही है, किन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता नहीं होती।'[१११]

इस कथन का सारतत्त्व यह है कि अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता के न होने से उसे व्यंग्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यंग्य वही वस्तु या पदार्थ हो सकता है, जिसकी सत्ता व्यंजना के पूर्व सिद्ध हो। ध्यातव्य है कि साहित्य दर्पणकार ने भी प्रतीति-काल में ही रस की सत्ता मानी है आगे पीछे नहीं—'ननु दीपेन घट इव पूर्व सिद्धो व्यज्यते।'[११२]

## असम्बद्ध भावों का रसवत् ग्रहण

विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति शुक्ल जी स्वीकार करते ही हैं, साथ ही साथ प्राचीन आचार्यों की ही भाँति प्रधान या संचारी भाव के असम्बद्ध रूप में भी आने पर वे उसका रसवत् ग्रहण स्वीकार करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि 'इस असम्बद्ध रूप में भाव पूर्ण रस पर्यन्त पुष्ट चाहे न माने जायँ पर उनका ग्रहण रस के समान ही होता है, क्योंकि श्रोता या दर्शक के हृदय में उनके द्वारा किसी न किसी प्रकार का भाव-संचार अवश्य होता है।'[११३]

भावोदय,[११४] भावशांति,[११५] भाव-संधि[११६] और भाव-शबलता[११७] का उल्लेख उन्होंने इसी रूप में रस-मीमांसा में किया है।

## साधारणीकरण

आचार्य शुक्ल ने अपनी कृति चिन्तामणि, भाग १, के 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध और 'रस-मीमांसा' में साधारणीकरण का विवेचन किया है। उनके इस विवेचन का सैद्धान्तिक महत्त्व तो है ही, पर साथ ही साथ इसका एक विशिष्ट ऐतिहासिक मूल्य भी है। कारण यह कि उन्होंने इस सिद्धांत का विवेचन एक ऐसे युग में किया जिसमें गम्भीर सैद्धांतिक विवेचन की परम्परा शताब्दियों से अवरुद्ध थी। डॉ० नगेन्द्र ने ठीक लिखा है कि पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय

विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग-काव्य शास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कवि-शिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदितात्त्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण न था। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरांत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद' में सहसा इसका पुनरुद्धार किया।'[११८] इस प्रकार आचार्य शुक्ल साधारणीकरण सिद्धांत के पुनरुद्धार कर्ता ठहरते हैं। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है, यहाँ यह कहना भी अपेक्षित है कि उनके साधारणीकरण के इस विवेचन से भारतीय काव्यशास्त्र का गम्भीर चिंतन धारा का शताब्दियों पुराना अवरोध का बांध टूट गया—फलस्वरूप वह गहनधारा हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा के समतल में अवतरित होकर अविरलरूप से प्रवाहित होने लगी और आज भी प्रवाहित हो रही है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित प्रश्न प्रमुख रूप से उभर कर सामने आते हैं—

(१) यह कि साधारणीकरण व्यापार का स्वरूप क्या है ?

(२) यह कि साधारणीकरण होता किसका है ?

(३) यह कि साधारणीकृत पदार्थों की प्रतीति किस रूप में होती है ?

(४) यह कि पदार्थों का जो साधारणीकरण होता है वह किसकी विशेषता है —काव्य की, या हृदय की यह दोनों की ?

(५) यह कि साधारणीकरण व्यापार की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ?

विचार प्रारम्भ करने पर अन्तिम प्रश्न आद्य प्रश्न बनकर उपस्थित होता है। साधारणीकरण की आवश्यकता सामाजिकों में रसनिष्पत्ति की अबाध व्यवस्था के लिए पड़ी। साधारणीकरण का सीधा संबंध सामाजिकों की रस-निष्पत्ति से है, वस्तुतः वह (साधारणीकरण) सामाजिकों के लिए है ही, उसकी सारी उपयोगिता उन्हीं के लिए है। सामाजिकों को रसनिष्पत्ति होती है—यह निश्चित है, किन्तु यह कैसे होती है ? यह एक प्रबल समस्या है ? इसी समस्या के समाधान के निमित्त 'साधारणीकरण' का जन्म होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने ग्यारह[११९] मतों का उल्लेख किया है। उन्होंने समन्वयपूर्वक यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि उन ग्यारह मतों में से आठ का समन्वय तो कथंचित् भरतसूत्र से हो जाता है, किन्तु शेष तीन मतों का भरत सूत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे यह स्वतः सिद्ध है कि रस-स्वरूप सम्बन्धी कुछ ऐसे मत भी थे, जो भरत-सूत्र पर आधारित नहीं थे। इन मतों में से साधारणीकरण का सम्बन्ध मात्र उन्हीं से हो सकता है जो रस का सम्बन्ध प्रमुख रूप से सामाजिकों से मानते हैं। जो रस को अनुकार्य तथा अनुकर्ता तक ही सीमित रखते हैं, उनके लिए साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं। यदि यह माना जाय कि काव्य या नाटक से सामाजिक की दृष्टि पटल के समक्ष उप-

स्थित होने वाले पदार्थ, सामाजिक को रससिक्त नहीं करते, वे मात्र अनुकार्य या अनुकर्ता को ही रससिक्त करते हैं, तो यह बात वस्तुस्थिति के विपरीत लगती है, क्योंकि इससे तो सामाजिक के लिए नाट्य अथवा काव्य की उपयोगिता ही नहीं रह जाती, फिर क्योंकर कोई नाटक देखने जाता ही है। अतः यह निश्चित है कि सामाजिक को रसानुभूति होती है अर्थात् काव्य या नाटक से सामाजिक की दृष्टि-पटल के समक्ष उपस्थित होने वाले पदार्थ उसे रससिक्त करते हैं, यह असंदिग्ध है, किन्तु वे "सीधे सामाजिक को रस-सिक्त करते हों, उसी की सुप्तवासना को आंदोलित (या उद्बुद्ध) करते हों, यह सम्भव ही नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य द्वारा अभिधा से प्रथम-प्रथम बुद्धिपटल के समक्ष उपस्थित पदार्थ किसी देश-विशेष, काल-विशेष एवं व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध होते हैं—अतः सामाजिक से असम्बद्ध होने के कारण उसकी रत्यादिमयी वासना को उद्बुद्ध कर सकें—यह सर्वथा असम्भव है। सामाजिक 'सभ्य' भी कहे जाते हैं—।"[१२०] ऐसी स्थिति में सामाजिक को रसानुभूति क्यों और कैसे सम्भव होती है, यह एक समस्या है और साधारणीकरण है इसी समस्या का समाधान।

आचार्य शुक्ल ने स्वतंत्र रूप से साधारणीकरण की आवश्यकता की पृष्ठभूमि का निर्देश यद्यपि नहीं किया है, तथापि उसकी स्पष्ट झलक उनके साधारणीकरण के स्वरूप विवेचन में अंतर्हित है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनका मत है कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।'[१२१] सरलीकृत रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य में भाव के विषय का इस रूप में लाया जाना कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके—साधारणीकरण कहलाता है।

यहाँ 'सब के उसी भाव का आलम्बन' हो सकने की बात से यह सुस्पष्ट है कि शुक्ल जी रस-निष्पत्ति को अनुकार्य और अनुकर्ता तक ही सीमित न रख उसे सामाजिकों तक लाना आवश्यक मानते हैं। सच तो यह है कि वे इसे ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। उनके उक्त कथन के अनुसार सामाजिक-गम्यता ही पूर्ण रसोद्बोधन अथवा रसात्मकता की और इसी कारण साधारणीकरण की भी एकमात्र कसौटी है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में साधारणीकरण का सम्बन्ध सामाजिकों में रस-निष्पत्ति से ही है।

इसके अतिरिक्त उनका उक्त कथन साधारणीकरण के स्वरूप का प्रकाशन करता ही है। उनकी दृष्टि में साधारणीकृत होने के लिए 'आलम्बन' में लोकधर्म की प्रतिष्ठा अनिवार्य होती है। बिना लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के कोई भी आलम्बन लोक का आलंबन नहीं बन सकता। अतः साधारणीकरण में, शुक्ल जी की दृष्टि में केन्द्रीय वस्तु है 'आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप'।

प्रसंगवश आगे चलकर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काव्य का विषय

सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं[१२२] और यह अभिमत प्रकट किया है कि आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर इस सिद्धांत से भारतीय काव्य की विचार-परम्परा में प्रतिपादित 'साधारणीकरण' का कोई विरोध नहीं ।[१२३] ऊपरी दृष्टि से विरोध की प्रतीति सम्भव है, क्योंकि साधारणीकरण का 'साधारण्य' और 'सामान्य' शब्दतः भिन्न होते हुए भी पर्याय हैं । अतः एक ओर यह कहना कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, सामान्य नहीं और दूसरी ओर यह कहना कि काव्य का विषय साधारणीकृत होता है—साधारणतया असंगत प्रतीत होता है । किंतु यह तभी संभव है जब साधारणीकृत का अर्थ विशेष या व्यक्ति के स्थान पर सामान्य या जाति की स्थापना हो, किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है । शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि—'विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलंबन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति-मात्र या वस्तुमात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं ।'[१२४] फिर साधारणीकरण का क्या तात्पर्य है ? शुक्ल जी के ही शब्दों में 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है ।'[१२५] अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट और सरल शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता है कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का ।''[१२६] इससे स्पष्ट है कि साधारणीकरण का उपर्युक्त सिद्धांत से, कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' रहता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं, कोई विरोध नहीं । शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि 'व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा बहुत होता है ।'[१२७]

व्यक्ति या वस्तु में सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा के कारण पाठकों या श्रोताओं की कल्पना में उपस्थित होने वाली मूर्ति सभी के प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो जाती है । शुक्ल जी का कथन है कि 'कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है । इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है ।'[१२८]

निष्कर्ष यह कि शुक्ल जी अन्ततः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं । आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय और आलम्बनत्व धर्म का अर्थ है, आलम्बन अर्थात् भाव के विषय में प्रतिष्ठित गुण । उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि वह पहले कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय

समाज के भाव का विषय बन जाता है। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित भाव में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।'[१२९]

साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत सारांशतः यही है। यहाँ हमने उनके मत को उन्हीं के कथनों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसका आलोचनात्मक विवेचन उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की मत-सापेक्षता में ही सम्भव है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में 'साधारणीकरण' शब्द उपलब्ध नहीं होता।[१३०] साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य भट्टनायक के विवेचन में मिलता है।'[१३१] 'उनका मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है'[१३२] अतः उनकी धारणा का परिचय 'अभिनव-भारती', 'लोचन' और 'काव्य प्रकाश के ही आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के मतानुसार "भट्टनायक के मत की उपस्थापना करते हुए लोचनकार ने 'लोचन' में इतना ही कहा था कि काव्य की भावकता यही है कि वह अभिधोपस्थापित विशेष (देश-काल-व्यक्ति विशेष के) रूप में प्रतीत पदार्थों को साधारण रूप में उपस्थित करे। अभिनव भारती में और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि वही व्यापार 'श्रव्य' में 'दोषाभाव-गुणालंकार परिग्रहात्मक' तथा दृश्य में चतुर्विधाभिनयात्मक है। इसके द्वारा अन्तःकरण पर छाया हुआ मोह हट जाता है।'[१३३]

'काव्य प्रकाश' के टीकाकार श्री गोविन्द ठाकुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धांत को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है—

'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन।'[१३४] अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनीत्व आदि सामान्य रूपों में उपस्थिति। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।

इस व्याख्या के अनुसार (१) विभावादि अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी सभी का साधारणीकरण होता है (२) भावतकत्व और साधारणीकरण दोनों एक ही हैं।

डॉ० नगेन्द्र[१३५] ने अभिनवगुप्त की साधारणीकरण सम्बंधी धारणा को उनके उद्धरणों द्वारा निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है :

'तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।'[१३६]

अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय रूप से भासता है। उसके विशेष रूप न होने से 'यह भीत है' यह ज्ञान त्रासक (दुष्यन्त आदि) के

वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायीभाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस तथ्य को और स्पष्ट कर हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—

'तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःख सुखादिकृतबुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यम् भयानको रसः।'[१३७] इसीलिए 'मैं भीत हूँ' 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत हैं, इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीतिरूप में ग्राह्य (भय स्थायीभाव ही) भयानक रस बन जाता।

अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति।

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है—"तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् + + अतएव—सर्वसामाजिकानामेकघातयैव प्रतिपत्तिः + + + सर्वेषामानादिवासनाचित्रीकृत चेतसाम् वासनासंवादात्।'[१३८] इस प्रकार एकाग्र चित्त होने के कारण समस्त सामाजिक जन रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधा-सागर के समान प्रतीत होते हैं —'तथा ह्येताग्रसकलसामाजिकजनः खलु। नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्येत।[१३९] इन उद्धरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।[१४०]

(ख) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देश-काल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिक सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है।[१४१]

(ग) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं, वरन् सामूहिक क्रिया है, केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता, वरन् समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।[१४२]

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

काव्य प्रकाशकार ने अभिनवगुप्त की साधारणीकरण सम्बन्धी धारणा का उल्लेख

अपने शब्दों में इस प्रकार किया है :—'ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः' ''अर्थात् 'वे मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं, न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्धविशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण (अर्थात् विशेष व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित) रूप से प्रतीत होने वाले विभावादि होते हैं ।''[१४३]

भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण सम्बन्धी धारणाओं में क्या अन्तर है ? यह स्पष्ट कर लेना चाहिये । दोनों ही आचार्य मूलतः रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भावों का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं । दोनों ही आचार्यों के मतानुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक (असंलक्ष्य) क्रम रहता है, जिनके अनुसार विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी भाव का साधारणीकरण बाद में । किन्तु जहाँ आचार्य भट्टनायक के मत में विभावादि और स्थायी दोनों के साधारणीकरण का सममूल्य होने के कारण विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का संतुलन है, वहीं आचार्य अभिनव गुप्त के मत में स्थायी का साधारणीकरण अर्थात् सहृदय-चेतना की निर्मुक्ति है। अन्ततः मुख्य हो जाती है । अतः उसमें अंततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है ।

संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने प्रायः भट्टनायक और अभिनव के ही मतों की पुनरावृत्तियाँ की हैं । केवल आचार्य विश्वनाथ और जगन्नाथ के विवेचनों में थोड़ी नवीनता परिलक्षित होती है ।

भट्टनायक और अभिनव की ही भाँति विश्वनाथ ने भी विभावादि और स्थायी भाव सभी का साधारणीकरण स्वीकार किया है :

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।। (सा० द० ३।१२)
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।। (सा० द० ३।१३ का० पूर्वार्द्ध)

अर्थात् रत्यादिक स्थायी भाव भी साधारणतया प्रतीत होते हैं । रसास्वाद के समय विभावादिकों का ये (विभावादि) 'दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं—मेरे हैं अथवा मेरे नहीं' इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् संबंध विशेष प्रकार का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता है ।

किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता की अभेदावस्था या तादात्म्यावस्था को अन्य दशाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है :

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।।३.९।।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।।३.१०।।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ।।३.११।।

अर्थात् साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान आदि से अभिन्न समझने लगता है। (हनुमान आदि के साथ) साधारण्याभिमान अर्थात् अभेद-ज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ साधारणीकरण को अस्वीकृत सा कर दिया है। उन्होंने लिखा है—"यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादि शब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोष विशेष कल्पन विना दुरुपपादम्।

अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती, क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुंतला आदि के बोधक हैं, फिर कांतात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है ?[१४४]

प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन की आचार्य शुक्ल के विवेचन से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी का साधारणीकरण सम्बन्धी मत संस्कृत के सभी प्राचीन आचार्यों से भिन्न है, वह किसी के भी मत से पूर्णतः मेल नहीं खाता। पं० केशवप्रसाद मिश्र के मतानुसार शुक्ल जी का साधारणीकरण संबंधी मत अभिनवगुप्त के अद्वैत भट्टनायक के द्वैत सिद्धान्त के सन्निकट है।[१४५] यह मत उचित प्रतीत होता है, क्योंकि आचार्य शुक्ल की ही भाँति एक सीमा तक, आचार्य भट्टनायक के दृष्टिकोण में भी विषय की (आलम्बन) सत्ता की स्पष्ट स्वीकृति और नैतिकता का आधार वर्तमान है। किन्तु भट्टनायक और शुक्ल जी के साधारणीकरण सम्बन्धी मतों में कुछ स्पष्ट भेद भी है—एक तो यह कि भट्टनायक ने विभावादि रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण माना है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही। दूसरा यह कि भट्टनायक ने रसास्वाद की प्रक्रिया में निज कान्तास्मृति की सत्ता को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, किन्तु शुक्ल जी यह स्वीकार करते हैं कि 'यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।'[१४६]

यद्यपि यह सत्य है कि शुक्ल जी की साधारणीकरण सम्बन्धी धारणा आचार्य अभिनवगुप्त की अपेक्षा आचार्य भट्टनायक के सन्निकट है, किन्तु वह आचार्य भट्टनायक से भी अधिक आचार्य विश्वनाथ के सन्निकट है, क्योंकि आचार्य शुक्ल ने भी आचार्य विश्वनाथ की ही भाँति आश्रय के साथ प्रमाता की अभेदावस्था या तादात्म्यावस्था को पूर्ण साधारणीकरण माना है।

प्राचीन आचार्यों का साधारणीकरण का विवेचन एक प्रकार से अधूरा है, क्योंकि उन्होंने श्रोता या पाठक और आश्रय के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया

है, जिसमें आश्रय किसी काव्य या पाठक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता या पाठक उसी भाव का उस रूप में अनुभव करता है। उन्होंने उस अवस्था के साधारणीकरण पर विचार नहीं किया है, जिसमें काव्य में वर्णित आश्रय के साथ, उसके दुराचारी होने के कारण पाठक या श्रोता का तादात्म्य स्थापित नहीं होता, वरन् स्वयं आश्रय ही पाठक के क्रोध या घृणा आदि किसी भाव का आलम्बन बन जाता है। ऐसी अवस्था में भी साधारणीकरण का विवेचन कर आचार्य शुक्ल ने उसे पूर्णता प्रदान की है। कहा जाना चाहिए कि वे प्राचीन आचार्यों की तुलना में और अधिक गहराई में पैठे हैं। निर्विवाद रूप से साधारणीकरण के विवेचन में उनकी यह एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन है। उनके इस विवेचन को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उनकी दृष्टि में काव्य में आलम्बन की अनेक स्थितियाँ सम्भव हैं। सर्वोत्कृष्ट स्थिति तो वह है, जिसमें आलम्बन कवि द्वारा इस रूप में प्रस्तुत किया गया रहता है कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का अर्थात् आश्रय के साथ ही साथ समस्त सामाजिकों के भी उसी भाव का आलम्बन हो जाता है। यही स्थिति साधारणीकरण है, ऐसा शुक्ल जी का मत है। इस स्थिति में श्रोता या पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य रहता है। किन्तु शुक्ल जी ने लिखा है कि 'साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है, जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ। उसका भी विचार करना चाहिए।'[१४७] शुक्ल जी ने स्वयं इस अवस्था का विवेचन किया है।

उनके मतानुसार ऐसी दशा में श्रोता या पाठक की आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नहीं होती, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र (आश्रय) के शीलद्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है। अपनी बात को उन्होंने एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है, 'जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा।'[१४८] जाहिर है कि ऐसी दशा में श्रोता या पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य न होगा। आश्रय रूप पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह आश्रय पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। शुक्ल जी के अनुसार इस दशा में भी रसात्मक होती है, किन्तु यह रसात्मकता मध्यम कोटि की ही होती है। यह प्रश्न उठने पर कि क्या इस दशा में भी साधारणीकरण होता है? शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि 'इस दशा में भी एक

प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।'[१४९] यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि, हाँ ठीक है, पाठक या श्रोता का तादात्म्य काव्य वर्णित आश्रय से न सही, कवि से हो जाता है, किन्तु इसे साधारणीकरण कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ आश्रय का आलम्बन इस रूप में तो होता नहीं कि वह सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके। शुक्ल जी कह सकते हैं कि 'जी हाँ, आप ठीक कहते हैं, किन्तु इस अवस्था में भी एक प्रकार के आलम्बन का साधारणीकरण होता है। उनका कथन है कि 'जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।'[१५०] स्पष्ट है कि यहाँ भी आलम्बन का ही साधारणीकरण होता है, किन्तु यहाँ काव्य में वर्णित आश्रय रूप पात्र के आलम्बन का साधारणीकरण न होकर कवि रूप आश्रय के आलम्बन या आलम्बनों का साधारणीकरण होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक दशा में साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही होता है।

ऊपर किये गये विवेचन का निष्कर्ष यह कि परिभाषया एक होते हुए भी साधारणीकरण की दो भिन्न स्थितियाँ या कोटियाँ हो सकती हैं या होती हैं। एक स्थिति में तो पाठक या श्रोता का तादात्म्य कवि द्वारा काव्य में वर्णित आश्रय के साथ हो जाता है और आश्रय का आलम्बन पाठक या श्रोता का भी आलम्बन बन जाता है, दूसरी स्थिति में ऐसा नहीं होता, अपितु कवि के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य होता है—और कवि का आलम्बन ही पाठक या श्रोता का आलम्बन बन जाता है। प्रश्न यह उठता है कि इन दो स्थितियों में वस्तुतः अन्तर क्या है? क्या प्रथम स्थिति में कवि के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य नहीं रहता, मात्र काव्य वर्णित आश्रय के साथ ही रहता है और कवि का आलम्बन पाठक का आलम्बन नहीं बनता है?

विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि प्रथम स्थिति में तो ये बातें अनिवार्यतः विद्यमान रहती हैं। वहाँ भी वर्णित आश्रय कवि के किसी भाव का आलम्बन रहता है, *वस्तुतः तो 'आश्रय' अपने आलम्बन के प्रति कवि की कामना का ही प्रतिनिधित्व करता है* अतः आश्रय के साथ पाठक या श्रोता के तादात्म्य का अर्थ अनिवार्यतः कवि के साथ भी तादात्म्य होता है। तो फिर उपर्युक्त दोनों स्थितियों में अन्तर क्या है? यह अन्तर उस समय स्पष्ट होकर सामने आ जाता है जब इस तथ्य को कि प्रथम स्थिति में भी कवि के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य अनिवार्यतः रहता है, प्रथम स्थिति में मिलाकर हम देखते हैं। ऐसा करने पर पता चलता है कि द्वितीय स्थिति में जहाँ पाठक या श्रोता का मात्र कवि के साथ तादात्म्य होता है, काव्य में वर्णित आश्रय के साथ नहीं वहाँ प्रथम स्थिति में पाठक या श्रोता का कवि और काव्य-वर्णित आश्रय दोनों के साथ तादात्म्य हो जाता है। स्पष्ट है कि प्रथम स्थिति में कवि, आश्रय और पाठक

तीनों के चित्त सहानुभूति के स्तर पर स्थिर होते हैं तो द्वितीय स्थिति में कवि और पाठक के चित्त ही सहानुभूति करते हैं, आश्रय का चित्त उनसे मेल नहीं खाता। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साधारणीकरण की उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ या कोटियाँ उत्कर्ष की दृष्टि से समान है ? आचार्य शुक्ल ने इन्हें दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ माना है। उनके मतानुसार एक स्थिति में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है और दूसरी स्थिति में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग संभाले रहता है। अतः निश्चय ही उन दोनों को समान रूप से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। प्रथम स्थिति ही साधारणीकरण की 'उच्च' स्थिति है और द्वितीय स्थिति 'मध्यम'।

कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता साधारणीकरण की प्रक्रिया की तीन बिन्दु हैं। आचार्य भट्टतोत के मतानुसार इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी उक्त तीनों हृदयों की तादात्म्यावस्था में ही पूर्ण साधारणीकरण माना है।

ऊपर किये गये विवेचन में प्रारम्भ में उठाए गए पाँच प्रश्नों में से तीन प्रश्नों का कि साधारणीकरण व्यापार की आवश्यकता क्यों पड़ी ? साधारणीकरण व्यापार का स्वरूप क्या है ? और साधारणीकरण होता किसका है ? स्पष्ट उत्तर मिल जाता है, किन्तु साधारणीकृत पदार्थों की प्रतीति किस रूप में होती है ? और साधारणीकरण किसकी विशेषता है—काव्य की या सहृदय की या दोनों की, इन दोनों का उत्तर स्पष्ट नहीं है। अतः इन पर क्रमशः हम शुक्ल जी के विचारों को और भी स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

साधारणीकृत पदार्थ की प्रतीति के प्रश्न को हम ठोस रूप में लेते हैं। मान लिया कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् का शकुन्तला दुष्यन्त वाला शृंगार वर्णन है। यहाँ शृंगार की निष्पत्ति हो रही है। 'आलम्बन' शकुन्तला है और 'आश्रय' दुष्यन्त। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण शकुन्तला का होगा, क्योंकि वही आलम्बन है। शकुन्तला साधारणीकृत पदार्थ होगी अतः मूल और स्वाभाविक प्रश्न यह है कि उसकी अर्थात् साधारणीकृत आलम्बन रूप शकुन्तला की प्रतीति दर्शकों को किस रूप में होगी ?

आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता है कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय अलग नहीं रहता।'[१५१] कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी का प्रस्तुत मत प्राचीन आचार्यों के ही मत की पुनरावृत्ति है। इस उद्धरण के आधार पर उपर्युक्त सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकृत आलम्बनरूप शकुन्तला की प्रतीति दर्शकों को इस रूप में होगी कि उनके मन में यह भेद-भाव न रहेगा कि यह शकुन्तला

मेरी है अथवा किसी अन्य की। संस्कृत साहित्य शास्त्र में इस समस्या पर सविस्तार विचार किया गया है। साधारणीकृत पदार्थ प्रतीत किस रूप में होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सब मिलाकर तीन बातें कही गई हैं—पहली यह कि वे सामान्य (कान्तादि) रूप में प्रतीत होते हैं। दूसरी यह कि वहाँ अगम्यात्व आदि जैसे विरोधी धर्म भी विगलित हो जाते हैं। तीसरी यह कि उनकी यदि अपने से (ग्राहक से) सम्बन्ध रूप में भी प्रतीत हो, तो कोई क्षति नहीं। आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त अभिमत में ये तीनों ही बातें सारतः अन्तर्हित हैं। साधारणीकृत पदार्थ को इतर सम्बन्धों से पृथक् कर पाठक या श्रोता या ग्राहक उसे नियमतः मात्र अपना समझे–यह सम्भव नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में इतर सामाजिकों के समक्ष ग्राहक—विशेष अपनी रति का प्रकाशन कैसे करेगा ? ऐसा करने पर रसानुभूति के बदले लज्जा की ही अनुभूति होगी। इसी प्रकार यदि ग्राहक उस साधारणीकृत पदार्थ को शत्रु का ही नित्य सम्बन्धी माने तो रस-निष्पत्ति के बदले उसे विद्वेष आदि का अनुभव होना ही अधिक संगत प्रतीत होता है और यदि यह माना जाय कि साधारणीकृत पदार्थ का सम्बन्ध शत्रु से, न मित्र से और न स्वयं से ही होता है, अपितु किसी तटस्थ से ही होता है—तो फिर ग्राहक या सामाजिक को उससे क्या प्रयोजन ? अतः यह मानना होगा कि काव्य में आलम्बन रूप में स्थित पदार्थ की प्रतीति नियमपूर्वक किसी से भी सम्बन्धपूर्वक नहीं हो सकती।

उसी प्रकार नियमपूर्वक सम्बन्ध का परिहार भी नहीं किया जा सकता। संसार की कोई भी वस्तु या तो शत्रु की होगी या मित्र की अथवा अपनी और नहीं तो फिर किसी तटस्थ की ही होगी। यदि तीनों प्रकार के लोगों से उस पदार्थ का सम्बन्ध नियमपूर्वक तोड़ दिया जाय तो असंबध्निनोऽसत्त्वम्' के नियम से उस पदार्थ की वही स्थिति होगी जो गगन-कुसुम की। अतः ऐसे पदार्थ के आधार पर रसास्वाद गगन-कुसुम की गंध की भाँति कल्पना मात्र ही होगा।

इतिहास की शकुन्तला को सामाजिकों के समक्ष उपस्थित हो नहीं सकती—देश-काल और व्यक्ति-बद्ध होने के कारण। सामाजिकों के सम्मुख तो 'अभिज्ञान-शाकुन्तल में कवि कालिदास द्वारा वर्णित शकुन्तला ही विद्यमान रहती है। यह शकुंतला कवि कौशल द्वारा सर्व सुलभ होती है मात्र व्यक्ति–विशेष से बद्ध नहीं, अतः शकुन्तला की प्रतीति मात्र दुष्यन्त की पत्नी के रूप में न होकर सामान्य (Common) कान्ता के रूप में होती है। इसी सामान्यता (Commonness) के कारण किसी भी सामाजिक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह शकुन्तला मेरी है या अन्य की। भेद-भाव के अभाव का वास्तव में अर्थ है अन्तर्विरोध का अभाव। शकुन्तला को लेकर सामाजिकों में परस्पर विरोध नहीं होता, क्योंकि वह व्यक्ति विशेष के अधीनस्थ न होकर समूचे समाज की वस्तु हो जाती है, सभी सामाजिकों का आलम्बन हो जाती है। सभी सामाजिकों के आलम्बन होने का अर्थ है कि प्रत्येक ग्राहक या सामाजिक पृथक्-पृथक् रूप से अपने से सम्बन्धित रूप में शकुन्तला की प्रतीति करता है।

साधारणीकरण किसकी विशेषता है—काव्य की या सहृदय की या दोनों की—इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर शुक्ल जी के साधारणीकरण के विवेचन में नहीं मिलता, किन्तु इसका अनुमान लगाया जा सकता है। आचार्य शुक्ल यह स्वीकार करते हैं कि काव्य-भाषा या काव्यीय शब्द इतर शास्त्रादिकों से भिन्न होता है, कारण यह है कि उसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों की उपस्थिति रहती है, जिसके कारण वह (काव्य) सामाजिकों की कल्पना में बिम्ब या मूर्त भावना उपस्थित कर देता है। शुक्ल जी ने लिखा भी है—"काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं।"[153] इससे प्रकट होता है कि वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाने के कारण उनकी दृष्टि में साधारणीकरण मुख्यतया काव्य की ही विशेषता है, किन्तु ध्यातव्य है कि उन्होंने 'सहृदय' पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की है। सामाजिकों के अपने कुछ संस्कार होते हैं—जो उन्हें समाज से मिलते हैं। समाज की नैतिक अवधारणाएँ सदा उनके साथ लगी रहती हैं। नैतिक अवधारणाओं में व्याघात उपस्थित होने पर सशक्त चित्रण की शक्ति के बावजूद सहृदय या सामाजिक के हृदय में आलम्बन उसी भाव को उद्बुद्ध नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए यदि अपनी माता एवं भगिनी रंगमंच पर शृङ्गार का अभिनय करती हों—और ग्राहक 'सभ्य' हो तो उसे उनकी साधारणीकृत रूप में कभी प्रतीति न होगी। शुक्ल जी का भी ऐसा ही मत है। उन्होंने लिखा भी है—'जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा।'[154]

अब हम साधारणीकरण सम्बन्धी शुक्ल जी के अभिमत के विवादास्पद पक्षों के औचित्यानौचित्य का विवेचन करेंगे। साधारणीकरण होता किसका है? इस प्रश्न के उत्तर में काफी मतभेद है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, शुक्ल जी की दृष्टि में साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है। आचार्य भट्टनायक के मतानुसार रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है।[155] आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार भी मूलतः रस के विभावादि के समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है, किन्तु उनकी दृष्टि में स्थायी का साधारणीकरण ही अन्ततः प्रधान हो जाता है।[156] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार भी साधारणीकरण रस के सभी अवयवों का होता है।[157] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि 'साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित (वर्णित) समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं...।'[158] डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणी-

करण की शक्ति वर्तमान है।'[१५९] 'रस सिद्धान्त' में उन्होंने लिखा है कि—'काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।'[१६०]

अब हमें देखना यह है कि उपर्युक्त मान्यताओं में वस्तुतः अन्तर क्या है ? और उनमें कौन मान्यता उपयुक्ततम है। *गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि* डॉ० नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की मान्यताएँ तत्वतः भिन्न नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि कवि की अपनी अनुभूति या 'कवि-भावना' जिसका साधारणीकरण डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कवि-कल्पित व्यापार के रूप में ही व्यक्त होती है, जिसका साधारणीकरण आचार्य वाजपेयी मानते हैं। वैसे तो साधारणतया कवि की अपनी अनुभूति और काव्य में उसी कवि द्वारा व्यक्त की गयी अनुभूति में अन्तर हो सकता है और होता है, क्योंकि यथार्थ आत्मानुभूति की ज्यों-की त्यों अभिव्यंजना यदि असम्भव नहीं तो भी दुष्कर अवश्य होती है किन्तु कवि की जिस अनुभूति के साधारणीकरण का प्रश्न उठ सकता है, वह कवि की काव्य में व्यक्त अनुभूति ही हो सकती है, क्योंकि असम्प्रेषित अथवा अनभिव्यक्त अनुभूति के साधारणीकरण का कोई अर्थ ही नहीं और न तो उसकी कोई संभावना ही होती है। कवि की अव्यक्त अनुभूति के साधारणीकरण का प्रश्न ठीक उसी तरह नहीं उठाया जा सकता जैसे कि असंख्य अन्य मनुष्यों की अनवरत अनुभूयमान असंख्य अनुभूतियों के साधारणीकरण का प्रश्न नहीं उठाया जाता। कवि जब अपनी अनुभूति को वाणीगत अभिव्यक्ति दे देता है, तब उसकी अनुभूति सामाजिक रूप धारण कर लेती है, किन्तु फिर भी वह कवि की अपनी अनुभूति ही रहती है। कवि की अनुभूति के इसी रूप के साधारणीकरण का प्रश्न उठता है। अतः जब डॉ० नगेन्द्र कहते हैं कि साधारणीकरण 'कवि की अपनी अनुभूति' का होता है तो उसका तात्पर्य कवि को विभिन्न अवसरों पर होती रहने वाली ( किन्तु ) अव्यक्त अनुभूतियों से नहीं होता, *अपितु उसका तात्पर्य कवि द्वारा काव्य में अभिव्यक्त अनुभूतियों से ही होता है।* अतः यह स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की मान्यताएँ मूलतः एक हैं, उनकी भिन्नता नाममात्र की है। कवि की अपनी अनुभूति का साधारणीकरण मानना और कवि कल्पित समस्त व्यापार का साधारणीकरण मानना वस्तुतः एक ही बात है।

संस्कृत आचार्यों में इस सम्बन्ध में मतैक्य है। आचार्य भट्टनायक, आचार्य *अभिनव गुप्त और आचार्य विश्वनाथ सभी रस के विभावादि समस्त अवयवों* का साधारणीकरण मानते हैं। यह बात दूसरी है कि आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में अन्ततः स्थायीभाव का ही साधारणीकरण प्रधान हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि संस्कृत के इन आचार्यों की धारणा का, कि साधारणीकरण रस के विभावादि समस्त अवयवों का होता है, डॉ० नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की धारणाओं से क्या भेद है, जिनके अनुसार साधारणीकरण 'कवि की अपनी अनुभूति' का होता है या साधारणीकरण 'कवि कल्पित समस्त व्यापार' का होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० जयचन्द्र राय की सम्मति उद्धृत की जा सकती है। उनके मतानुसार डॉ० नगेन्द्र का यह सिद्धान्त कि

'कवि की अपनी अनुभूति का साधारणीकरण होता है, प्राचीन आचार्यों के ही रस सिद्धान्त की प्रतिध्वनि है कि विभाव आदि सब का साधारणीकरण होता है, क्योंकि कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप ही तो विभावादिकों में व्यक्त हुआ है।'[१६१] विचार करने पर डॉ० राय का कथन सत्य प्रतीत होता है। काव्यगत 'कवि की अपनी अनुभूति' और रस के 'विभावादि विभिन्न अवयवों की समन्विति एक ही वस्तु को क्रमशः आत्मगत और वस्तुगत दृष्टियों से देखने के कारण उसी के विषय में भिन्न-भिन्न रूपों में की गई अभिव्यक्तियाँ हैं, जो बाह्यतः भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुतः तत्वतः एक हैं। अतः डॉ० नगेन्द्र अथवा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की मान्यता किसी भी दशा में प्राचीन आचार्यों से तत्वतः भिन्न अथवा नवीन नहीं कही जा सकती।

आचार्य शुक्ल की धारणा निश्चय ही उपर्युक्त धारणाओं से एक सीमा तक भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्राचीन आचार्यों की ही मान्यता को दुहरा दिया है। प्राचीन आचार्यों ने रस के विभावादि समस्त अवयवों का साधारणीकरण माना है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही साधारणीकरण माना है। विभावादि रस के समस्त अवयवों के साधारणीकरण का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। किन्तु यह प्रश्न निर्विवाद नहीं है। कुछ लोगों का यह मत है कि आचार्य शुक्ल रस के विभावादि समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानते हैं, इतना ही नहीं, उन्हें कवि और सहृदय का भी साधारणीकरण मान्य है। डॉ० रामलाल सिंह ने लिखा है—'शुक्ल जी के साधारणीकरण में कवि, विभाव तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण के तत्व वर्तमान हैं।'[१६२] यह इतनी बड़ी भूल है कि यदि इसे सच मान लिया जाय तो किसी भी साधारणीकरण से यथार्थतः परिचित व्यक्ति को, शुक्ल जी पहले दर्जे के मूर्ख लगने लगेंगे। कवि के साधारणीकरण की बात विभावादि के साधारणीकरण के साथ उठ भी सकती है, किन्तु 'सहृदय' के साधारणीकरण का क्या मतलब ? सहृदय के साधारणीकरण का यही मतलब हो सकता है और होना चाहिए, जैसे कि किसी नाटक का कोई दर्शक विशेष ही शेष सभी दर्शकों एवं अभिनेताओं के किसी भाव-विशेष का आलम्बन हो जाए। मान लिया ऐसा हो जाता है, किन्तु उस दशा में वह व्यक्ति सहृदय दर्शक कहाँ रह जायगा, तब तो वह स्वयं आलम्बन हो जायगा, सभी दर्शकों का आलम्बन। किन्तु तब तो कहना चाहिए कि साधारणीकरण आलम्बन का हुआ न कि सहृदय (दर्शक) का। स्पष्ट है कि सहृदय के साधारणीकरण का कोई मतलब ही नहीं होता। अतएव डॉ० सिंह जब यह कहते हैं कि शुक्ल जी के साधारणीकरण में कवि, विभाव तथा सहृदय—तीनों के साधारणीकरण के तत्व वर्तमान हैं तो उसका मतलब होता है कि शुक्ल जी ने एक असंगत स्थापना की है, किन्तु जाहिर है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि इतनी बड़ी भूल डॉ० सिंह ने क्यों की ? इसका कारण सुस्पष्ट है। वस्तुतः उन्होंने 'साधारणीकरण' और 'तादात्म्य' को एक ही समझ लिया या यों कहें तो अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होंने तादात्म्य को

ही साधारणीकरण समझ लिया, जो ठीक नहीं । इसी बुनियादी बीजरूप भ्रम का 'फल' है उपर्युक्त भूल ।

यदि यह लिखने के स्थान पर कि 'शुक्ल जी के साधारणीकरण में कवि, विभाव तथा सहृदय —तीनों के साधारणीकरण के तत्त्व वर्तमान है', उन्होंने यह लिखा होता कि 'तीनों के तादात्म्य के तत्त्व वर्तमान हैं' तो बात अपनी जगह सही होती । किन्तु तादात्म्य और साधारणीकरण के एक न होने के कारण यह बात गलत हो जाती है । एक ही स्थल पर नहीं अनेक स्थलों पर डॉ० सिंह ने यह भूल की है, जिसके कारण उनका सारा का सारा साधारणीकरण का विवेचन भ्रांतिपूर्ण है । आगे के ही वाक्य में उन्होंने लिखा है कि—'जिस काव्यात्मक अनुभूति में उक्त तीनों तत्त्वों का साधारणीकरण हो उसे शुक्ल जी उत्तम कोटि का साधारणीकरण अथवा रसानुभूति मानते हैं ।'[१६३] स्पष्ट है कि यहाँ भी उक्त तीनों तत्त्वों के साधारणीकरण की बात न की जा करके उनके तादात्म्य की बात की जानी चाहिए थी ।

शुक्ल जी ने वस्तुतः उक्त तीनों तत्त्वों अर्थात् कवि, आश्रय एवं सहृदय के तादात्म्य की ही बात की है, साधारणीकरण की नहीं । यह बात स्वयं डॉ० सिंह के एक कथन से प्रमाणित होती है । एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'शुक्ल जी का कहना है कि जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहाँ तीनों हृदय का समन्वय चाहिए—कवि, आलम्बन तथा सहृदय ।'[१६४] निश्चय ही तीनों हृदयों का समन्वय तीनों हृदयों का तादात्म्य ही है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० सिंह ने तादात्म्य को ही साधारणीकरण समझ लिया है अथवा दोनों को एक मान लिया है । परिणामतः अनेक स्थानों पर त्रुटियाँ की हैं । यहीं यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि साधारणीकरण और तादात्म्य का क्या सम्बन्ध है ?

शुक्ल जी 'साधारणीकरण' और 'तादात्म्य' शब्दों के प्रयोग में अत्यन्त सजग हैं । 'साधारणीकरण' का प्रयोग वे आलम्बन के लिए करते हैं, जो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी सजीव या निर्जीव पदार्थ हो सकता है । आलम्बन कवि की कला के संस्पर्श से पाठकों के हृदय में भी वही भाव जगाता है जो वह आश्रय अथवा कवि के हृदय में जगाता है । आशय यह है कि कवि उस आलम्बन को ही इस रूप में चित्रित करता है कि वह पाठकों के आलम्बन स्तर तक पहुँच जाता है । इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है । वस्तुतः साधारणीकरण कवि-कौशल सापेक्ष होता है । जब आलम्बन पाठक के भी उसी भाव का आलम्बन बन जाता है तो पाठक और आश्रय के हृदयों में समान भावानुभूति अनिवार्य हो जाती है । इसी समान भावानुभूति या सहानुभूति या हृदयगत एकतानता को पारिभाषिक शब्दावली में तादात्म्य कहा जाता है । स्पष्ट है कि 'तादात्म्य' साधारणीकरण की क्रिया का अनिवार्य परिणाम है । साधारणीकरण के बिना सहानुभूति सम्भव नहीं । साधारणीकरण और 'तादात्म्य' की क्रियाएँ लगभग साथ-साथ घटित होती हैं तथापि साधा-

रणीकरण की प्रक्रिया प्राथमिक है और तादात्म्य की क्रिया द्वितीयक। डॉ० जयचन्द्र राय का यह कथन भी कि 'जिस गति से कवि का आलम्बन पाठक का आलम्बन बनने के लिए गतिशील होता है, ठीक उसी गति से उसका (पाठक का) हृदय कवि अथवा आश्रय के हृदय के साथ एकाकार होने के लिए आगे बढ़ता है और जिस क्षण में आलम्बन अन्तिम रूप से साधारणीकृत हो जाता है, ठीक उसी क्षण में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।'[१६५] उसी प्रस्थापना को सिद्ध करता है। आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण और तादात्म्य शब्दों के प्रयोग में उनका यह मौलिक अन्तर सदैव विद्यमान है। उन्होंने प्रत्येक ऐसी क्रिया को जिसमें आश्रय या कवि का आलम्बन पाठक या श्रोता का आलम्बन बन जाता है 'साधारणीकरण' शब्द से व्यक्त किया है और इस साधारणीकरण की क्रिया के फलस्वरूप होने वाली आश्रय और पाठक के भावों के एकीकरण की अवस्था को 'तादात्म्य' शब्द से व्यक्त किया है। अतः स्पष्ट है कि साधारणीकरण और तादात्म्य को एक मान लेना एक बुनियादी भूल है—जिसके कारण समग्र विश्लेषण गोलमटोल हो जाता है।

इसी संदर्भ में डॉ० सिंह की एक और भूल ध्यातव्य है। उपर्युक्त उद्धरण में उन्होंने 'तादात्म्य' को 'समन्वय' शब्द द्वारा व्यक्त किया है, यह ठीक है किन्तु किनके हृदयों के समन्वय की बात उन्होंने की है, इस पर थोड़ा ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उनके मतानुसार शुक्ल जी ने कवि, आलम्बन (?) तथा सहृदय के हृदयों के समन्वय की बात की है, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। शुक्ल जी ने काव्यगत आश्रय और कवि के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की बात की है, न कि 'आलम्बन' के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की बात। इस सम्बन्ध में उन्हें इतना भी ध्यान नहीं रहा कि 'आलम्बन' मनुष्य ही हो, यह कोई जरूरी नहीं, अतः आलम्बन के साथ पाठक के तादात्म्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। सम्भवतः 'आलम्बन' और 'आश्रय' का अर्थ ही डॉ० सिंह के समक्ष स्पष्ट नहीं है, अन्यथा वे ऐसी बात न करते। आलम्बन का अर्थ है 'भाव का विषय' और आश्रय का अर्थ है—'भाव का अनुभव करने वाला।' इनमें से प्रथम अर्थात् भाव का विषय (या आलम्बन) मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है[१६६] अतः आलम्बन के साथ तादात्म्य की बात करना उचित नहीं। तादात्म्य का प्रश्न किसी आलम्बन को लेकर समान भाव का अनुभव करने वालों के बीच अर्थात् आश्रयों के बीच ही उठाया जाता है और उठ सकता है। जहाँ तक आश्रय का सम्बन्ध है, वह सदा हृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है,[१६७] सृष्टि का कोई भी जड़ पदार्थ नहीं। जहाँ आश्रय अवर्णित होता है, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि हृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है।

जहाँ तक कवि के साधारणीकरण का प्रश्न है, शुक्ल जी का मत स्पष्ट है। उन्होंने कहीं भी कवि के साधारणीकरण की बात नहीं की है, किन्तु कवि की अनुभूति के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की बात अवश्य की है। यदि उनकी दृष्टि में तादात्म्य

और साधारणीकरण एक ही होते तो यह कहना उचित होता कि वे कवि का साधारणीकरण मानते हैं, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। उनकी दृष्टि में तादात्म्य और साधारणीकरण एक नहीं, अतः यह कहना कि वे कवि का साधारणीकरण मानते हैं, वस्तुतः उनके (शुक्ल जी के) मुँह में अपनी बात रख देना है। एक भी स्थल पर तो उन्होंने नहीं कहा कि कवि का साधारणीकरण होता है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध में विवेचन के दौरान उन्होंने अनेक बार यही कहा है कि साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है। कवि की अनुभूति के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की बात शुक्ल जी ने वहाँ नहीं उठायी है, जहाँ पाठक का काव्य में वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य होता है, यद्यपि वहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य होने के साथ कवि के साथ भी पाठक का तादात्म्य अनिवार्य होता है। उन्होंने कवि की अनुभूति के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की बात वहीं उठायी है, जहाँ या तो पाठक का तादात्म्य आश्रय के साथ नहीं होता या आश्रय के काव्य में वर्णित न होने पर अर्थात् स्वतः कवि के आश्रय रूप में विद्यमान होने पर काव्यगत आश्रय के साथ पाठक के तादात्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी स्थिति में, जैसे जहाँ प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्रण हो और आश्रय के रूप में स्वयं कवि ही प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य आश्रय के न रहने के कारण पाठक का तादात्म्य कवि की अनुभूति से ही हो सकता है और पहली स्थिति में जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की व्यंजना कर रहा हो तो आश्रय के दुराचारी होने के कारण उसके साथ पाठक, श्रोता या दर्शक का तादात्म्य न हो सकेगा, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त (आश्रय) पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा का रूप ले लेगा। शुक्ल जी के मतानुसार—'इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।'[१६८]

स्पष्ट है कि कवि के साथ पाठक या सहृदय के तादात्म्य की अनेकशः बात करते हुए भी उन्होंने कवि के साधारणीकरण की बात कहीं भी नहीं की है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वह मत जिसके अनुसार, शुक्ल जी आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही नहीं, अपितु उसके विभावादि समस्त अवयवों, कवि और सहृदय—सभी का साधारणीकरण मानने वाले कहे जाते हैं—मान्य नहीं हो सकता। डॉ० जयचन्द्र राय की भी यही सम्मति है। उन्होंने लिखा है—'शुक्ल जी के मत को शास्त्रीय मत के साथ समन्वित करने के लिए कभी-कभी यह भी प्रतिपादित किया जाता है कि उसमें प्रकारान्तर से कवि और विभावादि सभी का साधारणीकरण मान्य है। किन्तु यह प्रतिपादन युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती।'[१६९] अतः अन्ततः हम यही निश्चय करते हैं कि आचार्य शुक्ल आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही साधारणीकरण मानते हैं।

डॉ० नगेन्द्र की उपपत्ति 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है

इतनी सामान्य और प्रारम्भिक है कि प्राचीन आचार्यों ने इसकी चर्चा की आवश्यकता ही नहीं महसूस की। ऐसी उपपत्ति देकर डॉ० नगेन्द्र ने मूल समस्या का प्राचीन आचार्यों से आगे बढ़कर कोई युक्तिसंगत समाधान न प्रस्तुत कर उसे सामान्य और सहज बना दिया है। वस्तुतः ऐसी बात मौलिक दृष्टि-भेद के कारण हुई। प्राचीन आचार्यों ने और शुक्ल जी ने भी, काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में वस्तुगत दृष्टि अपनाते हुए काव्य को केन्द्र में रखकर उसे ही मूलतः अपनी दृष्टि में रखकर अन्य प्रश्नों की ही भाँति साधारणीकरण की समस्या पर भी विचार किया है, किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने स्पष्ट है कि साधारणीकरण के विवेचन में काव्य को केन्द्रीयता एवं प्रधानता न प्रदान कर 'कवि' को ही केन्द्रीयता एवं प्रधानता दी है, जो उचित नहीं। काव्य के विवेचन में काव्य को ही केन्द्र बनाना चाहिए, न कि कवि या पाठक को। काव्य को लेकर ही कवि या पाठक के उसके साथ अन्तर्सम्बन्धों पर विचार किया जाना चाहिए। सामाजिकों के समक्ष कवि प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उसकी कृति ही प्रत्यक्ष होती है, अतः साधारणीकरण की बात काव्य को लेकर उठानी चाहिए – कवि को लेकर नहीं, और इसी दृष्टि से उसका समाधान भी होना चाहिए। यह कौन नहीं जानता कि काव्य में कवि की ही अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं अतः यह कहना कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है कोई गम्भीर विवेचन न होकर मूल समस्या से कतरा जाना है।

डॉ० जयचन्द्र राय ने ठीक ही लिखा है कि—'कवि की अनुभूति वाली स्थापना तो कुछ इतनी गोल-मटोल है कि रहस्य का अनावरण नहीं होने देती। उससे आगे बढ़ने पर, यानी कवि के अव्यक्त व्यक्तित्व को अलग रखकर जब हम काव्यगत आलंबन आश्रय तक पहुँचते हैं तभी इस विस्तार में पहुँच पाते हैं कि साधारणीकरण की क्रिया कहाँ से शुरू होती है और उसका मूल विषय कौन है?'[५७०] अतः प्रत्येक दशा में साधारणीकरण के विषय की खोज काव्य के भीतर ही की जानी चाहिए। काव्य के बाहर का कोई भी विषय समस्या का वास्तविक समाधान नहीं हो सकता। इस दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र की स्थापना की तुलना में आचार्य वाजपेयी की स्थापना कि 'साधारणीकरण कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है' वस्तुगत होने के कारण एक कदम आगे या एक सीढ़ी ऊँची कही जानी चाहिए। यद्यपि, जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, दोनों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। यह सत्य है कि सामाजिकों के समक्ष कवि कल्पित समस्त व्यापार विद्यमान रहता है अतः यह कहना कि 'साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, एक दृष्टि से असंगत नहीं सिद्ध किया जा सकता, किन्तु साधारणीकरण का यह निरूपण भी डॉ० नगेन्द्र के ही निरूपण की तरह तात्त्विक नहीं कहा जा सकता। यह साधारणीकरण का सामान्य विवेचन ही कहा जायगा। जो प्राचीन आचार्यों की इस मान्यता से कि साधारणीकरण रस के विभावादि समस्त अवयवों का होता है वस्तुतः भिन्न नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त समस्त आधुनिक एवं प्राचीन विचारक आचार्य भट्टनायक के ही मन्तव्य को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त

करते रहे हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः सर्वांग का होता है। आचार्य शुक्ल ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करने के उपरान्त आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की घोषणा की है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के मतानुसार आचार्य वाजपेयी की मान्यता सही है कि साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है और आचार्य शुक्ल की मान्यता गलत है।"[१७१] किन्तु क्या वस्तुतः साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है ? थोड़ा सा भी विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में ऐसा सम्भव नहीं। यदि साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता या हो सकता तो वस्तुतः साधारणीकरण की समस्या ही न उठी होती। अनेक ऐसे विचित्र पात्र एवं उनकी अनुभूतियाँ अनेक काव्यों में मिलती हैं, और उनकी रचना भी की जा सकती है, जिनके साथ तादात्म्य होना कठिन ही नहीं, असंभव रहता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'यदि किसी काव्य या नाटक में हूण सम्राट मिहिरगुल पहाड़ की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़पने, चिल्लाने आदि की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न-भिन्न ढंग से अपने आह्लाद की व्यंजना करें तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा।'[१७२] ऐसी दशा में यह कैसे मान्य हो सकता है कि साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है। वस्तुतः साधारणीकरण की भी एक सीमा होती है। साधारणीकरण की कल्पना वहीं तक ठीक है—जहाँ तक सहृदयों का रसोद्बोध स्वाभाविक हो, इसके आगे उसकी कल्पना उचित नहीं। यदि किसी काव्य में कवि द्वारा अपनी माता-पिता के साथ शृङ्गार का वर्णन किया गया हो तो क्या सहृदयों को रसोद्बोध होगा ? कदापि नहीं। पंडितराज जगन्नाथ ने ठीक इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर लिखा है—न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरितिवाच्यम्। यत्र सहृदयानांरसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्।'

अतः यह सही है कि साधारणीकरण की कल्पना प्रत्येक पात्र एवं प्रत्येक व्यापार के साथ नहीं की जा सकती है, क्योंकि साधारणीकरण के लिए आलम्बनौचित्य एक अनिवार्य शर्त होती है। आलम्बनौचित्य ही वस्तुतः रस-निष्पत्ति एवं साधारणीकरण का मूलाधार है, मूल है, सर्वस्व है। वस्तुतः इसी तात्त्विक बात को ध्यान में रखने के कारण ही शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँच सके कि साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है। साधारणीकरण काव्य में वर्णित चाहे जिस पात्र या व्यापार का हो या सम्पूर्ण काव्य का ही हो, उसे साधारणीकृत होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह सामाजिकों के समक्ष आलम्बन रूप में उपस्थित हो। यह निरपवाद सत्य है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी भावानुभूति का प्रथम अवयव विषय-बोध ही है। आश्रय में भावोदय के पूर्व आलंबन की स्थिति मानना सर्वथा अनिवार्य है। अतः यह मान्यता कि साधारणीकरण आलम्बन का ही होता है, सर्वथा सत्य होने के कारण मान्य ठहरती है। पाठक या सामाजिक की दृष्टि से देखने पर सम्पूर्ण काव्य समन्वित

रूप में, और उसका प्रत्येक पात्र तथा प्रत्येक व्यापार पृथक्-पृथक् रूप से भी पाठक का आलम्बन ठहरता है। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है कि 'सच पूछिए तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न-भिन्न भावों के आलम्बन स्वरूप होते हैं।'[१०३] अत ऐसी स्थिति में यह कहने में कोई आपत्ति नहीं उठ सकती कि साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का ही होता है। ऊपरी तौर पर यह प्रतीति हो सकती है कि आचार्य शुक्ल की प्रस्तुत मान्यता अपेक्षाकृत संकुचित है, क्योंकि जहाँ अन्य सभी विचारक किसी-न-किसी रूप में सर्वाङ्ग का साधारणीकरण मानते हैं, वहीं शुक्ल जी मात्र 'आलम्बन का ही साधारणीकरण मानते हैं', किन्तु यह प्रतीति वस्तुतः ठीक नहीं कही जा सकती। वास्तव में आचार्य शुक्ल जी की मान्यता पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी आचार्यों की मान्यताओं की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि पाठक के समक्ष सम्पूर्ण 'काव्य' और उसका प्रत्येक पात्र एवं व्यापार आलम्बन के रूप में उपस्थित रहता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण काव्य के रचयिता के रूप में कवि के ऊपर भी—पहले काव्य पर फिर उसके माध्यम से उसके पश्चात् कवि पर भी, पाठक की दृष्टि जाती है, अतः एक प्रकार से परोक्षतः कवि भी पाठक या सामाजिक के आलम्बन के रूप में उपस्थित हो उठता है। काव्य की ही उत्कृष्टता के आधार पर प्रत्येक पाठक की चेतना कवि की उत्कृष्टता का अनुमान करती है। अतः कवि के साधारणीकरण की मान्यता भी आचार्य शुक्ल की मान्यता में अन्तर्भूत कही जा सकती है, किन्तु आलम्बन के ही रूप में कवि के रूप में नहीं। यही नहीं, आलम्बन के अतिरिक्त रस के अन्य सभी अवयवों का साधारणीकरण आलम्बन के ही साधारणीकरण का स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणाम होता है, कारण यह कि आलम्बन के साधारणीकरण के अभाव में शेष किसी भी अवयव का साधारणीकरण नहीं हो सकता है अतः आलम्बन का साधारणीकरण ही शेष सभी अवयवों के साधारणीकरण का कारण रूप होता है। अतएव यह कहना कि साधारणीकरण आलम्बन का ही या आलम्बनत्व धर्म का होता है, सर्वथा तर्क संगत है। यहाँ ध्यातव्य है कि 'आलम्बन का साधारणीकरण' तत्त्वतः सर्वाङ्ग का ही साधारणीकरण है। अन्तर केवल इतना है कि आचार्य शुक्ल ने शास्त्रीय शब्द आलम्बन के भीतर ही शेष सभी का समाहार कर दिया है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक गहराई में प्रविष्ट होकर साधारणीकरण के मूल तत्त्व को पकड़ा है। उनकी यह धारणा, उनकी काव्य सम्बन्धी मूल धारणा के अनुरूप और उसी पर आधारित है। शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य में आलम्बन ही मुख्य होता है। यदि (किसी) कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्दचित्र द्वारा उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। ऐसी स्थिति वाले काव्य में भी जिसमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है—केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं, जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं, निश्चय ही पाठक को रसानुभूति होती है और आलम्बन का

साधारणीकरण होता है। किन्तु यदि यह माना जाय कि साधारणीकरण रस के समस्त अवयवों का होता है तो यहाँ पर यह नियम भंग हो जायगा, क्योंकि आलंबन के सिवा यहाँ रस का और कोई भी अवयव विद्यमान नहीं। अतः यह कहने पर कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है, वस्तुतः कोई अपवाद नहीं रह जाता है, अतः यही मान्यता अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल की प्रस्तुत मान्यता पर कुछ आक्षेप किये हैं—(क) 'एक तो यह कि प्रस्तुत मत भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है, केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है।'[१७४] यह सही है कि शुक्ल जी का प्रस्तुत मत कि साधारणीकरण आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है, भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त दोनों के मतों से भिन्न हैं, किन्तु मात्र भिन्न होने के कारण किसी बात का अनौचित्य स्वतः प्रमाणित नहीं होता। वस्तुतः शुक्ल जी के प्रस्तुत मत में इन आचार्यों के मत का समावेश हो गया है। शुक्ल जी के मत का क्षेत्रफल इन प्राचीन आचार्यों के मतों के क्षेत्रफल से ज्यादा है। प्राचीन आचार्यों के मतों का क्षेत्रफल शुक्ल जी के मत के अंशी क्षेत्रफल का अंश है।

(ख) 'दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुई आलंबन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती।'[१७५]

डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता शुक्ल जी की विचारणा के बिल्कुल विपरीत है। शुक्ल जी विशिष्ट आलम्बन का ही साधारणीकरण मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।''[१७६] तो क्या ऐसे विषय का साधारणीकरण नहीं होता? वस्तुतः होता है। आचार्य शुक्ल ने यह सिद्ध किया है कि इस 'विशेषत्व' का साधारणीकरण के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है। उनका कथन है कि 'विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप में आकर सामान्यतः व्यक्ति-मात्र या वस्तु-मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं।'[१७७] यदि साधारणीकरण का अभिप्राय यह होता तो निश्चय ही विषय या आलम्बन के विशेषत्व और साधारणीकरण में विरोध की स्थिति रहती और डॉ० नगेन्द्र का यह आक्षेप सही होता कि विशेषरूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। किन्तु साधारणीकरण का यह अभिप्राय न होने से डॉ० नगेन्द्र का आक्षेप निराधार सिद्ध होता है। वस्तुतः साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।[१७८] अतः डॉ० नगेन्द्र का आक्षेप असंगत ठहरता है।

डॉ० नगेन्द्र का यह भी कहना है कि शुक्ल जी के साधारणीकरण में भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया गया है और 'साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक

अंग स्वतन्त्र हो गया है।'[179] यह सच है कि भाव के विषय अर्थात् आलम्बन को शुक्ल जी ने भाव से अधिक महत्त्व दिया है, किन्तु यह सकारण और उचित है, अनुचित नहीं। वस्तुतः भावानुभूति पूर्णतया आलम्बन या विषय के बोध पर ही निर्भर रहती है। भावानुभूति के पूर्व विषयबोध अनिवार्य होता है अतः प्राथमिक एवं अनिवार्य होने के कारण भाव के विषय का आलम्बन पर अधिक बल देना उचित ही है। इसी प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग (आलम्बन) का स्वतन्त्रत्व भी अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सचमुच ही स्वतन्त्र होता है। आलम्बन के साधारणीकरण पर ही शेष सभी रसावयवों का एक साधारणीकरण आश्रित होता है, किन्तु शेष अवयवों के साधारणीकरण पर आलम्बन का साधारणीकरण आश्रित नहीं होता है। अतः यदि साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग (आलम्बन) स्वतन्त्र भी हो गया है तो ठीक ही है, उसे ऐसा होना ही चाहिए। शुक्ल जी की 'आश्रय एवं ग्राहक के तादात्म्य' की बात भी विवादास्पद है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी को साधारणीकरण के संदर्भ में 'आश्रय एवं ग्राहक के तादात्म्य' की बात मान्य नहीं। उनके मतानुसार 'इसके विरुद्ध परम्परा भी है और तर्क भी।'[180] जहाँ तक परम्परा का सम्बन्ध है, यह सच है कि आचार्य विश्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य ने साधारणीकरण के प्रसंग में आश्रय एवं ग्राहक के तादात्म्य की चर्चा नहीं की है, किन्तु परम्परा के अभाव के कारण ही आचार्य विश्वनाथ या आचार्य शुक्ल की बात गलत सिद्ध नहीं हो जाती, क्योंकि परम्परा का होना या न होना किसी मान्यता या सिद्धांत के सत्यत्व अथवा मिथ्यात्व का निकष नहीं हो सकता। अतः मात्र 'परम्परा के अभाव के कारण' आश्रय एवं ग्राहक के तादात्म्य की बात अस्वीकार नहीं की जा सकती है। परम्परा के अतिरिक्त जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है, वे परीक्षणीय हैं। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार—'अभेद बुद्धि (तादात्म्य) साधारणीकरण से पूर्ववर्ती है या परवर्ती अथवा यही साधारणीकरण है—यही तीन पक्ष हो सकते हैं।'[181] पहले पक्ष के सम्बन्ध में उनका कहना कि 'वह तभी हो सकता है—जब कोई दोष हो—क्योंकि जो निर्दोष अर्थात् अप्रमत्त या सावधान होगा—वह दोनों का भेद अपना और आश्रय का भेद अवश्य जानेगा और ऐसा जानते हुए भी अपने को अभिन्न मान ले-तो यह केवल शब्द की सामर्थ्य कही जायगी। दूसरी बात यह है कि यदि पहले ही ग्राहक ने आश्रय से अपने को अभिन्न मान लिया तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या।'[182] डॉ० त्रिपाठी का यह तर्क मान्य है। आचार्य शुक्ल जी तादात्म्य को साधारणीकरण का पूर्ववर्ती नहीं मानते। उनकी दृष्टि में तादात्म्य साधारणीकरण का परवर्ती है, उसका सहज परिणाम है। किन्तु डॉ० त्रिपाठी का मत है कि 'दूसरा पक्ष कि साधारणीकरण के बाद तादात्म्य होता है—बिलकुल अस्वीकरणीय है।'[183] उनका तर्क है कि 'अभेद या तादात्म्य के लिए दो का भेद ज्ञान आवश्यक है और भेद ज्ञान व्यक्तिगत देश-काल-व्यक्ति से सम्बन्ध पर आधारित है और वह साधारणीकरण द्वारा पहले ही हट चुका है—अतः भेद-ज्ञान सापेक्ष अभेदज्ञान साधारणीकरण के बाद कभी संभव नहीं।[184] विचारपूर्वक देखने से

पता चलता है कि डॉ० त्रिपाठी के इस तर्क की बुनियाद ही ग़लत है। डॉ० त्रिपाठी यह मानकर चले हैं कि 'अभेद या तादात्म्य के लिए दो का भेद ज्ञान आवश्यक है।' यह उनके तर्क की बुनियाद है, किन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः अभेद या तादात्म्य के लिए दो का भेद-ज्ञान आवश्यक नहीं होता, अपितु इसके विपरीत दो का भेद-ज्ञान मिटना अपेक्षित होता है। भेद-ज्ञान के मिटने की स्थिति ही तादात्म्यावस्था कहलाती है। भेद-ज्ञान साधारणीकरण से मिटता है अतः निश्चय ही तादात्म्य साधारणीकरण का परवर्ती होता है। जब डा० त्रिपाठी के तर्क की बुनियाद ही ठीक नहीं तो उनका पूरा तर्क और उसका निष्कर्ष भी स्वभावतः ही ठीक नहीं हो सकता। अतः साधारणीकरण के बाद तादात्म्य होता है की बात खण्डित नहीं होती। जहाँ तक तीसरे पक्ष का प्रश्न है कि तादात्म्य ही साधारणीकरण है, जिसका खण्डन डॉ० त्रिपाठी ने किया है, स्वयं शुक्ल जी को भी स्वीकार नहीं।

निष्कर्ष यह कि डॉ० त्रिपाठी के तर्कों के आधार पर साधारणीकरण के सन्दर्भ में 'आश्रय एवं ग्राहक के तादात्म्य की बात' अस्वीकार नहीं की जा सकती। इसके विपरीत उस अवस्था का विवेचन प्रगति एवं सूक्ष्मता का परिचायक माना जायगा।

साधारणीकरण और शील-वैचित्र्य

शुक्ल जी के रस-दर्शन के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है—पूर्ण रस निष्पत्ति। शील-वैचित्र्य का अर्थ होता है, आश्रय के साथ तादात्म्य का अभाव, अर्थात् साधारणीकरण का अभाव, और साधारणीकरण के अभाव का अर्थ हुआ 'पूर्ण रस-निष्पत्ति' का अभाव। अतः शील वैचित्र्य के द्वारा शुक्ल जी ने पूर्ण रसनिष्पत्ति स्वीकार नहीं की है। किन्तु शील वैचित्र्य के परिज्ञान से होने वाली अनुभूति को वे रसानुभूति के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं करते, अपितु उसे मध्यम कोटि की रसानुभूति के रूप में स्वीकार करते हैं। मध्यम कोटि की रसात्मकता का स्पष्ट सैद्धांतिक निरूपण कर उन्होंने रसात्मकता के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार शील या अन्तः-प्रकृति वैचित्र्य प्रधान पाश्चात्य काव्यों एवं नाट्यों की भी रसात्मकता की दृष्टि से सहज ही आलोचना की जा सकती है। उनका कथन है कि शील-वैचित्र्य के साक्षात्कार से तीन प्रकार की मध्यमकोटि की रसात्मक अनुभूतियाँ हो सकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन, या (३) कुतूहलमात्र।'[१८५]

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है,[१८६] जैसे राजा हरिश्चन्द्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना। आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है।[१८७] स्पष्टतः न सात्त्विकी न तामसी अतएव अद्वितीय प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा।[१८८]

रस की कोटियाँ

शुक्ल जी ने रस की तीन कोटियाँ या दशाएँ स्वीकार की हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) निकृष्ट। इनमें से प्रथम दो का उल्लेख उन्होंने साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद नामक निबन्ध में और तृतीय का उल्लेख अपने इन्दौर वाले भाषण में किया है। हम इनका क्रमशः विवेचन करेंगे।

प्राचीन आचार्यों द्वारा 'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में विवेचित श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था ही शुक्ल जी की दृष्टि में रस की उत्तम कोटि या दशा है।[१८९]

साधारणीकृत आलम्बनगत रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति से उत्पन्न श्रोता और आश्रय की यह तादात्म्यावस्था ही पूर्ण रस-निष्पत्ति की अवस्था होती है। अतः इसे रस की उत्तम कोटि मानना उचित ही है।

रस की मध्यम कोटि या दशा का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि 'कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।'[१९०] यदि आलम्बन के साधारणीकरण और आश्रय के साथ श्रोता की तादात्म्यावस्था को पूर्ण रसात्मकता की कसौटी माना जाय, जैसा कि प्राचीन आचार्य और स्वयं शुक्ल जी मानते हैं, तो निश्चय ही इस द्वितीय कोटि की रसात्मकता को पूर्ण रसात्मक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस दशा में न तो आलम्बन का साधारणीकरण होता है और न तो आश्रय के साथ श्रोता का तादात्म्य ही। अतः पूर्ण रसात्मक न होने के कारण इस रस-दशा को प्रथम रस-दशा से निश्चय ही भिन्न और अपेक्षाकृत निम्नकोटि की रस-दशा मानना होगा और यदि इससे भी निम्नतर कोटि की रसदशा होती है या हो सकती है, जैसा कि शुक्ल जी मानते हैं तो निश्चय ही इस द्वितीय कोटि की रसदशा को मध्यम कोटि की रसदशा कहना पूर्णतया तर्कसंगत है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि इस दशा में आश्रय के साथ श्रोता का तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता, किन्तु शुक्ल जी के मतानुसार, फिर भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। 'तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।'[१९१]

स्पष्ट है कि मध्यम कोटि की रस-अवस्था में श्रोता का तादात्म्य काव्यगत

आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है और साधारणीकरण काव्यगत आश्रय के आलम्बन का न होकर कवि के आलम्बन का होता है।

रस की उत्तम और मध्यम कोटियों का विवेचन ऊपर हो चुका है। चमत्कारवादियों की कुतूहलपरक काव्यानुभूति को शुक्ल जी ने रस की निकृष्ट कोटि माना है। उन्होंने लिखा है कि 'चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।'[१९२]

रसावयव (रस के संयोजक तत्त्व)

आचार्य शुक्ल ने एक स्थल पर लिखा है—'किसी भाव की रसात्मक प्रतीति उत्पन्न करने के लिए कवि कर्म के दो पक्ष होते हैं—अनुभाव-पक्ष और विभाव-पक्ष।'[१९३] इस आधार पर कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की दृष्टि में 'अनुभाव' और 'विभाव' रस के दो संयोजक तत्त्व होते हैं। इसी से मिलती-जुलती शुक्ल जी की अनेक उक्तियाँ हैं, जैसे 'कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष।'[१९४] इन दोनों उद्धरणों की तुलना करने पर उनका अन्तर सामने आ जाता है। पहले उद्धरण में *'अनुभाव' पक्ष का उल्लेख है, किन्तु दूसरे उद्धरण में 'भाव पक्ष का*। विभाव-पक्ष का उल्लेख दोनों उद्धरणों में है किन्तु पहले उद्धरण में विभाव-पक्ष का *उल्लेख बाद में है और दूसरे उद्धरण में उसका उल्लेख पहले है। सूत्र रूप में उन्हें* इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

पहला उद्धरण—अनुभाव पक्ष+विभाव पक्ष—कविकर्म

दूसरा उद्धरण—विभाव पक्ष+भाव पक्ष—कविकर्म

अतः अनुभाव पक्ष और भाव पक्ष को परस्पर समानार्थक होना चाहिए, किन्तु क्या अनुभाव और भाव दोनों एक ही हैं? यदि नहीं तो वे समानार्थक कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः स्वयं शुक्ल जी की दृष्टि में भी 'भाव' और 'अनुभाव' दोनों एक नहीं, अपितु दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अतः एक ही अर्थ में 'भाव' और 'अनुभाव' दोनों शब्दों का प्रयोग करना एक प्रकार की शिथिलता एवं अनिश्चितता ही कहा जायगी। किन्तु यदि शुक्ल जी के आशय को पकड़ने की कोशिश की जाय तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने वस्तुतः उन्हें एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

शुक्ल जी के मतानुसार काव्य में 'विभाव पक्ष' और 'भाव पक्ष' दोनों अन्योन्याश्रित हैं अतः दोनों विद्यमान रहते हैं।[१९५] 'जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है।'[१९६] पूरी और सच्ची रसानुभूति के लिए शुक्ल जी उक्त दोनों पक्षों का सामंजस्य अनिवार्य मानते हैं। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि 'भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती।'[१९७]

काव्य में भाव और विभाव दोनों पक्षों का सामंजस्य अनिवार्य मान लेने पर

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जहाँ इन दोनों में से कोई एक ही विद्यमान होता है, और किसी एक का अभाव रहता है, वहाँ पर रसानुभूति कैसे सम्भव होती है ? या वहाँ रसानुभूति होती ही नहीं ? शुक्ल जी काव्य में विभाव या भाव किसी भी एक पक्ष के विधान मात्र से रसानुभूति स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "मैं आलम्बन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव ( भावानुभव सही ) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो हिन्दी में 'नायिका-भेद' और 'नख-शिख' के जो सैकड़ों ग्रन्थ बने हैं, उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं।"[१९८] स्पष्ट है कि शुक्ल जी भाव पक्ष के अभाव में भी रसानुभूति स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार वे भाव प्रधान काव्यों में विभाव पक्ष के अभाव में भी रसानुभूति स्वीकार करते हैं। यह कैसे सम्भव होता है ? इसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'भाव प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृत्ति ही रहती है—आलम्बन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें आलम्बन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।'[१९९] इससे प्रकट होता है कि काव्य के उक्त दोनों पक्षों में से किसी के भी अभाव की पूर्ति श्रोता या पाठक के आक्षेप द्वारा की जाती है। इससे यह पुनः सिद्ध होता है कि रसानुभूति के लिए विभाव एवं भाव दोनों पक्षों का सामंजस्य अनिवार्य होता है। यह बात दूसरी है कि काव्य में कवि ने शब्दों द्वारा किसी एक ही पक्ष का विधान किया हो, किन्तु अनुपस्थित या अव्यक्त पक्ष का आक्षेप श्रोता या पाठक स्वयं कर लेता है, इस प्रकार उसे रसानुभूति संभव होती है। यदि पाठक या श्रोता अनुपस्थित या अव्यक्त पक्ष का आक्षेप न करे तो उसे रसानुभूति न हो सकेगी। पाठक या श्रोता द्वारा आरोप या आक्षेप की बात शुक्ल जी ने अनेक बार कही है। भाव प्रदर्शक काव्यों के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि 'केवल भाव-प्रदर्शक काव्यों में होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किये रहता है।' काव्य में अवर्णित या अव्यक्त पक्ष के श्रोता या पाठक के आक्षेप द्वारा रसनिष्पत्ति अथवा रसानुभूति स्वीकार करने की यह धारणा प्राचीनशास्त्र-सम्मत धारणा है, शुक्ल जी द्वारा आविष्कृत कोई नवीन या मौलिक वस्तु नहीं। काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट के समक्ष यह प्रश्न था कि रस की उत्पत्ति में जब विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों की सम्मिलित रूप से कारणता का प्रतिपादन आचार्य भरत ने किया है, तब जहाँ इनका इकट्ठा वर्णन न होकर इनमें से किसी एक का या किन्हीं दो का ही वर्णन हो तो वहाँ रस-निष्पत्ति किस प्रकार होगी ? इस शंका को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। इनमें से प्रथम श्लोक में मुग्धादयिता-रूप आलम्बन और वर्षाकाल रूप उद्दीपन मात्र का, द्वितीय में वियोगिनी नायिका के केवल अनुभावों का और तीसरे में केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारि-

भावों का वर्णन किया गया है। इन तीनों श्लोकों को उद्धृत करने के पश्चात् समस्या का समाधान करते हुए उन्होंने तीनों ही श्लोकों में—अव्यक्त अवयवों के श्रोता या पाठक के आक्षेप द्वारा रसनिष्पत्ति स्वीकार की है और बतलाया है कि शेष अव्यक्त अवयवों के आक्षेप हो जाने पर विभावादि तीनों के संयोग से रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का व्यभिचार नहीं होता है।[२००]

काव्य के भाव और विभाव पक्षों में विभाजन की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर शुक्ल जी ने लिखा है कि 'भिन्न-भिन्न देशों की प्रवृत्ति की पहचान यदि हम काव्य के भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो जाती है।'[२०१]

यद्यपि शुक्ल जी की मूल मान्यता यही है कि 'भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती'[२०२] फिर भी वे काव्य में विभाव और भाव दोनों पक्षों को समान स्थान नहीं देते। उनकी दृष्टि में विभाव पक्ष मुख्य होता है और भाव पक्ष गौण। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—

(क) 'हम विभाव पक्ष को कविता में प्रधान स्थान देते हैं।'[२०३]

(ख) 'पर काव्य में विभाव ही मुख्य है।'[२०४]

(ग) 'काव्य में विभाव ही मुख्य समझना चाहिए।'[२०५]

स्पष्ट है कि तुलनात्मक दृष्टि से शुक्ल जी काव्य में विभाव को ही अधिक महत्त्व देते हैं। ऐसा क्यों? वस्तुतः विभाव और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध के स्वरूप पर निर्भर करता है, उनकी मुख्यता और गौणता का यह प्रश्न। अतः विभाव और भाव का अन्तर्सम्बन्ध ही सबसे पहले विवेच्य है। शुक्ल जी ने विभाव की मुख्यता का निर्देश करते हुए लिखा है—'काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है।'[२०६] थोड़ा सा ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि यहाँ पर उन्होंने 'विभाव' को भावों का प्रकृत आधार या विषय कहा है अतः यदि विभाव आधार है तो भाव आधेय और उनके बीच का सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध है। अन्यत्र इसे ही उन्होंने रस का भी आधार कहा है। जैसे, "काव्य में 'विभाव' ही मुख्य समझना चाहिए—रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है।"[२०७] भाव या रस का आधार-स्वरूप होने के कारण ही शुक्ल जी ने विभाव को काव्य में 'मुख्य' माना है। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी की काव्य सम्बन्धी धारणा में विभाव को प्रधानता देने का एक और पुष्ट तथा वैज्ञानिक आधार विद्यमान है। यह तो विदित ही है कि वे भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध मानते हैं।[२०८] उनकी मान्यता है कि विषय-बोध या विषय का ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है।[२०९] ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।[२१०] अतः यदि विषय न होगा तो बोध किसका होगा और कैसे होगा और विषय-बोध के अभाव में भाव के जाग्रत होने और रसानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

तात्पर्य यह कि जब तक हमारे समक्ष विषय-रूप कोई कारण उपस्थित न होगा तब तक भाव का अनुभव नहीं हो सकता। कहना न होगा कि विषय का समावेश विभाव के अन्तर्गत ही है अतः रस के अनिवार्य, प्राथमिक एवं कारणभूत विभाव को भाव से अधिक महत्त्व देना, तर्कसंगत एवं युक्ति-युक्त है, अनुचित नहीं। हिन्दी के कुछ विद्वानों को शुक्ल जी की विभाव की प्रधानता सम्बन्धी मान्यता एवं रस सम्बन्धी मान्यता के बीच अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। ऊपर उद्धृत उक्ति के सम्बन्ध में डॉ० देवराज ने लिखा है—'दूसरा वाक्य रस को प्रधानता देता प्रतीत होता है, जैसे रस साध्य हो और विभावन व्यापार साधन। इसके विपरीत पहला वाक्य विभावों अर्थात् परिवेश (Environment) के मार्मिक चित्रण को प्रधानता देता है।'[२११] थोड़ा-सा ध्यान देने पर यह पता लग जाता है कि डॉ० देवराज जी को शुक्ल जी के दोनों वाक्यों में 'वैपरीत्य' या अन्तर्विरोध क्यों दिखायी पड़ता है? श्री देवराज जी ने 'विभाव' का शास्त्रीय अर्थ अथवा शुक्ल जी द्वारा गृहीत अर्थ न ग्रहण करके स्वेच्छापूर्वक उससे 'परिवेश' का अर्थ ग्रहण किया है। प्रश्न उठता है—किसका परिवेश? आलम्बन का, आलम्बन का परिवेश तो उद्दीपन मात्र होगा—विभाव का एक अंग मात्र होगा—वह भी अप्रधान अंग, विभाव नहीं। विभाव को 'परिवेश' कहना वस्तुतः उसके क्षेत्र से आश्रय एवं आलम्बन को बहिष्कृत कर उसे उद्दीपन मात्र समझना है। शुक्ल जी के विभाव का अर्थ—जिसे उन्होंने भावों का प्रकृत आधार और रस का आधार कहा है—परिवेश मात्र ग्रहण करना उचित नहीं कहा जा सकता। डॉ० देवराज जी, क्या आप की दृष्टि में रस या भाव का आधार विभाव 'परिवेश' मात्र होता है? किन्तु फिर भी 'रसाधार' होने के कारण वह प्रमुख होगा ही, तो फिर आपकी आपत्ति का क्या अर्थ है?

डॉ० देवराज की दूसरी महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति यह है कि उन्होंने काव्य में विभाव की प्रधानता का अर्थ यह लगाया कि काव्य में रस की तुलना में विभाव प्रधान होता है, जब कि विभाव और रस की तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं है। कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष—विभाव और अनुभाव, जो रस के संयोजक तत्त्व हैं, रस के साधन हैं और रस है साध्य। विभाव और भाव पक्ष दोनों रस के साधन-स्वरूप हैं। इन साधनों में विभाव असंदिग्ध रूप से प्रधान है। विभाव की प्रधानता का अर्थ है—भावपक्ष की तुलना में काव्य में विभाव पक्ष की प्रधानता, न कि रस की तुलना में विभाव की प्रधानता। अतः शुक्ल जी के उक्त कथन में कि—'काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए—रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है।' वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। इस सम्बन्ध में डॉ० जयचन्द्रराय का भी ऐसा ही मत है। उन्होंने लिखा है—"इन दोनों (वाक्यों) में विरोध किस बात का है यह समझ में नहीं आता—'विभाव' को वे साधन रूप में ही देखते और उसी रूप में मुख्य स्थान देते हैं। रसानुभूति कराने ही में तो उसकी सतर्कता है।"[२१२]

यहीं पर यह भी विचारणीय है कि शुक्ल जी की उक्त धारणा संस्कृत के आचार्यों

के अनुकूल है या प्रतिकूल ? विवेचनपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि शुक्ल जी की विभाव की प्रधानता वाली धारणा संस्कृत के आचार्यों की धारण पर आधारित और उससे अभिन्न है। अतः वह धारणा जो ऊपर से देखने पर सर्वथा नवीन लगती है, शब्दशः ही नवीन कही जा सकती है, तत्वतः नहीं। आचार्य भरत का प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[२१३] इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ पर रस के संयोजक तत्वों में 'विभाव' का स्थान प्रथम है और अनुभाव आदि का उल्लेख बाद में,—यह अकारण नहीं है। इसके पीछे एक ठोस आधार है, जिस पर उक्त क्रम आधारित है। कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है, कार्यकारण का परवर्ती, अतः उनका उल्लेख भी उसी क्रम से किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार 'लोक में रत्यादिभावों के जो कारण, कार्यद्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं।[२१४] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भरत के उक्त रससूत्र में भाव के कारण, द्योतक तथा पोषक तत्वों का क्रमशः निर्देश सजगतापूर्वक किया गया है। क्या इस क्रम में किसी-न-किसी दृष्टि से प्रधानता का तत्व अन्तर्हित नहीं है ? विचारपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि इस क्रम में प्रधानता का तत्व अन्तर्हित है, भले ही उसका स्पष्ट रूप से निर्वचन न किया गया हो। आचार्य शुक्ल ने इसी संकेतित अथवा अन्तर्हित प्रधानता का निर्वचन मात्र किया है, कोई सर्वथा नवीन स्थापना नहीं। उनका और प्राचीन आचार्यों का मत तत्वतः एक ही है—उसमें वैपरीत्य की थोड़ी भी सम्भावना नहीं।

डॉ० देवराज ने इसी सन्दर्भ में एक और असंगति (?) खोज निकाली है। उनका कहना है कि शुक्ल जी की साहित्य के प्रयोजन की व्याख्याएँ "भाव-सामंजस्य पर ही अधिक गौरव देती हैं। रिचर्ड्स ने भी अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य को काव्य का लक्ष्य बतलाया है किन्तु इसके साथ शुक्ल जी के 'विभावों की प्रधानता' वाले सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती ···।"[२१५]

डॉ० देवराज जी ने यह तो लिख दिया कि 'संगति नहीं बैठती' किन्तु असंगति क्या है, कैसी है, यह नहीं बताया। उन्होंने केवल कुछ प्रश्न मात्र सामने रख दिये हैं। उनका कहना है कि "यदि थोड़े विश्व के परिचय से अन्तर्वृत्तियों का काफी सामंजस्य प्राप्त हो जाए तो कवि 'व्यक्त-सत्ता-मात्र' के पीछे क्यों डोलता फिरे ? यदि 'केवल शेक्सपियर अथवा कालिदास किंवा तुलसी की कृतियों को पढ़कर पाठक के मनोभावों का समुचित व्यायाम हो सकता है तो वह विश्व-साहित्य से परिचित होने की चेष्टा क्यों करे ? और प्राचीन कवियों को छोड़कर आज नये साहित्य की भूख से क्यों पीड़ित हो।"[२१६]

अन्वेषण से पता चलता है कि शुक्ल जी ने कहीं भी 'थोड़े विश्व के परिचय', 'केवल शेक्सपियर अथवा कालिदास किंवा तुलसी की कृतियों को पढ़ने' या 'केवल प्राचीन कवियों को पढ़ने' और शेष अवशेष व्यक्त सत्ता, शेष सभी कवियों या नवीन कवियों को उपेक्षित करने के लिए नहीं कहा है। वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है।

उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को भावों का आलम्बन स्वीकार किया है। परम्परया शास्त्र में उद्दीपन मात्र के रूप में स्वीकृत प्रकृति को उन्होंने आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित किया है और उससे सम्बन्ध-विच्छेद के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है।'[२१७] जहाँ तक प्रयोजन के रूप में 'भाव-सामंजस्य' का प्रश्न है, वह केवल शेक्सपियर, कालिदास, तुलसी या प्राचीन कवियों की ही कृतियों का प्रयोजन नहीं अपितु 'साहित्य' मात्र का प्रयोजन है। 'विभाव की प्रधानता' और साहित्य के प्रयोजन 'भाव सामंजस्य' के बीच वस्तुतः कोई असंगति नहीं। केवल असंगति की बात ही एक असंगति है।

**विभाव**

आचार्य भरत ने 'विभाव' शब्द को कारण, निमित्त, हेतु आदि का पर्याय बताया है—'विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।'[२१८] आचार्य शुक्ल ने विभाव को कारण, निमित्त एवं हेतु का पर्याय नहीं कहा है, किंतु उनके द्वारा विवेचित 'विभाव में कारणता, निमित्तता या हेतुता निहित है। उन्होंने उसे भावों का प्रकृत आधार या विषय कहा है। श्री गोविन्द ठक्कुर के मतानुसार विभाव वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी भावों को आस्वाद योग्य बनाते हैं—'वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनः विभावयन्ति, आस्वाद योग्यतां नयन्ति इति विभावाः।'[२१९] शुक्ल जी का मत है कि विभाव के अन्तर्गत कवि ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जमाने में समर्थ होती हैं। भाव को उठाना और उसे जमाना निश्चय ही उसे आस्वादयोग्य बनाना है, अतः शुक्ल जी का मत सारतः श्री गोविन्द ठक्कुर के मत के अनुरूप ही है।

विभाव के सम्बन्ध में शुक्ल जी द्वारा यत्र-तत्र प्रसंगवश उल्लिखित कुछ और बातों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। एक स्थान पर उन्होने लिखा है—'विभाव वस्तु-चित्रमय होता है।'[२२०] उनका यह कथन बिम्ब सिद्धान्त के अनुरूप है। काव्य में कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थग्रहण कराने का नहीं,[२२१] अतः उसमें विभाव का भी बिम्ब-ग्रहण अनिवार्यतः अपेक्षित होता है, अर्थग्रहण मात्र नहीं। और चूंकि 'बिम्ब-ग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है[२२२] अतः अनिवार्यतः 'विभाव वस्तु चित्रमय होता है।' एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि —"विभाव व्यंग्य नहीं हुआ करता। × × मुक्तक में जहाँ नायक-नायिका का चित्रण नहीं होता वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।"[२२३] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी विभाव को अभिधेय, अनुमानगम्य या अक्षिप्त ही मानते हैं, व्यंग्य नहीं। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने 'विभाव' को भाव का संचार करने वाला 'ज्ञानात्मक अवयव' कहा है।[२२४] ध्यातव्य है कि उनका यह मत आचार्य भरत के मत के अनुरूप है। आचार्य भरत ने वाचिक, आंगिक तथा

सात्त्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु को ही 'विभाव' कहा है। उनकी दृष्टि में विभावन का अर्थ है 'विशेष ज्ञान।'

'अथ विभाव इति कस्मात्। उच्चते विभावो नाम विज्ञानार्थः।'[२२५]

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'विभाव' से अभिप्राय लक्षणग्रन्थों में गिनाए हुए भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बन मात्र से नहीं है।'[२२६] स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में आलम्बनमात्र विभाव नहीं होता। आलम्बन भी विभाव होते हैं, किन्तु वे ही विभाव हों, ऐसा नहीं। विभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। आलम्बन विभाव का एक अंग मात्र है, समग्र विभाव नहीं। विभाव के अन्तर्गत आलम्बन के अतिरिक्त आश्रय और उद्दीपन का भी समावेश रहता है। शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—'विभाव में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है।'[२२७] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी विभाव के अन्तर्गत आश्रय, आलम्बन एवं उद्दीपन तीनों को समाविष्ट करते हैं, मात्र आलम्बन को नहीं। एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है कि विभाव के अन्तर्गत कवि शब्दों द्वारा ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जमाने में समर्थ होती हैं।[२२८] विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि इसके अन्तर्गत प्रकारान्तर से भावों के आश्रय, आलंबन एवं उद्दीपन तीनों का समावेश है। काव्य में इन्हीं तीनों का अन्तर्बद्ध स्वरूप-चित्रण ही विभाव-विधान कहा जाता है। किन्तु कहीं-कहीं शुक्ल जी ने विभाव से आलम्बन या भाव के विषय मात्र का ग्रहण किया है, इसका कारण विभाव के अन्तर्गत आलम्बन की व्यापकता, अनिवार्यता, प्राथमिकता एवं प्रधानता ही है। उदाहरण के लिए उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि —'विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है, जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।'[२२९] कहना न होगा कि भाव या संवेदना का विषय ही आलंबन कहा जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि विभाव से यहाँ शुक्ल जी का तात्पर्य आलंबन मात्र से है। उसके अन्तर्गत आश्रय एवं उद्दीपन का समावेश नहीं है, किन्तु विभाव शब्द का यह वस्तुतः संकुचित अर्थ में चलता प्रयोग है अपने व्यापक एवं पारिभाषिक अर्थ में शुक्ल जी जब उसे प्रयुक्त करते हैं तब उसके अन्तर्गत वे आश्रय, आलंबन एवं उद्दीपन तीनों को समाविष्ट करते हैं। ऐसा पहले के उद्धरणों से स्पष्ट है।

संस्कृत के आचार्य भी विभाव के अन्तर्गत आश्रय, विषय तथा उद्दीपन—तीनों का समावेश मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने विभाव को पहले दो भागों में बाँटा है—(१) आलम्बन तथा (२) उद्दीपन। बाद में आलम्बन विभाव को पुनः दो भागों में बाँटा है—(१) विषय तथा (२) आश्रय।'[२३०] इनमें विषय को प्रायेण आलम्बन शब्द से ही अभिहित किया जाता रहा है और 'आश्रय' को आश्रय शब्द से। इस

प्रकार पण्डितराज के मतानुसार भी आलम्बन, उद्दीपन एवं आश्रय विभाग के तीन पक्ष ठहरते हैं। इनका पृथक-पृथक विवेचन आवश्यक है।

### आलम्बन

आचार्य शुक्ल ने आलंबन को 'भाव का विषय'[२३१] कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसे 'चित्तवृत्ति का विषय' कहा है—'यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलंबनम्।'[२३२] 'भाव का विषय' और 'चित्तवृत्ति का विषय' दोनों एक ही हैं। अनेक स्थानों पर शुक्ल जी ने आलंबन को भाव को जाग्रत करने[२३३] या 'उठाने वाला'[२३४] कहा है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में आलम्बन अनन्त होते हैं, उनकी कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। उन्होंने लिखा है कि 'जगत् की जो वस्तुएँ जो व्यापार या प्रसंग हमारे हृदय में किसी भाव का संचार कर सकें, उन सब का वर्णन आलम्बन का ही वर्णन माना जाना चाहिए।'[२३५] इस दृष्टि से उनका कथन है कि 'विश्व की अनन्तता के भीतर, मनुष्य जाति के ज्ञान-प्रसार के बीच, ऐसे वस्तु-व्यापार-योग और ऐसे प्रसंग भी हमारी पहुँच के हिसाब से अनन्त ही है।'[२३६] स्पष्ट है कि उनके मतानुसार किसी वस्तु के आलम्बन होने के लिए 'भाव-संचार' करने की क्षमता के अतिरिक्त और कोई शर्त नहीं। इसीलिए उनका कहना है कि आलंबन मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है।[२३७] अपनी इसी धारणा के आधार पर उन्होंने प्रकृति को स्वतन्त्र आलंबन के रूप में भी प्रतिष्ठित किया।[२३८] ध्यातव्य है कि प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को मात्र उद्दीपन के रूप में ही स्वीकार किया था, आलंबन के रूप में नहीं। इसका विस्तृत विवेचन स्वतंत्र रूप से अन्यत्र किया गया है, अतः यहाँ इसका विस्तार आवश्यक है। आलंबन के अन्तर्गत शुक्ल जी ने साधारण और असाधारण दोनों प्रकार की वस्तुओं को समाविष्ट किया है, उन्होंने किसी की भी उपेक्षा नहीं की है। उनका कथन है कि 'प्रसंग-प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है।'[२३९] विशेष विवेचन के लिए देखिए 'साहित्य की परिकल्पना' नामक अध्याय के अन्तर्गत 'काव्य-विषय' और 'काव्य में असाधारणत्व' उपशीर्षक।

शुक्ल जी की आलम्बन की अनन्तता की धारणा सर्वथा उचित है। वास्तव में आलम्बनों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। ज्ञान-प्रसार के साथ ही साथ भाव-प्रसार की भी सीमा बढ़ जाती है अतः नवीन आलम्बनों की योजना भी काव्य में होती जाती है। डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने ठीक लिखा है कि 'अधुनातन काव्य-सामग्री के अध्ययन से सभी रसों के अनेकानेक नवीन आलम्बनों का परिचय प्राप्त हो सकता है।'[२४०]

शुक्ल जी ने आलम्बन का वर्गीकरण भी किया है। उनके मतानुसार आलम्बन या तो सामान्य होता है या विशेष।[२४१] सामान्य आलम्बन के प्रति मनुष्यमात्र का

कम से कम सहृदय मात्र का वही भाव होता है, जो उसके प्रति आश्रय का होता है।[२४२] इसके विपरीत विशेष आलम्बन के प्रति श्रोता या दर्शक स्वभावतः उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यंजना आश्रय करता है, वह दूसरे 'भाव' का अनुभव करता है।[२४३]

शुक्ल जी का अपना मत है कि आलम्बन का इन्हीं दो कोटियों के आधार पर भावों को 'प्रधान' एवं संचारी में वर्गीकृत किया गया है। 'प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते हैं। शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गए हैं।'[२४४]

आलम्बन के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वह 'भाव' का कारण नहीं होता, बल्कि 'विषय' होता है। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि "विषय या आलम्बन 'भाव' का कारण नहीं है। जैसे, जिससे हम ईर्ष्या रखते हैं वह है विषय, उसके गुण, धन, वैभव आदि हैं कारण × × × रति, क्रोध आदि प्रधान भावों के आलम्बनों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। जैसे, नायिका आलम्बन और उसका रूप, गुण आदि कारण।'[२४५] इसके अतिरिक्त आलम्बनत्व के सम्बन्ध में उनकी यह भी धारणा स्पष्ट है कि साधारणतया तो प्रधान और संचारी सभी प्रकार के भावों के विषयों को आलम्बन कहा जा सकता है, किन्तु रसात्मकता की दृष्टि से आलम्बन वही विषय कहा जा सकता है जिसके प्रत्यय का बोध प्रधान होकर बना रहे। अतः रसात्मकता की दृष्टि से आलम्बन प्रधान भावों के ही विषय को कह सकते हैं।[२४६]

शुक्ल जी ने वीररस के आलम्बन के सम्बन्ध में एक मौलिक स्थापना की है, जिसका उल्लेख आवश्यक है। उनकी स्थापना है कि उत्साह का सीधा लगाव किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ न होकर कर्म के साथ होता है, अतः उसका आलम्बन कर्म ही होता है कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं। शुक्ल जी की यह स्थापना शास्त्रीय मान्यता के विपरीत है।

युद्ध वीर के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—'युद्ध वीर में विजेतव्य (शत्रु) जो आलम्बन कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थिर रहता है, वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय (आलम्बन) विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है।'[२४७]

शास्त्र में 'विजेतव्य' ही युद्ध वीर के उत्साह के आलम्बन[२४८] रूप में स्वीकृत हैं—युद्ध कर्म नहीं, अतः शुक्ल जी का यह मत शास्त्र सम्मत नहीं कहा जा सकता। केवल युद्धवीर नहीं, अपितु उसके अन्य भेदों में भी वे दुस्साध्य कर्म को ही आलम्बन स्वीकार करते हैं, व्यक्ति या वस्तु को नहीं।[२४९]

शुक्ल जी की प्रस्तुत स्थापना का औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है। कर्म को

किसी भी दशा में किसी भाव का आलम्बन स्वीकार नहीं किया जा सकता अधिक से अधिक वह उद्दीपन विभाव हो सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से कार्य या कर्म आलम्बनगत होने पर उद्दीपन के अन्तर्गत आता है या आश्रयगत होने पर अनुभाव के अन्तर्गत, वह आलम्बन नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि उत्साह का आलम्बन व कार्य होता है, जो अभी सम्पन्न नहीं हुआ है, अपितु जिसका सम्पादन भविष्य में किया जायगा, तो वस्तुतः वह कार्य तो उत्साह का लक्ष्य होगा, न कि आलम्बन। भाव के लक्ष्य और आलम्बन में भेद होता है—इसे भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार क्रोधी के द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला प्रहार आदि का कार्य क्रोध का लक्ष्य होता है आलम्बन नहीं, ठीक उसी प्रकार से उत्साही के द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला युद्ध आदि का कार्य उत्साह का लक्ष्य कहा जायगा, आलम्बन नहीं। सम्पन्न हो जाने पर प्रहार आदि और युद्ध आदि का कार्य शास्त्रीय दृष्टि से अनुभाव की संज्ञा प्राप्त कर लेंगे। उन्हें आलम्बन नहीं कहा जा सकता। शास्त्रीय विवेचन के अनुसार रस-प्रक्रिया के अन्तर्गत 'आलम्बन' विभाव के अन्तर्गत आता है न कि अनुभाव के अन्तर्गत। विभाव अनिवार्यतः अनुभाव का पूर्वगामी होता है। अतः उत्साह के आलम्बन को भी उसके अनुभाव के पहले ही विद्यमान होना चाहिए। उत्साही (उत्साह के आश्रय) द्वारा सम्पन्न कार्य निश्चय ही अनुभाव के अन्तर्गत होंगे, क्योंकि वे उत्साह द्वारा ही प्रेरित होते हैं। अतः उत्साही का कार्य अनुभाव होने के कारण उत्साह का आलम्बन नहीं हो सकता।

यह प्रश्न उठता है कि फिर उत्साही के उत्साह को आलम्बन क्या या कौन होगा ? उत्तर स्पष्ट है, किसी भाव का आलम्बन वही वस्तु होती है जो वासना रूप में मन में विद्यमान भाव को जाग्रत कर देती है। निश्चय ही वासना रूप में मन में विद्यमान उत्साह भाव उस वस्तु या व्यक्ति के ही द्वारा जाग्रत होता है जो कष्ट या हानि की संभावना वाले दुःसाध्य कर्म को करने के लिये प्रेरित करता है। अतः उत्साह का आलंबन होगी वह वस्तु, न कि वस्तु-प्रेरित कर्म, क्योंकि कर्म तो उत्साह के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् सम्पन्न होता है और उत्साह तो वस्तु के कारण पहले ही उत्पन्न हो गया रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि उत्साह वस्तु पर अवलम्बित रहता है न कि वस्तु-प्रेरित कर्म पर, अपितु इसके विपरीत वस्तु प्रेरित कर्म ही उत्साह पर अवलम्बित होता है, क्योंकि बिना उत्साह के वह सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः कर्म स्वयं उत्साह पर अवलम्बित होगा वह उत्साह का आलम्बन कैसे हो सकता है ?

विभाव पक्ष के उक्त तीनों तत्वों को शुक्ल जी काव्य में समान स्थान और महत्त्व नहीं देते, अपितु वे आलम्बन को ही प्रधान मानते हैं। उनका कथन है कि 'जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलम्बन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है।'[२५०] यहाँ 'अकेला' शब्द ध्यातव्य है। वह काव्य में आलम्बन की स्वतन्त्र एवं अद्वितीय सत्ता तथा उसकी महत्ता द्योतित कर रहा है। इसी से मिलता-जुलता अन्यत्र उनका कथन है कि 'जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार

से अपना काम कर चुका।'[२५१] उनकी दृष्टि में कवि के लिए 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ दिखाना अनिवार्य नहीं।[२५२] वे आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानते हैं।[२५३] उनका कहना है कि संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गयी है—केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं।[२५४] निष्कर्ष यह कि काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य है।[२५५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी कवि-कर्म विधान के विभाव और भाव दो पक्षों में विभाव को प्रधानता देते हैं और विभाव के अन्तर्गत आने वाले आश्रय, आलम्बन एवं उद्दीपन आदि तीनों पक्षों में आलम्बन को प्रधानता देते हैं। अंततः उनकी दृष्टि में काव्य में आलम्बन ही प्रमुख ठहरता है। आलम्बन के ऊपर इतना बल देना उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण का सहज परिणाम है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि आलम्बन की प्रधानता स्वीकार करना कोई नवीन एवं मौलिक बात नहीं है। आचार्य शारदातनय ने आलम्बन विभाव को ही वास्तविक रस-भूमि माना है—अत्रैवालम्बना-भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः।[२५६] साधारणतया सभी रसवादी आचार्यों की धारणा में विभाव के अन्तर्गत आलम्बन की प्रधानता स्वीकृत है।

रसानुभूति या रस निष्पत्ति की दृष्टि से शुक्ल जी उचित आलम्बन की सत्ता अनिवार्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार रस-निष्पत्ति के लिए आलम्बन का औचित्य अनिवार्य होता है। उनका कथन है कि आलम्बन के अनौचित्य से साधारणीकरण नहीं होता।[२५७] परिणाम स्वरूप रसभंग के कारण काव्य का प्रभाव बहुत हल्का हो जाता है।[२५८] आलम्बनौचित्य का विशेष विवेचन औचित्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है।

*आश्रय*

आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है।[२५९]

शुक्ल जी के मतानुसार आश्रय का अर्थ है—'भाव का अनुभव करने वाला।[२६०] भाव का अनुभव करने वाला होने के कारण आश्रय' हृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है,[२६१] मनुष्येतर सृष्टि का कोई भी पदार्थ नहीं। वे काव्य में आश्रय की स्थिति निवार्य और गौण मानते हैं, अनिवार्य और प्रधान नहीं। उनकी दृष्टि में 'यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशन करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं सकता।'[२६२] उनका कहना है कि "यदि ऐसा होता तो हिन्दी में 'नायिक-भेद और नख-शिख' के जो सैकड़ों ग्रन्थ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं।"[२६३]

आचार्य शुक्ल ने काव्य में आश्रय की दो प्रकार की स्थितियाँ बतलायी हैं। पहली स्थिति में आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी ऐसे भाव की व्यंजना करता है, जिसमें पाठक या श्रोता का हृदय सहज ही योग देता है। आश्रय की यह वह स्थिति है जिसमें श्रोता या पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य रहता है।[२६४] आश्रय की दूसरी स्थिति वह है जिसमें श्रोता या दर्शक का हृदय उसके हृदय से अलग रहता है अर्थात् श्रोता, या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना आश्रय अपने आलम्बन के प्रति करता है, अपितु आश्रय के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है।[२६५] शुक्ल जी ने बतलाया है कि 'आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा।'

## उद्दीपन

शुक्ल जी के मतानुसार आलम्बन भाव को जाग्रत करते हैं और उद्दीपन उन्हें उत्कर्ष स्थिति में पहुँचाते हैं।[२६६] उद्दीपन सम्बन्धी उनकी यह धारणा संस्कृत के आचार्यों की धारणा के अनुरूप है। संस्कृत के आचार्यों ने भी भाव को उद्दीप्त करने वाली वस्तुओं को उद्दीपन कहा है।[२६७] उद्दीपन के अन्तर्गत उन्होंने मुख्यतः आलम्बन की चेष्टाएं और परिवेश (देश-काल आदि) को ही लिया है। संस्कृत के आचार्यों ने भी इन्हें ही उद्दीपन के अन्तर्गत ग्रहण किया है।[२६८] अन्तर केवल इतना है कि संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति अर्थात् परिवेश को मात्र उद्दीपन के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य शुक्ल उसे सन्दर्भवश आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-साहित्य में इसे प्राचीन काल से ही दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता रहा है। जब इसका वर्णन सापेक्ष रूप में होता है तब यह उद्दीपन कहलाती है और जब इसका वर्णन निरपेक्ष रूप में केवल इसी का रूप दिखाने के लिए किया जाता है, तब यह आलम्बन का रूप धारण कर लेती है।

शुक्ल जी ने उद्दीपन को दो कोटियों में विभक्त किया है – (१) आलम्बनगत और (२) बाह्य।[२६९] आचार्य विश्वनाथ ने उद्दीपन के क्रमशः चार भेद बताये हैं—(१) आलम्बन के गुण, (२) उसकी चेष्टाएँ (३) उसका अलंकरण और (४) तटस्थ।[२७०] आलम्बन के गुणों में रूप-यौवन, चेष्टाओं में हाव-भाव आदि, अलंकरण में नूपुर तथा अंगराग आदि का धारण करना तथा तटस्थ के अन्तर्गत चन्द्र, मलयानिल आदि आते हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें से आरंभिक तीन आलम्बन से अविच्छिन्न हैं अतः उन्हें आलम्बनगत कहा जा सकता है, और अन्तिम 'तटस्थ' अर्थात् वातावरण या प्रकृति को 'बाह्य' उद्दीपन कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह कि शुक्ल जी का उद्दीपन का वर्गीकरण तत्त्वतः प्राचीन आचार्यों के ही अनुरूप है।

**भाव**

'रसमीमांसा' में 'भाव' का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह बतलाया है कि उसके भीतर तीन अंग पाये जाते हैं—

१—वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है (वासना)।

२—वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और 'भाव' का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलम्बन आदि की भावना)।

३—वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

निष्कर्षतः उनके मतानुसार 'भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर संबद्ध संघटित हों। संक्षेप में—प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।'[२७१]

शुक्ल जी ने वासना को भाव का अंग माना है, भाव नहीं। उनकी दृष्टि में वासना और भाव दोनों एक नहीं, उनमें भेद है। वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है, और भाव वेद्य-प्रधान (आलम्बन-प्रधान) होता है।'[२७२] वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है, पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरान्त नहीं रह जाता।[२७३] वासना की प्रेरणा से होने वाली क्रिया का रूप निर्दिष्ट होता है, वह सदा एक रूप होती है, किन्तु भाव की प्रेरणा से होने वाली क्रिया बहुरूपिणी होती है—अर्थात् वह कभी किसी प्रकार की होती है, कभी किसी प्रकार की।[२७४] इसके अतिरिक्त वासनात्मक प्रवृत्ति का 'जीवन-प्रयत्न' से सीधा लगाव होता है, पर भाव के और और लक्ष्य हुआ करते हैं।'[२७५] इन अन्तरों के बावजूद शुक्ल जी 'वासना' और 'भाव' में घनिष्ठ एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना है कि "मूल में वासनात्मक प्रवृत्ति बनी रहती है और 'भाव' से उस प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है।'[२७६]

भाव को उन्होंने इन्द्रियज संवेदन से भी पृथक् किया है। इन्द्रियज सम्वेदन वेदना-प्रधान होता है, जब कि भाव वेद्य-प्रधान (आलम्बन-प्रधान)।[२७७] भाव, वासना और इन्द्रियज संवेदन के आन्तरिक सम्बन्धों को भी उन्होंने संक्षेप में ही इस प्रकार कह कर स्पष्ट कर दिया है—'सुख और दुःख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले-पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रकट हुए, जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे, पीछे भाव रूप में आएँ।'[२७८] इस उद्धरण से इन्द्रियज संवेदन के

आधार पर संस्कार या वासना की प्रतिष्ठा और वासना के आधार पर भाव-प्रतिष्ठा का क्रमबद्ध मनोविज्ञान सम्मत स्वरूप स्पष्ट है।

शुक्ल जी ने भाव और मनोवेग का भी अन्तर स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार "मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है, जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे।[२७९] इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग ही है, 'भाव' नहीं।'[२८०] इसी प्रकार भाव को शरीर-वेगों से पृथक करते हुए उन्होंने कहा है कि 'वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर-वेगों से भिन्न है।'[२८१] यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि शुक्ल जी भाव और शरीर-वेग में कोई सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'कि भाव एक मानसिक-शारीरिक विधान या व्यवस्था है।'[२८२] वस्तुतः भाव को शरीर-वेग से पृथक् मानने का तात्पर्य यह है कि शरीर-वेग स्वतन्त्र रूप से भाव नहीं, किन्तु वह भाव का अंग हो सकता है और होता है।

डॉ० रामलाल सिंह ने तुलनात्मक आधार पर यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया है कि शुक्ल जी द्वारा रस-मीमांसा में विवेचित उपर्युक्त 'भाव का लक्षण', 'उसके तीन अंगों का निरूपण' एवं 'संवेदन, वासना, मनोवेग तथा शरीर-वेग से उसके अन्तर का स्पष्टीकरण' मूलतः पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक शैण्ड की प्रसिद्ध पुस्तक 'फाउण्डेशन्स आव कैरेक्टर' पर आधारित है। उन्होंने प्रमाण के लिए सम्बद्ध अंशों को उद्धृत भी किया है।[२८३] स्वयं आचार्य शुक्ल ने इसका स्पष्ट संकेत 'रस-मीमांसा' में 'भाव विधान की सबके आधुनिक मीमांसा शैण्ड ने की है।'[२८४] कहकर दिया है।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों में भाव के विषय में मतैक्य नहीं है। श्री एम० एफ० मेयर आदि अनेक विद्वान भाव की स्वतन्त्र सत्ता मानने से इनकार करते हैं और 'भाव' शब्द को मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनावश्यक समझते हैं।'[२८५] किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में वह भले ही अनावश्यक हो, किन्तु साहित्य-मीमांसा के क्षेत्र में या जीवन के अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में उसका व्यवहार होता ही है, अतः उसकी सत्ता माननी ही होगी।

शुक्ल जी द्वारा शैण्ड के आधार पर किए गए भाव-विवेचन का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि भाव के लिए कुछ स्थितियाँ अनिवार्य होती हैं—

(१) भाव के विषय की स्थिति।

(२) भाव के विषय-बोध पर आधारित सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अनुभूति की स्थिति।

(३) इस अनुभूति द्वारा प्रेरित प्रयत्न की स्थिति।

(४) परिणामस्वरूप शारीरिक विकार की स्थिति।

(५) समूची प्रणाली के बीच अनेक मनोवेगों की स्थिति।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक श्री जेम्स ड्रेवर ने विवादों से बचकर भाव का एक सर्वसम्मत स्वरूप निरूपित किया है। उनका कहना है कि "भाव का वर्णन और विवेचन भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया है, किन्तु वे सभी इस बात

में एक मत हैं कि वह जैविक विधान की एक जटिल (मिश्रित) अवस्था है, जिसमें शरीर में विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि श्वसन-क्रिया में, नाड़ी में, ग्रन्थियों की रसन-क्रिया में, मानसिक दृष्टि से वह उत्तेजना की स्थिति है जिसमें तीव्र अनुभूति और साधारणतः एक निश्चित प्रकार के व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति रहती है। यदि भाव तीव्र होता है तो बौद्धिक क्रियाएं भी थोड़ी-बहुत अस्तव्यस्त हो जाती हैं—कुछ सीमा तक सम्बन्ध-क्रम टूट जाता है और एक क्रमहीन या अस्पष्ट व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके आगे कुछ और कहने का अर्थ होगा, विवाद के क्षेत्र में प्रवेश करना।'[२८६]

श्री ड्रेवर द्वारा प्रस्तुत भाव सम्बन्धी उस सर्वसम्मत स्वरूप की व्याख्या करने पर पता चलता है कि—उसमें भाव के विषय की अनिवार्य स्थिति की स्पष्ट स्वीकृति नहीं है। इसके अतिरिक्त ऊपर बतायी गई भाव के लिए अनिवार्य सभी स्थितियाँ—*अनुभूति, प्रयत्न, शारीरिक विकार और मनोवेग सम्बन्धी—इसमें निहित हैं।* ध्यान-पूर्वक देखने पर पता चलता है कि इसमें दो और बातों—बौद्धिक क्रियाओं की अस्त-व्यस्तता और क्रमहीन या अस्पष्ट व्यवहार—का भी समावेश किया गया, किन्तु उन्हें भाव की तीव्रता में ही स्वीकार किया गया है, सामान्यतः भाव की अनिवार्य स्थिति नहीं माना गया है, अतः यदि इसमें आलम्बन या विषय की स्थिति को अव्यक्तरूप में विद्यमान मान (स्वतः ग्रहण कर) लिया जाय, जैसा कि स्वाभाविक है, क्योंकि भाव जब भी होता, किसी न किसी विषय के प्रति होता है, तो शुक्ल जी द्वारा विवेचित और श्री ड्रेवर द्वारा प्रस्तुत 'भाव' के स्वरूप में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं।

### भाव की दशाएं

आचार्य शुक्ल ने भाव की तीन दशाएं निरूपित की हैं —१—क्षणिक या भाव दशा, २—स्थायी दशा और ३—शीलदशा। किसी एक आलम्बन के प्रति किसी अवसर-विशेष पर किसी भाव का होना उस भाव की क्षणिक या भाव-दशा कहलाती है, एक ही आलम्बन के प्रति किसी भाव का अनेक अवसरों पर होना उस भाव की स्थायी दशा कहलाएगी और अनेक आलम्बनों के प्रति अनेक अवसरों पर किसी भाव का होना उस भाव की शीलदशा कहलाती है।'

भावों की शीलदशा का विवेचन शुक्ल जी का अपना मौलिक विवेचन है। मनोवैज्ञानिकों ने स्थायीदशा और शीलदशा में पार्थक्य नहीं किया है। अतः इसका किंचिद् विशद् विवेचन आवश्यक है। निष्कर्ष रूप में उन्होंने बताया है कि भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था ही शीलदशा है।'[२८७] जब कोई भाव प्रकृतिस्थ हो जाता है तो वह एक ही आलम्बन से बद्ध नहीं रहता, समय-समय पर भिन्न-भिन्न आलम्बन ग्रहण करता रहता है।'[२८८] जैसे यदि 'क्रोध' भाव प्रकृतिस्थ हो गया है तो एक ही व्यक्ति के प्रति 'बैर' के रूप में न टिकेगा, बल्कि अनेक व्यक्तियों के प्रति समय-समय पर प्रकट हुआ करेगा जिसमें मनुष्य क्रोधी या चिड़चिड़ा कहलाएगा।[२८९]

शुक्ल जी के भाव की शीलदशा के निर्धारण का प्रत्यक्ष रूप से पुष्ट आधार जीवन में ही मौजूद है। अतः शीलदशा काल्पनिक नहीं, अपितु वस्तुगत दशा है, जिसका निराकरण असम्भव है। भाव-दशा का यह निरूपण साहित्य के विवेचन में बहुत उपयोगी है।

काव्य में भाव की उक्त तीनों दशाओं का उपयोग होता है।[२९०] लक्षण ग्रंथों में रस-व्यंजना की जो परिपाटी बतायी गयी है—उसका पालन तो अपनी अन्तर्दशाओं (संचारियों) के सहित भावदशा से ही हो जाता है।[२९१] स्थायी दशाओं का भी व्यापक उपयोग प्रबन्ध काव्यों में प्रारम्भ से ही होता आया है, जैसे राम का समुद्र तट पर बैठकर धीरता-पूर्वक सेतु बँधवाना क्रोध की स्थायी दशा 'बैर' ही है, भावदशा नहीं।[२९२] काव्य में भावों की 'स्थायीदशाओं' को भी लेने से रस-क्षेत्र का विस्तार बढ़ जाता है,[२९३] ऐसा शुक्ल जी का कथन है। उनकी दृष्टि में भावों की शीलदशा का सम्बन्ध चरित्र-चित्रण से है।[२९४] मुक्तक में रस की रस्म अदा की जाती है, उसमें शीलदशा का समावेश नहीं होता।[२९५] किन्तु मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखने वाले प्रबन्धकाव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार 'शीलदशा' ही है।[२९६]

काव्यगत भाव का विवेचन करने के पहले भावों के वर्गीकरण का उल्लेख आवश्यक है। काव्य के प्रयोजन की दृष्टि में रखकर रस-विरोध तथा विरुद्ध-अविरुद्ध संचारियों की व्याख्या के निमित्त शुक्ल जी ने अनुभूति की सुखात्मकता और दुःखात्मकता के आधार पर उन्हें सुखात्मक और दुःखात्मक दो वर्गों में विभक्त किया है। इस दृष्टि से उन्होंने राग, हास, उत्साह और आश्चर्य भावों को सुखात्मक तथा शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा को दुःखात्मक माना है।[२९७]

भाव के प्रस्तुत वर्गीकरण का अंकुर आचार्य अभिनवगुप्त के विवेचन में निहित है। उन्होंने निर्वेद के अतिरिक्त शेष सभी भावों को उभयात्मक मानते हुए भी रति, क्रोध, भय और जुगुप्सा को दुःख स्वभाव कहा है।

तथाहि—रति-हास-उत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावत्वम्।

× × ×

क्रोध-भय-शोक-जुगुप्सानांतु दुःखरूपता ॥[२९८]

**काव्यगत भाव**

आचार्य शुक्ल काव्य-सम्बन्धी भाव का प्रधान रूप अनुभूत्यात्मक मानते हैं।[२९९] क्रोचे ने कल्पना पक्ष को प्रधानता देकर उसका प्रधान रूप ज्ञानात्मक कहा है, किन्तु शुक्ल जी इससे सहमत नहीं।[३००] यद्यपि वे भाव के अन्तर्गत बोधवृत्ति या ज्ञान के अवयव रूप में समाविष्ट करते हैं तथापि वे भाव को प्रधानतया अनुभूत्यात्मक ही मानते हैं, ज्ञानात्मक नहीं। उन्होंने लिखा है कि "भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी

होता है। रस-निरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है, वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है।"[301]

संस्कृत के साहित्याचार्यों ने साहित्य अथवा काव्य-गत भाव का ही विवेचन किया है, लौकिक जीवन-गत भाव का नहीं, किन्तु फिर भी उनके विवेचन का आधार लौकिक ही रहा है। आचार्य भरत ने भाव की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या की है—'भावा इतिकस्मात्। किं भवन्ति इतिभावाः, किंवा भावयन्तीति भावाः।'[302] भाव की व्युत्पत्ति किस प्रकार की जाए ? जो होते हैं वे भाव हैं अथवा जो भावित करते हैं वे भाव हैं ?

पहली व्युत्पत्ति 'होने' के अर्थ में है, जिसका आशय है स्थिति या सत्ता, दूसरी व्युत्पत्ति 'करने' के अर्थ में है और उसका आशय है 'व्याप्त करने वाला'। उन्होंने ( भरत ) काव्यशास्त्र के प्रसंग में इस दूसरे ही अर्थ को ग्रहण किया है। यह भाव का अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ है, इसके अन्तर्गत समग्र रस-व्यंजक सामग्री—स्थायी, संचारी, विभाव और अनुभाव—का समावेश है। किन्तु आगे चलकर उन्होंने विभाव और अनुभाव को पृथक् कर दिया है।

आचार्य भरत की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या से भाव के स्वरूप पर कोई खास प्रकाश नहीं पड़ता है तथापि उसकी अनुभूत्यात्मकता प्रकट है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उसे चित्तवृत्ति रूप माना है—'भाव शब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः।'[303]

काव्यगत भाव का आचार्य शुक्ल ने भी विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में गिनाए गए नौ स्थायी भावों का उन्होंने ज्यों का त्यों उल्लेख[304] किया है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, जुगुप्सा और निर्वेद। ध्यातव्य है कि संस्कृत के आचार्यों ने भावों को स्थायी और संचारी दो वर्गों में वर्गीकृत किया है। स्थायी के अन्तर्गत सामान्यतः इन्हीं नौ भावों की गणना की गयी है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कहना है कि 'स्थायी संचारी का भेद बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म दृष्टि के वैज्ञानिक आधार पर हुआ है।'[305]

प्राचीन आचार्यों के इस वर्गीकरण के आधार को आचार्य शुक्ल ने खोजने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि 'साहित्य के आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं। वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं।'[306] अंततः सारांश रूप में उनका कथन है कि 'प्रधान (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) भाव वही कहा जा सकता है जो—रस की अवस्था तक पहुँचे—रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।'[307] (साहित्य दर्पण, तृ० प०)।

अपने इस मत को उन्होंने आलम्बन को केन्द्र में रखकर और अधिक स्पष्ट

रूप में व्यक्त किया है। इस दृष्टि से वह भाव, जिसका आलम्बन सामान्य होता है, *प्रधान या स्थायी भाव कहलाता है, क्योंकि ऐसे भाव में श्रोता या दर्शक का हृदय* योग देता है और वह भाव, जिसका आलम्बन, विशेष होता है, वह संचारी भाव कह- *लाता है, क्योंकि ऐसे भाव में श्रोता या दर्शक का हृदय योग नहीं देता। उनका कहना* है कि हमारे आचार्यों द्वारा 'प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके *आलम्बन सामान्य हो सकते हैं। शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले* गये हैं।'[३०८] आलम्बन के सामान्यत्व और विशेषत्व के आधार पर स्थायी और संचारी का वर्गीकरण शुक्ल जी की नवीन खोज नहीं, *अपितु उसका प्रस्तुतीकरण मात्र* नवीन है। शारंगदेव के संगीत रत्नाकर में इसका उल्लेख एक प्रकार से किया गया है—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठ विभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः॥[३०९]

प्रश्न यह है कि भावों के वर्गीकरण का प्रस्तुत आधार क्या पूर्णतया युक्ति-युक्त है? वह पूर्णरूपेण युक्ति-युक्त तभी हो सकता है, जब संचारी भावों में परिगणित किसी भी भाव का आलम्बन किसी भी दशा में सामान्य न हो सके, अन्यथा वह रस अवस्था को पहुँचकर प्रधान या स्थायी हो जायगा। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। संचारियों में परिगणित अनेक भावों का आलम्बन सामान्य भी हो सकता है, जैसे 'गर्व'। जब किसी व्यक्ति को अपनी बुद्धिमत्ता पर गर्व है, जब कि वस्तुतः वह मूर्ख है, तो उसके गर्व में श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, किन्तु यदि वह व्यक्ति वस्तुतः बुद्धिमान है और उसका गर्व उसकी बुद्धिमत्ता की मात्रा के ही अनुरूप है तो श्रोता या दर्शक का हृदय (एक सीमा तक) उसका समर्थन करेगा। और यदि किसी को अपने देश के लोक प्रिय नेता की वास्तविक बुद्धिमत्ता पर गर्व है तो निश्चय ही लोक का हृदय उसमें योग देगा, इसी प्रकार यदि किसी को अपने देश पर उचित गर्व है तो प्रायः सभी देशवासियों का हृदय उसमें योग देगा। इससे स्पष्ट है कि गर्व का भी आलम्बन सामान्य हो सकता है और 'गर्व' भाव भी रस अवस्था तक पहुँच सकता है। इसी प्रकार ईर्ष्या आदि का भी आलम्बन सामान्य हो सकता है। अतः आचार्य शुक्ल की उक्त स्थापना ऊपरी दृष्टि से ही युक्ति-युक्त हो सकती है, तत्वतः नहीं। ध्यातव्य है कि श्री भोज ने 'गर्व' को 'उद्धत' रस का स्थायी भाव माना भी है।'[३१०]

संस्कृत के काव्यशास्त्र में 'स्थायी भावों के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि उनकी संख्या अस्थिर रही है, यदि ऊपर गिनाए गए नौ भावों के ही सामान्य आलम्बन हो सकते हैं, और भावों के नहीं, तो इस सिद्धान्त के अनुसार स्थायी भावों की संख्या स्थिर रहनी चाहिए थी, किन्तु वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। आचार्य भरत ने मूलतः आठ ही स्थायी भाव माने हैं, बाद में सम्भवतः आचार्य उद्भट ने 'शम' स्थायी भाव की उद्भावना की और स्थायी भावों की संख्या आठ से बढ़कर नौ हो गई। फिर भी नवीन स्थायी भावों की उद्भावना होती रही। आचार्य रुद्रट ने

'स्नेह'[३११] की, भोज ने मति,[३१२] गर्व और हर्ष की, विश्वनाथ ने वत्सल भाव[३१३] की, भानुदत्त ने मिथ्याज्ञान[३१४] और स्पृहा[३१५] की, रूपगोस्वामी ने भक्ति की उद्भावना की। अतः यह प्रश्न या समस्या बनी ही रहती है कि भावों को स्थायी भाव और संचारीभाव में वर्गीकृत करने का आधार क्या है? एक स्थल पर शुक्ल जी ने लिखा है 'स्थायी वे ही भाव माने गये हैं जो संक्रामक हैं, जिनकी व्यंजना श्रोता या पाठक में भी उन्हीं भावों का संचार कर सकती है।'[३१६] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पहले कही गई बात की ही नवीन शब्दों में पुनरावृत्ति है, कोई नवीन उपपत्ति नहीं। अतः इससे समस्या का पूर्ण समाधान नहीं माना जा सकता।

स्थायी भावों के वर्ग में किन-किन भावों को लिया जाय? इस प्रश्न पर 'स्थायी' शब्द के अभिप्राय से भी प्रकाश पड़ने की संभावना है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार स्थायित्व के दो अर्थ हो सकते हैं।—(१) किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों-का-त्यों बना रहे। (२) किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि—उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें।'[३१७]

शुक्ल जी के मतानुसार स्थायित्व के इन दो अर्थों में से 'आचार्यों का अभिप्राय प्रथम प्रकार के स्थायित्व से है, क्योंकि 'रति' ही एक ऐसा स्थायी है, जिसमें द्वितीय प्रकार का दीर्घकाल व्यापी स्थायित्व घटित होता है, शेष में प्रथम प्रकार का ही स्थायित्व पाया जाता है।'[३१८]

आचार्य विश्वनाथ ने प्रथम प्रकार का ही स्थायित्व 'स्थायी' शब्द से ग्रहण किया है। उनके मतानुसार स्थायी भाव वह भाव है, जिसे विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता।

अविरुद्धा विरुद्धावायं तिरोधातुमक्षमाः।
अस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥[३१९]

इस लक्षण के विषय में शुक्ल जी का कथन है कि वह रति को छोड़ (जो राग की स्थायी दशा है) क्रोध आदि भावों में नहीं घटता।[३२०] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी को वर्गीकरण का उक्त आधार भी पूर्णतया मान्य नहीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थायीभाव को शुक्ल जी ने एक 'भाव-कोश'[३२१] बताया है। 'भाव-कोश' से अभिप्राय भाव-समष्टि नहीं हैं, बल्कि अन्तःकरण में संघटित एक प्रणाली मात्र है, जिसमें कई भिन्न-भिन्न भावों का संचार हुआ करता है।[३२२] जैसे रति एक प्रणाली या भाव कोश है—जिसमें प्रिय का साक्षात्कार होने पर हर्ष, वियोग होने पर विषाद, उस पर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शंका, उसे दुःख पहुँचाने वाले को देख क्रोध इत्यादि अनेक भावों का स्फुरण होता है।[३२३] शुक्ल जी के मतानुसार चित्त की ऐसी स्थितियाँ, जिन्हें भाव कोश कहते हैं, स्थायी होती है।[३२४]

भाव प्रणाली या भाव-कोश के भीतर उसकी नींव देने वाला मूल भाव भी अन्तर्हित रहता है, किन्तु भावकोश भावदशा से भिन्न होता है।[325] इसमें लक्ष्य-साधन के लिये बुद्धि या विवेक से काम लेने का अधिक अवकाश प्राप्त रहता है,[326] भाव में कम। भाव में संकल्प वेगयुक्त होते हैं पर भावकोश में धीर और संयत।[327] भाव-कोश का विधान भाव विधान से उच्चतर और परवर्ती होता है।[328] इन्हीं भाव कोशों या भाव प्रणालियों की स्थापना के अनुसार मनुष्य में शील या आचरण की प्रतिष्ठा होती है।[329]

आचार्य शुक्ल द्वारा स्थायी भाव का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया यह विवेचन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक शैण्ड कृत मूलभावों के विवेचन पर आधारित है। ध्यातव्य है कि मनोवैज्ञानिकों ने भावों को स्थायी एवं संचारी में कहीं भी वर्गीकृत नहीं किया है। मनोवैज्ञानिक ने भावों को 'मूल' और 'तद्‌भव' में वर्गीकृत[330] किया है। 'जिस भाव की अनुभूति किसी दूसरे भाव की पूर्वानुभूति की आश्रित न हो वह मूल भाव है, जैसे क्रोध, भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य जो दूसरे भाव की अनुभूति के आश्रय से उत्पन्न हो वह तद्‌भव है—जैसे दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप इत्यादि।'[331]

शुक्ल जी ने यह बताया है कि साहित्य में परिगणित स्थायी भावों में से हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़कर शेष सब भाव वे ही हैं जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञानियों ने मूलभाव कहा है।[332] किन्तु फिर भी मनोविज्ञान के मूलभाव और साहित्य के स्थायी भाव में अन्तर है। इस अन्तर को उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि पाश्चात्य भाव-वेत्ता शैंड के अनुसार 'क्रोध, भय, आनन्द और शोक जो मूलभाव कहे गए हैं उनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध बाकी औरों से रहता है। (उदाहरणार्थ) क्रोध को ही लीजिए। उनके लक्ष्य की पूर्ति न होने पर शोक या विषाद, पूर्ति हो जाने पर आनन्द, कठिनाइयाँ दिखायी देने पर पूर्ति न होने की आशंका तक हो सकती है।'[333]

उनकी दृष्टि में भारतीय साहित्यिकों की स्थायी संचारी व्यवस्था भी सम्बन्ध व्यवस्था ही है, पर विशेष प्रकार की। वह अधिकार व्यवस्था के रूप में है।[334] दोनों में अन्तर यह है कि मनोविज्ञानियों की ऊपर लिखी सम्बन्ध व्यवस्था में मूल या जनक भाव स्वप्रवर्तित अन्य भाव के उदय के समय अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है। जैसे, जिससे हमारा प्रेम है उसे पीड़ित करने वाले पर जिस समय हमें क्रोध आएगा उस समय रति भाव की अनुभूति के लिये कोई अवकाश चित्त में न रहेगा। पर साहित्य में रति के जो संचारी कहे गये हैं उनके प्रतिति काल में रति का आभास बना रहेगा। नायिका मान के समय में जो क्रोध प्रकट करेगी वह ऐसा बलवान् न होगा कि 'रति-भाव' को सर्वथा हटा सके।[335]

विचारपूर्वक देखने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ पर शुक्ल जी ने आचार्य विश्वनाथ के स्थायीभाव के लक्षण को जिसके अनुसार स्थायी भाव वह भाव है जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता, स्वीकार कर लिया है, जिसके विषय में उन्होंने यह कहा था कि यह लक्षण 'रति' को छोड़ क्रोध

आदि भावों में घटित नहीं होता । स्पष्टतः शुक्ल जी का यह एक गहरा अन्तर्विरोध है । इस अन्तर्विरोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि *स्थायी* और *संचारी* में भावों को वर्गीकृत करने का कोई मूल आधार खोज निकालने के अथक प्रयास के अनन्तर भी वे कोई सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार नहीं प्राप्त कर सके हैं ।

साहित्य में भावों के इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, फिर भी इसे हम मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते । स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन नैसर्गिक, तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है जो मानव-स्वभाव के आधारभूत अंग हैं, जिन्हें साधारणतः मूल-मनोवेग ( एलिमेंटल पैशन्स ) कहा गया है ।'[३३६]

आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र दोनों ही विद्वानों ने भारतीय साहित्याचार्यों के उपर्युक्त वर्गीकरण को (आधुनिक) मनोविज्ञान के प्रकाश में विवेचित कर उसे औचित्य-पूर्ण सिद्ध करने के प्रयास किये हैं । ये प्रयास कितने भी महत्वपूर्ण क्यों न हों, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्याचार्यों द्वारा परिगणित इन स्थायी भावों के आधार पर न तो जीवन की ही व्याख्या आज संभव है और न साहित्य की ही । वस्तुतः जीवन को ही 'भाव' और साहित्य दोनों की व्याख्याओं का आधार बनाना होगा । साहित्य की व्याख्या का एक आधार-विशेष भाव भी हो सकते हैं, किन्तु उनमें किसी भी प्रकार की रूढ़ि या संकीर्णता उसकी व्याख्या में बाधक ही होगी । यदि मनोविज्ञान द्वारा विवेचित मूल प्रवृत्तियों को ही आधार स्वीकार किया जाय, जैसा कि शुक्ल जी एवं नगेन्द्र जी मानते हैं तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित 'भोजनो-पार्जन' की मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध 'क्षुधा'[३३७] भाव को किस आधार पर उपेक्षित किया जा सकता है ? डॉ० नगेन्द्र की भाँति 'क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है'[३३८] कहकर उसे नहीं टाला जा सकता है ।

भावों के वर्गीकरण सम्बन्धी शुक्ल जी के प्रयास के सम्बन्ध में अन्ततः कहना चाहिये कि उन्होंने अपने प्रयास से नवीन ज्ञान-विज्ञान से दूर अन्धकार में पड़े हुए परम्परित वर्गीकरण को मनोविज्ञान के प्रकाश में लाकर सड़ने से बचाया और उसे उन्नत, परिष्कृत एवं संशोधित करने के अनन्त अवसर प्रदान किये । यही उनके प्रयास की सार्थकता है ।

काव्य में भाव की शीलदशा का विवेचन शुक्ल जी की मौलिक उद्‌भावना है, जो पूर्णतया वैज्ञानिक कही जा सकती है । इस उद्‌भावना के द्वारा उन्होंने 'भाव-विवेचन' को उन्नति एवं पूर्णता की ओर अग्रसर किया है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता । काव्य के अन्तर्गत भावों की शीलदशा का सम्बन्ध उन्होंने पात्रों के चरित्र-चित्रण से जोड़ा है ।[३३९] इस शीलदशा के प्रकाश में लेखक पात्रों के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त कौशल का विन्यास एवं विकास कर सकते हैं ।

संचारी भाव

शुक्ल जी के स्थायी भाव-विवेचन पर विचार करते समय संदर्भवश संचारी भाव सम्बन्धी उनकी धारणाओं का यत्किंचित् उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। अत: यहाँ केवल उन्हीं बातों का उल्लेख किया जायगा, जिनका उल्लेख पीछे नहीं किया गया है।

कार्य की दृष्टि से शुक्ल जी के मतानुसार संचारीभाव मूल या स्थायीभाव को पुष्ट एवं तीव्र करता है,[३४०] किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ये वे भाव सदा प्रधान या स्थायी भावों के द्वारा प्रवर्तित होकर अनुचर के ही रूप में आएँ, वे अपने निज के अनुभावों सहित स्वतन्त्र रूप में भी आते हैं और आ सकते हैं, किन्तु वे पूर्ण रस की अवस्था को नहीं प्राप्त होते अर्थात् ऐसी दशा में नहीं पहुँचते जिसमें श्रोता या दर्शक भी आश्रय में उनकी विशद अभिव्यंजना देख उनका अनुभव हृदय में करने लगें और समान अनुभाव प्रकट करने लगे।[३४१] कभी-कभी संचारी भाव प्रधान होकर भी आते हैं—यह प्रधानता दो प्रकार की हो सकती है—(१) वह प्रधानता जो किसी नियत प्रधान भाव के स्फुट न होने से प्रतीत हो। जैसे लज्जा श्रृङ्गार के स्फुट न होने पर प्रधान रूप धारण कर लेती है। (२) वह प्रधानता जो नियत प्रधान भाव के स्फुट होने पर भी उसके ऊपर प्राप्त हो। जैसे क्रोध असूया का संचारी होकर आ सकता है और जुगुप्सा गर्व का।[३४२] यह भी आवश्यक नहीं कि संचारी भाव किसी स्थायी भाव का ही अनुचर होकर आएँ। शुक्ल जी का कथन है कि जो भी संचारी भाव आ सकते हैं।[३४३] किन्तु जब कभी भी संचारी भाव किसी स्थायी भाव द्वारा प्रवर्तित होकर आता है, वह उस भाव को पुष्ट ही करता है। शुक्ल जी की दृष्टि में किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार वही होगा जो उस भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटाने वाला न होगा।[३४४] अत: किसी भाव का संचारी भाव वही हो सकता है, जो उस भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से उसे निवृत्ति की ओर न ले जाय। जैसे क्रोध के बीच-बीच में आलम्बन के प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार प्रकट होते हुए कहे जाएँ तो उनसे क्रोध की पुष्टि न होगी। अत: शंका, त्रास और दया क्रोध के संचारी नहीं हो सकते हैं।[३४५] तात्पर्य यह कि एक ही आलम्बन के प्रति आश्रय के दो भावों की गति और प्रवृत्ति के भिन्न होने पर उनके बीच स्थायी एवं संचारी का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

विषय या आलम्बन को दृष्टि में रखकर शुक्ल जी ने स्थायीभाव एवं संचारीभाव के सम्बन्धों पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है। उनका कथन है कि 'संचारियों में कुछ तो ऐसे हैं, जिनके विषय होते ही नहीं केवल कारण होते हैं।'[३४६] सभी शारीरिक अवस्थाएँ, मद, जड़ता, मोह, उन्माद और ग्लानि नामक मानसिक अवस्थाएँ एवं आवेग नामक वेग ऐसे ही विषयहीन संचारी हैं।'[३४७] विषय-रहित उक्त संचारियों के अतिरिक्त विषययुक्त संचारियों के विषय में उनका मत है कि प्रायेण उनके विषय वे ही होते हैं, जो उनके प्रधान या स्थायी भावों के विषय होते हैं या उन स्थायी भावों के आलम्बन (विषय) गत उद्दीपन, जैसे नायिका की चेष्टा आदि। एक स्थल पर तो उन्होंने यहाँ

तक लिख दिया है कि 'भिन्न आलंबन रखने वाला भाव संचारी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही अवसर पर ध्यान मुख्यरूप से दो विषयों की ओर नहीं रह सकता।'[३४८] किन्तु इसे उन्होंने अन्ततः स्थूलतः ही ठीक स्वीकार किया है—सूक्ष्मतः नहीं। सूक्ष्मता-पूर्वक विचार करते हुए उसी के आगे उन्होंने लिखा—'पर भिन्न विषय या आलंबन की ओर ध्यान स्थित होने से भी प्रधान भाव की गति-प्रवृत्ति में कोई बाधा न पड़े और संचारी होकर आने वाला भाव ऐसा हो कि उसका कोई रूप प्रधान भाव के साथ बराबर लगा रहता हो तो वह भाव संचारी हो सकता है। आलंबन एक होने पर भी यदि दो भावों की गति और प्रवृत्ति परस्पर भिन्न है तो उनके बीच स्थायी संचारी का सम्बन्ध नहीं हो सकता।'[३४९]

इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में दो भावों में स्थायी और संचारी सम्बन्ध के लिए आलबन की एकता अनिवार्य नहीं, अपितु उनकी गति और प्रवृत्ति की अभिन्नता अर्थात् एकता अनिवार्य है, जिसके अभाव में आलम्बन की एकता के बावजूद दो भावों में स्थायी और संचारी सम्बन्ध नहीं हो सकता। दो भावों की गति और प्रवृत्ति की एकता अथवा अभिन्नता का सम्बन्ध ही दूसरे शब्दों में पोष्य-पोषक सम्बन्ध है।

कालक्रम की दृष्टि से शुक्ल जी के मतानुसार संचारी भाव स्थायी भाव का परवर्ती होता है,[३५०] पर वे स्थायी एवं संचारी में अंगांगिभाव सम्बन्ध मानते हैं, कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं।[३५१]

संचारी भावों को वर्गीकृत करने का शुक्ल जी ने सफल प्रयास किया है। विरोध-अविरोध की दृष्टि से उन्होंने संचारियों के चार भेद किये हैं—१. सुखात्मक, २. दुःखात्मक, ३. उभयात्मक और ४. उदासीन। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष, चपलता, मृदुलता और धैर्य को सुखात्मक; लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि अपस्मार, मरण और व्याधि को दुःखात्मक; आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न और चित्त की चंचलता को उभयात्मक तथा वितर्क, मति, श्रम, निद्रा और विबोध को उदासीन माना है।[३५२]

यहाँ पर आचार्य शुक्ल ने 'लज्जा' को दुःखात्मक वर्ग में रखा है। इस भाव के सम्बन्ध में श्री जयनाथ नलिन का कथन है कि उसे निश्चित रूप से दुःखात्मक नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि में लज्जा उभयात्मक भाव है, वह सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों वर्ग में आती है।[३५३]

स्वरूप की दृष्टि से संचारियों को उन्होंने पाँच वर्गों में विभक्त किया है—१. स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव, २. मन के वेग, ३. अन्य अन्तःकरण-वृत्तियाँ, ४. मानसिक अवस्थाएँ और ५. शारीरिक अवस्थाएँ।'[३५४] यह वर्गीकरण शुक्ल जी की सूक्ष्म दृष्टि की मौलिक उद्भावना है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने स्वतंत्र आलम्बन वाले गर्व, लज्जा और असूया

भावों को रखा है।[३५५] दूसरे वर्ग के अन्तर्गत औत्सुक्य, ग्लानि, आवेग, अमर्ष, त्रास, हर्ष, विषाद आदि। मन के क्षणिक वेगों को रखा है।[३५६] तीसरे वर्ग के अन्तर्गत स्मृति, चिंता, वितर्क और मति आदि अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को रखा है,[३५७] शुक्ल जी के मतानुसार वस्तुतः बुद्धि के व्यापार हैं, मन के वेग नहीं। अतः काव्य के अन्तर्गत प्रत्यक्षतः भाव-प्रेरित होने पर ही ये वृत्तियां संचारी भाव कहलाती हैं,[३५८] अन्यथा नहीं। चौथे वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने दैन्य, मद, जड़ता, चपलता आदि मानसिक अवस्थाओं का समावेश किया है।[३५९]

पाँचवें वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने भाव द्वारा समुपस्थित शारीरिक अवस्थाओं का समावेश किया है। जैसे, श्रम, अंग-ग्लानि, निद्रा, विबोध, मरण, व्याधि, अपस्मार आदि[३६०]। शुक्ल जी के मतानुसार इस प्रकार की शारीरिक अवस्थाओं से भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता मिलती है, इसीलिए इनका समावेश संचारियों के अन्तर्गत किया जाता है।[३६१] उनका कहना है कि भाव के प्रभाव से समुपस्थित शारीरिक अवस्थाएं ही संचारियों के अन्तर्गत ली जा सकती हैं। जो शारीरिक अवस्था किसी भाव के प्रभाव से नहीं उपस्थित हुई यों ही अन्य प्राकृतिक कारणों से उपस्थित हुई है, उसे भाव के संचारियों में नहीं ले सकते।[३६२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी संस्कृत के ही आचार्यों की भाँति संचारी के अन्तर्गत न केवल स्वतन्त्र विषय-युक्त भावों और मन के वेगों, अपितु स्मृति, वितर्क आदि अन्तःकरण की वृत्तियों, मानसिक अवस्थाओं और शारीरिक अवस्थाओं को भी समाविष्ट करते हैं।

आचार्य भरत के संचारी भावों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने संचारी के अन्तर्गत मन और शरीर की प्रायः ऐसी सभी अवस्थाओं का समावेश कर लिया है जो आठों रसों में सामान्यतः संचरित होती हैं। उनके द्वारा गिनाए गए तैंतीस संचारी भावों में निद्रा, विबोध, अपस्मार, व्याधि, मरण आदि शारीरिक अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

जहाँ तक संचारी भावों की संख्या का प्रश्न है, शुक्ल जी उसे ३३ तक सीमित नहीं रखते। उनका स्पष्ट मत है कि नियत संचारियों के अतिरिक्त प्रधानों में परिगणित कोई भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है—जैसे, रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध। अतः परम्परा द्वारा मान्य तैंतीस में नौ प्रधान भावों को भी सम्मिलित कर दिया जाय तो वे ४२ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे कुछ नवीन संचारियों को भी स्वीकृत करने के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि "संचारियों में जब उग्रता ली गई तब 'मृदुलता' या 'कोमलता' भी क्यों न ली जाय?[३६३] 'धैर्य' के समान 'अधैर्य' भी संचारी होकर आ सकता है।[३६४] 'संतोष के समान असंतोष के भी उदाहरण काव्यों में बहुत सुन्दर मिलते हैं।'[३६५] चकपकाहट नामक एक नवीन संचारी की उद्भावना उन्होंने गो० तुलसीदास नामक कृति में की है। उनका कथन है कि आश्चर्य को लेकर कविजन अद्भुत रस का विधान करते हैं, जिसमें कुतूहलवर्द्धक

बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण हम चकपकाहट कह सकते हैं।[३६६] डॉ० रामलाल सिंह ने तुलनात्मक विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया है कि शुक्ल जी के चकपकाहट नामक संचारी भाव के आविष्कार का स्रोत पाश्चात्य भाव वेत्ता शैण्डकृत 'फाउंडेशन्स आव कैरेक्टर' नामक पुस्तक है।[३६७] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी संचारियों की संख्या को तैंतीस तक बाँध रखने के पक्ष में नहीं हैं।

अधिकांश आधुनिक विद्वानों का मत है कि संचारी भावों के विवेचन और उनकी संख्या तैंतीस मानने के पीछे कोई ठोस आधार नहीं है। डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि 'किसी भी दृष्टि से विचार करने पर संचारियों की संख्या तैंतीस मात्र सिद्ध करना असम्भव है। यदि संचारियों को विशुद्ध चित्तवृत्ति या मनोविकार रूप माना जाए तब भी उनकी गणना करना सरल नहीं है। मनोविज्ञान-विशेषकर आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार तो इस प्रकार की गणना असम्भव ही है। दर्शन आचार शास्त्र, काव्य आदि में उल्लिखित भावों के नामों का भी संकलन यदि किया जाए तो भी उनकी संख्या कई गुनी हो जाती है और इसमें बौद्धिक अनुभूतियों का अन्तर्भाव भी कर लिया जाए तब तो कहना ही क्या ?[३६८]

आधुनिक विद्वान् ही नहीं, पण्डितराज जगन्नाथ जैसे परम्परावादी आचार्य भी संचारियों की इस संख्या से सन्तुष्ट नहीं —अयकथमस्यनियम: ? अर्थात् इस संख्या का नियम कैसे किया जा सकता है ? किन्तु उन्होंने अन्ततः 'मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृंखलताया अनौचित्यात्' के आधार पर परम्परा पालन ही उचित समझा है।

### रसदशा में रसावयवों का पारस्परिक सम्बन्ध

रसमीमांसा की 'रस-निर्णय' वाली टिप्पणी में शुक्ल जी ने बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी के संश्लेषण से सहृदय में दध्यादि न्याय के समान रस उत्पन्न होता है।[३६९] स्थायी भाव से विभाव, अनुभाव और संचारी का संयोग दूध और जमावन की तरह होता है। सब के संश्लिष्ट हो जाने से उन सबों से भिन्न तीसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है, जिसे रस कहते हैं। रस अवस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी अपना-अपना मूल स्वरूप परिवर्तित कर देते हैं। रस-सिद्धांत की शब्दावली में साधारणीकृत हो जाते हैं। ऊपर दिये गये उदाहरण में जैसे दूध और मट्ठा अपना-अपना स्वरूप बदलकर दही का रूप धारण कर लेते हैं उसी प्रकार विभावादि रसावयव संयोग से रस का रूप धारण कर लेते हैं। रसदशा में स्थायी एवं संचारी अंगांगिभाव से संयुक्त रहते हैं, स्थायी और विभाव कार्य-कारण सम्बन्ध से बद्ध होते हैं और स्थायी तथा अनुभाव जनक-जन्य भाव से मिले रहते हैं। अतः रसदशा में रस के अवयवों की पृथक-पृथक् प्रतीति न होकर संश्लिष्ट प्रतीति होती है।

अनुभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने बतलाया है कि भाव के स्वरूप के भीतर अंगरूप में अनुभाव भी आ जाते हैं।[३७०] सम्भवतः इसीलिए उन्होंने इनका विवेचन भी भाव-विवेचन के अन्तर्गत ही किया है। उनके मतानुसार अनुभाव भाव के कार्य होते हैं।[३७१] अनुभाव का सम्बन्ध भावदशा से होता है।[३७२] स्थायीदशा से सम्बद्ध कार्य को अनुभाव नहीं कहा जा सकता। जैसे यदि कोई शत्रु पर कुपित होकर तत्काल लाल आँखें किए उसकी ओर दौड़ पड़े तो यह दौड़ना या झपटना भावदशा के 'अनुभाव' के अन्तर्गत होगा। किन्तु यदि वह बैठकर शत्रु के नाश के उपाय स्थिर करता है और फिर उन उपायों के साधन में धीरता के साथ प्रवृत्त होता है तो उसका यह व्यापार क्रोध की स्थायी दशा 'बैर' के अन्तर्भूत होगा। राम का समुद्र तट पर बैठकर धीरतापूर्वक सेतु बँधवाना 'अनुभाव' के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुभाव किसी भावदशा में ही होता है।[३७३] शुक्ल जी की प्रस्तुत स्थापना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के अनन्तर यह कहना चाहिए कि उन्होंने 'अनुभाव' का सम्बन्ध भावदशा मात्र से मानकर उसके अत्यन्त व्यापक क्षेत्र को अनावश्यक रूप से संकुचित कर दिया है। अनुभाव का सम्बन्ध भाव की तीनों ही दशाओं से मानना उचित होगा। स्थायी और शील दशाओं से उसका सम्बन्ध न मानने के पीछे कोई आधार नहीं है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनुभाव का अर्थ है—अनुपश्चाद भावो यस्य सोऽनुभावः अर्थात् जो भाव के पीछे उत्पन्न होता है, वह अनुभाव है।[३७४] किसी भाव की प्रेरणा से व्यक्ति जो चेष्टाएँ करता है, वे सभी भाव के पीछे उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही रससिद्धान्त की शब्दावली में 'अनुभाव' कहा जाता है। अतः कोई कारण नहीं है कि अनुभाव के भीतर मात्र भावदशा से सम्बद्ध चेष्टाओं को लिया जाय। अतः शुक्ल जी द्वारा दिये गये क्रोध भाव की स्थायी दशा बैर से सम्बद्ध चेष्टा राम का समुद्र तट पर बैठकर धीरतापूर्वक सेतु बंधवाना भी अनुभाव ही होगी। लौकिक दृष्टि से हम भावनाओं की प्रेरणा से जितने भी क्रिया कलाप या कार्य संपादित करते हैं, वे सब अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं—अतः उसके क्षेत्र को संकुचित करना ठीक नहीं कहा जा सकता। साहित्य के ग्रन्थों में संचारी भावों के जो बाह्य चिह्न बताये गये हैं वे भी शुक्ल जी की दृष्टि में वस्तुतः उनके अनुभाव ही हैं।[३७५]

भाव के कार्य होने के कारण अनुभाव उसके सूचक होते हैं। उनके द्वारा भाव की गतिविधि एवं प्रवृत्ति का पता चल सकता है।[३७६] कभी-कभी संचारी स्वयं स्फुट न रहने पर भी अपना अनुभाव प्रकट करता है ऐसी दशा में उस अस्फुट संचारी का अनुभाव भी उपचार से प्रधान या स्थायी भाव का अनुभाव मान लिया जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने भी अनुभाव को भाव का कार्य बताया है। आचार्य मम्मट,[३७७] विश्वनाथ,[३७८] पण्डितराज जगन्नाथ[३७९] ने स्पष्ट शब्दों में इसका अभिधान किया है। आचार्य भरतकृत अनुभाव के लक्षण में उसको स्थायी भाव के अनुभावक अर्थात् सूचक रूप में माना गया है। उनका अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित है—

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखांगोपांग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।। (नाट्यशास्त्र)७।५

तुलसी की भावुकता की विवेचना करते हुए आचार्य शुक्ल ने प्रसंगवश अनुभाव के सम्बन्ध में एक बात यह स्पष्ट कर दी है कि वे अनुभाव के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही ग्रहण करते हैं,[३८०] क्योंकि आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी मनोगत भाव की व्यंजना करना होता है। आलम्बन की चेष्टाओं को वे 'हाव' मानकर विभाव के अन्तर्गत रखते हैं, अनुभाव के अन्तर्गत नहीं। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर शुक्ल जी की युक्ति ठीक प्रतीत होती है। भावव्यंजक चेष्टाएँ आश्रय की ही हो सकती हैं, क्योंकि भाव का अनुभव करने वाला ही आश्रय कहलाता है। आलम्बन की वे ही चेष्टाएँ अनुभाव हो सकती हैं, जो उसके मनोगत भाव की व्यंजना करती हों, किन्तु ऐसी अवस्था में आलम्बन उन अनुभावों द्वारा व्यंजित मनोगत भाव का आश्रय ही होता है, अतः उसकी वे चेष्टाएँ तत्त्वतः आश्रय की ही चेष्टाएँ ठहरती हैं, आलम्बन की नहीं। आचार्य भानुदत्त का मत भी तत्त्वतः यही है। उन्होंने अनुभाव का लक्षण देते हुए कहा है कि जिनसे रस अनुभव-गोचरता को प्राप्त होते हैं---वे कटाक्षादि अनुभाव हैं, वे कारण स्वरूप या साधन स्वरूप हैं[३८१] और आगे चलकर उन्होंने कहा है कि कटाक्षादि कारण-स्वरूप होने से अनुभाव और विषय-रूप होने से उद्दीपन विभाव हो जाते हैं।[३८२] इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त के मतानुसार आलम्बन की चेष्टाओं को अनुभाव होने के लिए विषय रूप से कारण-रूप अर्थात् भाव-व्यंजक होना अनिवार्य होता है। भाव्य-व्यंजकता को ही दृष्टि में रखकर शुक्ल जी ने आश्रय की मानसिक चेष्टाओं को अनुभाव न मानकर संचारी माना है। उनकी दृष्टि में मानसिक चेष्टाएँ सूचक न होकर सूच्य होती हैं अतः वे अनुभाव नहीं हो सकतीं।[३८३] अनुभाव अनिवार्यतया किसी भाव का सूचक होता है। अतः वह शारीरिक होता है। स्तम्भ के दो पक्ष होते हैं—एक मानसिक और एक शारीरिक। इनमें से मानसिक को तो उन्होंने संचारी माना है, किन्तु शारीरिक को अनुभाव।[३८४] इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में अनुभाव शारीरिक ही होते हैं—मानसिक नहीं। प्राचीन आचार्यों ने अनुभावों के सात्विक, मानसिक, कायिक और आहार्य चार भेद माने हैं।[३८५] शुक्ल जी ने मानसिक को अनुभाव माना ही नहीं और शेष दोनों—आहार्य—और सात्त्विक को कायिक के भीतर ही समाविष्ट कर दिया है। आहार्य का अर्थ है अभिनय की दृष्टि से किसी भाव की प्रेरणा से विशेष प्रकार का वेश-विन्यास करना, विवेचन करने पर इसकी शारीरिकता असंदिग्ध प्रतीत होती है। स्तम्भ अचेतन, रोमांच, स्वेद, वैस्वर्य, वैवर्ण्य, प्रकम्प और अश्रु सात्त्विक भावों की भी शारीरिकता असंदिग्ध ही है अतः इन्हें कायिक के भीतर ही समाविष्ट कर देना उचित ही है। आश्रय की वाचिक चेष्टाएँ अर्थात् उक्तियाँ भी अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। शुक्ल जी ने भी उन्हें अनुभाव के अन्तर्गत समाविष्ट किया है और भाव-व्यंजकता की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण बताया है। उनके मतानुसार आश्रय की उक्तियाँ भावों की पूर्ण व्यंजना के लिए पर्याप्त होती

हैं। उनका कहना है कि "क्रोधी चाहे किसी ओर झपटे या न झपटे, उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूंगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफी होता है।"[३८६] उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कभी-कभी तो उक्तियाँ भावों की पूर्ण व्यंजना के लिए पर्याप्त ही नहीं, अपितु वास्तविक प्रयत्नों की अपेक्षा कहीं अधिक भावाभिव्यंजक होती हैं। इसका कारण उन्होंने वाणी-प्रसार का असीम होना बताया है।[३८७]

साधारणतया तो भाव की पूर्ण-व्यंजना भाव प्रयत्नों के स्फुरण पर निर्भर करती है, जब तक प्रयत्नों के स्फुरण के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न चलेगा, तब तक भाव की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। किन्तु सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने लिया है। मुंह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते हैं। अतः उक्तियाँ भाव-व्यंजना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

## हाव

हावों की गणना संस्कृत और हिन्दी के अधिकांश लक्षण ग्रन्थों में अनुभावों के अन्तर्गत की गयी है। शुक्ल जी इसे ठीक नहीं मानते। उनके मतानुसार उनकी गणना अनुभाव के अन्तर्गत न की जाकर विभाव के ही अन्तर्गत की जानी चाहिए। उनका कहना है कि 'अनुभाव के अन्तर्गत आश्रय की चेष्टाएं आ सकती हैं। आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर हावों का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिए नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिए अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिए होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह आलम्बन होता है। अतः हाव नामक चेष्टाएँ आलम्बनगत ही मानी जायँगी और आलम्बनगत होने के कारण उनका स्थान विभाव के अन्तर्गत ही ठहरता है।'[३८८] काव्य में 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में भी उन्होंने हावों को विभाव के ही अन्तर्गत माना है और उन्हें नायिका के शोभाधायक अलंकार अथवा रमणीयतावर्द्धक चेष्टाओं के रूप में ही वर्णित किया है, भाव-व्यंजक चेष्टाओं के रूप में नहीं। उनका स्पष्ट कथन है कि 'नायिका को आलंबन मानकर, उद्दीपन की दृष्टि से ही, उसमें उन चेष्टाओं का विधान होता है जो हाव और अलंकार कहलाती हैं।'[३८९] अनुभाव-पक्ष में आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन और विभाव पक्ष में आलम्बन के रूप, चेष्टा और वचन का विन्यास होता है। इस दृष्टि से शृङ्गार रस में स्त्रियों के जो हाव या अलंकार माने गये हैं वे विभाव-पक्ष के अन्तर्गत होंगे, अनुभाव पक्ष के नहीं।'[३९०]

## स्थायी भाव तथा रस

स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है—यह सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रारम्भ से अन्त तक मान्य रहा है। आचार्य भरत का मत यही था—

'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।'[३९१] आचार्य लोल्लट का भी यही मत था—तेन स्थाय्येवविभावानुभावादिभिरूपचितो रसः ।'[३९२] परवर्ती रसवादी आचार्यों ने भी यही मत स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार सहृदयों का रत्यादि स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होता है—'रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।'[३९३] रस निश्चय ही स्थायी भाव पर आश्रित होता है। स्थायी भाव ही रस का आधार होता है अतः रस-भेद भी पूर्णतया स्थायीभाव-भेद पर आश्रित होता है। रसों की संख्या स्थायीभावों की ही संख्या पर निर्भर करती है। शुक्ल जी के भी रस-भेद निरूपण का यही आधार है। संस्कृत के आचार्यों की ही भाँति उनका कथन है कि—'सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।'[३९४]

आचार्य शुक्ल ने प्राचीन आचार्यों द्वारा सामान्य रूप से परिगणित नौ स्थायी भावों को ही स्थायी स्वीकार किया है, कोई अन्य भाव उन्हें स्थायी के रूप में स्वीकार नहीं। प्रधान या स्थायी भावों के विवेचन के संदर्भ में सभी नौ भावों का उल्लेख कर केवल आठ स्थायी भावों का ही विवेचन किया है।[३९५] 'निर्वेद' स्थायी भाव को अभाव रूप मानकर उसे उन्होंने अपने विवेचन के बाहर रखा है।[३९६] रसमीमांसा के परिशिष्ट की रस सम्बन्धी सामग्री में केवल आठ स्थायी भावों के ही अनुभाव आदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख उन्होंने किया है।[३९७] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे शांत रस की सत्ता नहीं स्वीकार करते और केवल आठ ही रस स्वीकार करते हैं। यह सही है कि सैद्धान्तिक विवेचन में वे केवल आठ प्रधान भावों और आठ ही रसों का उल्लेख करते हैं, निर्वेद स्थायीभाव के आधार पर शांत रस का विवेचन नहीं, किन्तु अपनी व्यावहारिक समीक्षा कृति गो० तुलसीदास में उन्होंने शांत रस का उल्लेख किया है।[३९८] अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शुक्ल जी स्थायी भाव और तदनुसार रसों की संख्या नौ ही मानते हैं—कम या अधिक नहीं। किन्तु इस विषय में कुछ विद्वानों को भ्रम भी हो गया है, जिसका उल्लेख आवश्यक है। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि 'हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रकृति-रस की स्थापना की है।[३९९] किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः शुक्ल जी ने 'प्रकृति-रस' नामक किसी नवीन रस की स्थापना नहीं की है और डॉ० नगेन्द्र का मत निराधार और भ्रांति है। इसका विशद विवेचन प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है।

शुक्ल जी ने वत्स-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, अतीत प्रेम और भक्ति आदि की चर्चा रसात्मकता की दृष्टि से की है—किन्तु इनमें से किसी को भी उन्होंने स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार नहीं किया है। डॉ० रामलाल सिंह ने ठीक लिखा है कि 'शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति-प्रेम, अतीत-प्रेम, आचार्य-प्रेम, पितृ-प्रेम, स्वदेश-प्रेम, मित्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, सत्य-प्रेम, वत्स-प्रेम आदि रति के ही विभिन्न रूप हैं। इन विभिन्न प्रेमों में

राग नामक भाव आलम्बन-भेद से अनेक रूप धारण करता है।[400] भक्ति को भी उन्होंने 'राग' भाव के ही भीतर ले लिया है।

## रस-विरोध

शुक्ल जी ने तीन दृष्टियों से रसविरोध पर विचार किया है—(१) आश्रय की दृष्टि से, (२) आलम्बन की दृष्टि से और (३) श्रोता की दृष्टि से।[401]

एक ही आश्रय में परस्पर विरुद्ध भावों को एक साथ दिखाना रस के विरुद्ध होता है। जैसे क्रोध और उत्साह के साथ भय का भी एक ही आश्रय में होना अयुक्त होगा। यही आश्रयगत विरोध है।[402]

इसी प्रकार एक ही आलम्बन के प्रति एक ही अवसर पर परस्पर विरोधी भावों को दिखाना शुक्ल जी की दृष्टि से, रस-विरोध होगा।[403] जैसे जिस व्यक्ति के प्रति कोई रति भाव प्रकट कर रहा है, उसी के प्रति उसी अवसर पर वीरभाव या जुगुप्सा का भाव नहीं प्रकट कर सकता। यह आलम्बनगत विरोध है।[404]

शुक्ल जी ने श्रोता की दृष्टि से रस-विरोध के अनेक रूपों का उल्लेख किया है—उनका कथन है कि (१) दो विरुद्ध भावों की पूर्वा पर स्थिति होने से दो में से एक का भी प्रभाव पूर्ण रूप से हृदय पर नहीं हो सकता है। साहित्य ग्रन्थों में इसे 'नैरन्तर्यकृतविरोध' कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि एक भाव को रस-रूप में ग्रहण करने के उपरान्त तुरन्त श्रोता के सामने ऐसे भाव की व्यंजना न की जाय जिससे उसे अपनी मानसिक स्थिति में सहसा बहुत अधिक परिवर्तन करना पड़े।[405] (२) एक ही रस के भीतर विरुद्ध भाव की सामग्री का आ जाना आश्रय की दृष्टि से रस-विरोध उत्पन्न करता है।[406] (३) एक ही पद्य के भीतर दो विरोधी रसों या भावों का आश्रय आलम्बन भिन्न-भिन्न रखकर समावेश भी शुक्ल जी की दृष्टि में आश्रय की दृष्टि से रस-विरुद्ध होगा।[407]

## आचार्य शुक्ल के रस सिद्धान्त के तीन मुख्य संघटक तत्त्व

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जाना चाहिए कि शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त के मुख्यतया तीन संघटक तत्त्व हैं—

(१) पूर्व विवेचित रस सिद्धान्त।

(२) आधुनिक मनोविज्ञान।

(३) लोकवादी समाजविज्ञान या जीवन-दृष्टि।

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किया गया रस-सिद्धान्त का समग्र विवेचन उन्हें विरासत में मिला। आधुनिक मनोविज्ञान एवं लोकवादी समाज दर्शन से उस विशाल एवं गम्भीर विरासत को उन्होंने परिष्कृत, समृद्ध एवं युगानुरूप विकसित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आचार्यों की रस-विचारणा में 'लोकवाद' का तत्त्व था ही नहीं, असंदिग्ध रूप से साधारणीकरण के रूप

में वह विद्यमान था, किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि रस आनन्द स्वरूप होकर मनोरंजन और अलौकिक होकर जीवन-निरपेक्ष सा हो गया था, आचार्य शुक्ल ने ही अपनी लोकवादी जीवन-दृष्टि के अनुरूप उसे स्वर्ग से जीवन में अवतरित कर 'लोक-सत्ता में व्यक्तिसत्ता' के विलय के रूप में उसकी व्याख्या की और आनन्द के स्थान पर सत्कर्म में प्रवृत्ति को उसकी चरम परिणति बताया, और अंततः उसे लोक-मंगल का साधक ठहराया। यह सब कुछ भले ही प्राचीन आचार्यों की विचारणा में सूक्ष्मतः रहा हो, किन्तु उसकी स्थिति स्फुट न थी। मनोविज्ञान पर तो समस्त भाव-विवेचन ही आधारित है। प्राचीन आचार्यों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावों का विवेचन नहीं किया था।

## अलंकार स्वरूप और परिभाषा

आचार्य शुक्ल ने अपने भिन्न-भिन्न व्यावहारिक समीक्षा ग्रन्थों और विशुद्ध आलोचनात्मक निबन्धों में अलंकार सिद्धांत की प्रसंगानुसार चर्चाएं की हैं जिनसे इस सम्बन्ध में हम उनके विचारों से अवगत हो सकते हैं।

एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि 'अलंकार वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियां हैं, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये।'[४०८]

अनेक दूसरे स्थानों पर भी उन्होंने लगभग यही बात शब्दों के कुछ हेरफेर के साथ कही है। कहीं उन्होंने अलंकार को कथन के विशिष्ट ढंग[४०९] और कहीं वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ[४१०] कहा है।

शुक्ल जी के उपर्युक्त कथनों से अलंकार के स्वरूप का कुछ पता अवश्य चलता है, किन्तु उसकी विशिष्टताओं का ज्ञान हमें नहीं होता है। अतः उपर्युक्त कथनों को हम अलंकार की परिभाषा की संज्ञा नहीं दे सकते हैं। परिभाषा की दृष्टि से वे अधूरे और सदोष हैं। सर्वप्रमुख बात यह है कि उनमें उसकी व्याप्ति निर्धारित नहीं है। अतः उनमें अति व्याप्ति दोष है।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में बताया है कि 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।'[४११]

निश्चय ही शुक्ल जी के इस कथन और पूर्व कथन के मध्य गुणात्मक अन्तर है। यहां पर पूर्व की भांति अलंकार को निरपेक्ष दृष्टि से नहीं, बल्कि सापेक्ष दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ उसे 'भाव' और 'वस्तु' से सम्बद्ध करके देखा गया है और यह बताया गया है कि या तो वह किसी 'भाव' का उत्कर्ष करता है अथवा किसी वस्तु के रूप, गुण और क्रिया के अनुभव को तीव्र करता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर अलंकार को उसके जीवित एवं सक्रिय रूप में देखा गया है, जब कि इसके पहले वाले कथन में उसे निर्जीव और निष्क्रिय रूप में देखा गया था। काव्यालंकार निश्चय ही

जीवित एवं सक्रिय होते हैं, निर्जीव और निष्क्रिय नहीं। अतः उन्हें इसी रूप में देखा जाना ही उचित होगा और वस्तुतः शुक्ल जी उसे इसी रूप में ही स्वीकार करते हैं, अन्यथा नहीं। अतः इसे ही शुक्ल जी की अलंकार सम्बन्धी धारणा समझनी चाहिए। उन्होंने इसे ही अलंकारों की परीक्षा की कसौटी बनाया है।

उनका कहना है कि अलंकारों की परीक्षा इसी दृष्टि से की जानी चाहिए कि वे कहाँ तक भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक हैं।[४१२] उनकी दृष्टि में यदि किसी वर्णन में अलंकारों से इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं।[४१३]

उनकी मान्यता है कि काव्य-प्रक्रिया के अन्तर्गत किसी अलंकार के द्वारा ऊपर कही बातों में से जितनी ही अधिक बातों में सहायता पहुँचेगी, वह अलंकार उतना ही अच्छा कहा जायेगा।[४१४]

आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित अलंकारों की परीक्षा की यह कसौटी इतनी युक्तियुक्त और गणितीय है कि इसके माध्यम से किसी भी अलंकार की पाई-पाई की कीमत दशमलव के अंकों तक निकाली जा सकती है। यह कसौटी उनके कार्यों ( Function of Figures speech ) पर आधारित है। कोई अलंकार काव्य-प्रक्रिया के अन्तर्गत कितनी बातों में कितने अंशों तक सहायक हो रहा है—यह तो कसौटी हो भी सकती है।

एक अन्य स्थान पर आचार्य शुक्ल ने उदाहरणों के माध्यम से अलंकार के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनका कहना है कि "केवल 'वस्तुत्व' या 'प्रमेयत्व' जिसमें हो वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए।"[४१५]

इसी आधार पर उनका कहना है कि अलंकार यद्यपि 'कथन की एक युक्ति' या 'वर्णन-शैली' मात्र हैं तथापि यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती।[४१६] काव्यालंकार वह तभी कहलायेगी जब उसमें रमणीयता होगी। आचार्य ने—उदाहरणार्थ 'उपमा' अलंकार लिया है। 'सादृश्य' उपमा का आधार होता है। जहाँ कहीं सादृश्य योजना का उद्देश्य बोध करना मात्र होता है, वहाँ वह काव्यालंकार नहीं। जैसे—सादृश्य के आधार पर यदि कोई कहे कि 'नीलगाय गाय के सदृश होती है' तो यह काव्यालंकार नहीं होगा। क्योंकि इसमें 'वस्तुत्व' का प्रमेयत्व मात्र है, रमणीयता नहीं है।[४१७] आचार्य शुक्ल यहाँ पर 'रमणीयता' शब्द का प्रयोग और चमत्कार शब्द का त्याग जान-बूझकर किया है। उनका कहना है कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है, जिन्हें रमणीय नहीं कहा जा सकता है।[४१८]

उनका कहना है कि बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चन्द्रमा को देख यदि कोई कहे कि 'मानो ऊँट के पीठ पर घंटा रखा हुआ है' तो कुछ लोग अलंकार

सामग्री की इस विलक्षणता पर कवि की इस दूर की सूझ पर ही वाह-वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे भावोत्कर्ष आदि प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चन्द्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौन्दर्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रखा हुआ घण्टा कोई ऐसा सुन्दर दृश्य नहीं, जिसकी योजना से सौन्दर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो।[४१९] अतः शुक्ल जी की दृष्टि में इसे काव्यालंकार नहीं कहा जा सकता है।

'रमणीयता' को परिभाषित करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि 'भावानुभाव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।[४२०]

शुक्ल जी द्वारा निरूपित अलंकार लक्षण तत्वतः ध्वनि एवं रसवादी आचार्यों के अलंकार-लक्षणों के अनुरूप है। आचार्य मम्मट ने भी अलंकार को रस के उपकारक अथवा उत्कर्षाधायक तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया है, स्वरूपाधायक तत्त्व के रूप में नहीं अतः काव्य में उसकी सत्ता स्थिर नहीं, अस्थिर है। इसी दृष्टि से उन्होंने काव्य-प्रकाश के अष्टम उल्लास में अलंकार का लक्षण करते हुए लिखा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[४२१]

अर्थात् जो काव्य में विद्यमान रस को शब्द तथा अर्थरूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकृत करते हैं, वे अनुप्रास और उपमादि 'हार' आदि दैहिक अलङ्कारों की तरह काव्य के अलंकार होते हैं।

आचार्य मम्मट एवं शुक्ल जी के अलंकार-लक्षणों की तुलना से ज्ञात होता है कि वे तत्वतः अभिन्न हैं। किन्तु निर्वचन की दृष्टि से भिन्न होने के कारण व्यावहारिकता की दृष्टि से आचार्य शुक्ल का विवेचन कहीं अधिक स्पष्ट और उपयोगी है।

### अलंकार की व्याप्ति

अलंकारवादी आचार्यों ने 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।[४२२] वे इस शब्द से काव्य में प्रयुक्त होने वाली रस, रीति, गुण आदि सारी सामग्री का अर्थ ग्रहण करते थे।[४२३] उन्होंने अनेक वर्ण्यों को अलंकार घोषित कर उसकी व्याप्ति वर्ण्य तक बढ़ा दी थी। किन्तु काव्यशास्त्र की गम्भीर और सूक्ष्म विचार-परम्परा में साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को पृथक् करने का प्रयास निरन्तर होता रहा।[४२४] रुद्रट और मम्मट आदि साहित्याचार्यों के विवेचन से काव्य का प्रकृत स्वरूप स्पष्ट होता हुआ आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में पूर्णतः स्पष्ट हो गया।'[४२५] इन आचार्यों ने प्राचीन गड़बड़झाले को मिटाकर वर्ण्यवस्तु और वर्णन-प्रणाली को एक-दूसरे से पृथक् किया।

शुक्ल जी ने इसी मत को स्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि 'अलंकार वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास ढंग हैं।'[४२६] इसी आधार पर उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित

स्वाभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति, नामक अलंकार वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं, ये अलंकार नहीं कहे जा सकते हैं।'[४२७] उनकी दृष्टि में अलंकार काव्य के भावों, अर्थों तथा तथ्यों की शोभा बढ़ाते हैं, वे स्वयं में अर्थ या तथ्य नहीं। उनका कहना है कि किसी वस्तु विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[४२८] किसी भी वस्तु या तथ्य को किसी भी अलंकार प्रणाली के अन्तर्गत लाया जा सकता है।[४२९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी अलंकार और अलंकार्य में स्पष्ट अन्तर करते हैं। इसकी परिपुष्टि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के विवेचन के प्रसंग में भी व्यक्त किए गए उनके विचार से होती है। क्रोचे अलंकार-अलंकार्य का भेद नहीं स्वीकार करता है।[४३०] किन्तु शुक्ल जी का अटल मत है कि 'अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता।'[४३१] बिना प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते हैं।[४३२] इस प्रकार शुक्ल जी के तर्क के अनुसार अलंकार्य या प्रस्तुत के अभाव में अलङ्कार या अप्रस्तुत की सत्ता ही नहीं ठहरती।

## काव्य में स्थान

काव्य में अलंकारों की उपयोगिता से भलीभांति परिचित होने के कारण शुक्ल जी ने 'अलङ्कार कोई चीज नहीं, उनका जमाना गया' या 'अलंकार पुराना पड़ गया' आदि लटकों का खण्डन करते हुए इनकी उद्धरणी करने वाले महापंडितों की कूपमण्डूकता प्रदर्शित की है।[४३३] उन्होंने कहा है कि 'इन वाक्यों को बात-बात में दुहराने वालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस-अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद नहीं।'[४३४] 'इसीलिए वे इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ समझते हैं और यह समझने की जरूरत नहीं समझते कि वे कहाँ से आए हैं, और उनका मतलब क्या है ?'[४३५]

यह स्वीकार करते हुए भी कहीं-कहीं अलंकार के बिना काम नहीं चल सकता,[४३६] शुक्ल जी उसे काव्य का अपरिहार्य तत्त्व नहीं मानते। उनकी दृष्टि में काव्य की सत्ता अलंकार के अभाव में भी सम्भव है, अतः उन्हें अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता है। अलङ्कार-सम्प्रदाय अलंकारों को काव्य का अपरिहार्य स्थिर तत्त्व मानता है।[४३७] उसके मत में अलंकार रहित काव्य की कल्पना, उष्णता रहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहास योग्य है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में लिखा है —

अंगीकरोति यः काव्यम् शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥[४३८]

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि, भाग १ में इसे उद्धृत करते हुए चन्द्रालोककार से अपनी असहमति व्यक्त की है।[४३९] वे काव्य में अलंकार को साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं।[४४०] उनका कथन है कि अलंकारों को साध्य मान लेने से कविता इतनी

विकृत हो जाती है कि वह कविता ही नहीं रह जाती है।[४४१] भरत और विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों की भाँति वे काव्य में रस या अनुभूति की प्रधानता स्वीकार करते हैं और उसे ही काव्य का साध्य मानते हैं, भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट आदि अलंकारवादियों की भाँति अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व या साध्य नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि 'जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता[४४२] 'पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। जो अलंकार सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं, जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर।'[४४३]

स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में मार्मिक भावना या रमणीय अर्थ ही काव्य का नित्य लक्षण है, अलंकार नहीं। किन्तु फिर भी मार्मिक भावना या तीव्र अनुभूति के कारण काव्य में अलंकारों का प्रयोग वे स्वीकार करते हैं।[४४४] आशय यह कि वे काव्य में अलंकार को भीतर से प्रकट होता हुआ देखना चाहते हैं, ऊपर से बल या बुद्धिपूर्वक लादा हुआ नहीं। उनकी दृष्टि में मार्मिक भावना या अनुभूति के अभाव में सयत्न बुद्धि से लाया हुआ अलंकार काव्य में चमत्कार या कुतूहल उत्पन्न कर सकता है, किन्तु वह उसके सौन्दर्य में वृद्धि नहीं कर सकता। वे काव्य में अलंकार-विधान इस रूप में चाहते हैं कि वे ( अलंकार ) स्वाभाविक हों,[४४५] पहेली न बनें,[४४६] उनके कारण अर्थ-बोध में कोई व्याघात उत्पन्न न हो[४४७] और वे भाव और वस्तु से इस सफाई से मिले हों कि जोड़ न मालूम पड़ता हो।[४४८]

### अलंकारों की संख्या

शुक्ल जी रूढ़िवादी समीक्षकों की भाँति अलंकारों की संख्या को अलंकार-ग्रंथों में वर्णित अलंकारों तक ही सीमित नहीं मानते। उनका कहना है कि वर्णन-प्रणालियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं[४४९] अतः अलंकारों की संख्या भी निश्चित नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि वर्णन की समस्त सुन्दर प्रणालियों का नामकरण व निरूपण किया जा चुका है।[४५०] आदि काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।[४५१]

अलंकारों के इतिहास से भी शुक्ल जी की बात प्रमाणित होती है। आचार्य भरत ने रूपकों की भाषा पर प्रकाश डालते हुए मात्र चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक, तथा यमक।[४५२] इन चारों में से केवल यमक शब्दालंकार है, शेष तीन अर्थालंकार हैं। भरत के बाद भामह ने 'अनुप्रास' नामक एक शब्दालंकार और बढ़ाया तथा अर्थालंकारों की संख्या ३६ कर दी।[४५३] आचार्य रुद्रट ने ४१ अलंकारों का उल्लेख किया है।[४५४] आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम् उल्लास में

६ शब्दालंकार तथा ६२ अर्थालंकारों का उल्लेख किया है।[४५५] श्री जयदेव ने चन्द्रालोक में १०४ अलंकारों का निरूपण किया है।[४५६] इसी प्रकार अलंकारों की संख्या बढ़ते-बढ़ते उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक १८१ तक पहुँच गई। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम अलंकार शास्त्रों में मिलते हैं, उतने ही अलंकार होते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में अनेक नवीन अलंकारों के आविष्कार तथा विकास की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

अलंकारों की संख्या के प्रति शुक्ल जी का प्रस्तुत दृष्टिकोण वस्तुतः प्रकारांतर से काव्य-शैली के प्रति उनके विकासवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट निदर्शन है। स्वयं उन्होंने वर्णन-प्रणालियों के ऐसे दो उदाहरण जायसी ग्रन्थावली से प्रस्तुत किये हैं जिनका विवेचन अलंकार के रूप में न तो संस्कृत साहित्य शास्त्र में किया गया है और न हिंदी में किन्तु जिनका विवेचन पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अलंकार के रूप में हुआ है और उन्हें अलंकार की संज्ञा दी जानी चाहिए।

उदाहरण—१ कंवलहि बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर बरन पीर हिय गाढ़ी। शुक्ल जी के अनुसार इसका सर्वाधिक उपयुक्त अर्थ होगा—हृदय में केसर-वर्ण गाढ़ी पीर है। यहाँ पर 'केसर-वर्ण' 'पीर' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। अत: यहाँ 'केसर वर्ण' का लक्षणा से अर्थ करना होगा 'केसर-वर्ण करने वाली' पीला करने वाली और पीड़ा का अतिशय लक्षणा का प्रयोजन होगा।[४५७]

योरोपीय साहित्य में इस प्रकार की शैली हाईपेलेज (Hypallage) कहलाती है। शुक्ल जी के अनुसार इस अलंकार में कोई गुण प्रकृत गुणी से हटाकर दूसरी वस्तु में आरोपित कर दिया जाता है, जैसे यहाँ पीलेपन का गुण 'हृदय' से हटाकर 'पीड़ा' पर आरोपित किया गया है।[४५८]

उदाहरण—२ 'जस भुइं दहि असाढ़ पलुहाई'
इस वाक्य में 'पलुहाई' की संगति के लिए 'भुइं' शब्द का अर्थ उस पर के घास-पौधे अर्थात आधार के स्थान पर आधेय लक्षणा से लेना पड़ता है।[४५९]

शुक्ल जी के मतानुसार योरोपीय अलंकार शास्त्र में आधेय के स्थान पर आधार के कथन की प्रणाली को मेटानमी (Metonomy) अलंकार कहेंगे।[४६०]

इसी प्रकार अंगी के स्थान पर अंग, व्यक्ति के स्थान पर जाति आदि का लाक्षणिक प्रयोग Synecdoche (सिनेक्डकि) अलंकार कहा जाता है।[४६१]

सारांश यह है कि चमत्कार प्रणालियाँ बहुत सी हो सकती हैं।[४६२]

### वर्गीकरण

शुक्ल जी ने यद्यपि शब्दालंकार और अर्थालंकार शब्दों का प्रयोग प्रसंगवश किया है, जिससे स्वभावतः यह अनुमान होता है कि वे प्राचीन आचार्यों के उक्त वर्गीकरण को मानते हैं, किन्तु उन्होंने न तो वर्गीकरण का कहीं उल्लेख किया है और न तो इसके आधार पर तुलसी और जायसी के अलंकार विधानों की समीक्षा ही की है।

साथ ही किसी दूसरे वर्गीकरण का भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता है, किन्तु जिस रूप में उन्होंने अलंकारों की चर्चा की है और तुलसीदास तथा जायसी के अलंकार-विधानों की समीक्षाएँ की हैं, उसके आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया जा सकता है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे अलंकारों को उनके कार्य (Functions) के आधार पर भी वर्गीकृत करने के पक्ष में हैं इस आधार पर अलंकार दो प्रकार के ठहरते हैं—

(१) चमत्कार अथवा वैचित्र्यमूलक अलंकार।

(२) रमणीय अलंकार।

जिन अलंकारों के माध्यम से जहाँ कहीं उक्ति में मात्र वैलक्षण्य की सृष्टि होती है हृदय को स्पर्श करने वाली किसी मार्मिक भावना की अनुभूति में सहायता नहीं मिलती,[४६३] वे वहाँ चमत्कारमूलक अलंकार कहे जायँगे। जैसे अनुप्रास द्वारा वर्ण-विन्यास में वैलक्षण्य की सृष्टि, श्लेष और यमक द्वारा 'शब्द-विन्यास' में वैलक्षण्य की सृष्टि, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि द्वारा वाक्य में वैलक्षण्य की सृष्टि और दूरारूढ़ कल्पना पर आधारित उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि द्वारा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व।[४६४]

शुक्ल जी चमत्कारमूलक अलंकारों को बहुत कम महत्त्व देते हैं। पहले तो वे इन्हें काव्यालंकार मानने के लिए ही तैयार नहीं हैं। यदि किसी रूप में स्वीकार भी करते हैं तो उन्हें बहुत ही गौण और भार-मात्र मानते हैं।[४६५] उनका कहना है कि केशव की 'रामचन्द्रिका' में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण—

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥[४६६]

जिन अलंकारों से भावों का उत्कर्ष-साधन होता है, अथवा वस्तु के रूप-गुण और क्रिया की तीव्रानुभूति में सहायता मिलती है, वे रमणीय अलंकार कहे जा सकते हैं। इन्हें ही शुक्ल जी वास्तविक अर्थों में काव्यालंकार मानते हैं और महत्त्व प्रदान करते हैं।[४६७]

गोस्वामी जी के अलंकार-विधान का विवेचन करते हुए उन्होंने इस प्रकार के अलंकारों को उनके कार्यों को दृष्टि में रखते हुए चार श्रेणियों में विभक्त किया है—

(१) भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक अलंकार।

(२) वस्तुओं के रूप (सौंदर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार।

(३) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार।

(४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार।[४६८]

आचार्य शुक्ल के ही विवेचन के आधार पर 'साम्य' को दृष्टि में रखकर भी अलंकारों को वर्गीकृत किया जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया

जा सकता है—(१) साम्यमूलक अलंकार और (२) साम्येतर अलंकार।[४६९]

साम्येतर अलंकारों का और आगे विभाजन करने का कोई भी संकेत शुक्ल जी ने नहीं किया है, किन्तु साम्यमूलक अलंकारों के वर्गीकरण के स्पष्ट आधार उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है कि भारतीय काव्य-परम्परा में साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गये हैं—सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण क्रिया आदि की समानता) तथा शब्द-साम्य (केवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)।[४७०]

इस प्रकार साम्यमूलक अलंकारों को तीन उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है —

१. सादृश्यमूलक
२. साधर्म्यमूलक
३. शब्द-साम्यमूलक

शुक्ल जी का कहना है कि "सादृश्य की योजना बोध या जानकारी कराने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है। जैसे किसी क्रुद्ध व्यक्ति की आँखों के सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि 'वे अंगारे सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि कमल के समान लाल हैं।"[४७१] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वरूप-बोध के लिये सादृश्य-योजना की ही नहीं जाती। उनका स्पष्ट कथन है कि सादृश्य की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—स्वरूप-बोध के लिए और भाव तीव्र करने के लिए।[४७२] किन्तु कवि सदृश वस्तुएँ भाव तीव्र करने के लिए ही अधिकतर लाया करते हैं। जहाँ बाह्य कारणों से अगोचर तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए सादृश्य का आश्रय लिया जाता है, वहाँ कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध भी रहता है।[४७३] परन्तु स्वरूप-बोध के लिए लाई गई सदृश वस्तुओं में काव्य की प्रतिष्ठा तभी होती है जब उसमें भाव को उत्तेजित करने की शक्ति भी होती है।[४७४]

शुक्ल जी के मतानुसार सादृश्य की योजना में सर्वाधिक ध्यातव्य बात यह होती है कि 'प्रस्तुत वस्तु, व्यापार, या गुण के सादृश्य में लाया जाने वाला अप्रस्तुत वस्तु, व्यापार या गुण भी उसी के अनुरूप हो। यदि प्रस्तुत वस्तु या व्यापार किसी भाव—स्थायी या क्षणिक का आलम्बन या आलम्बन का अंग हो तो उसके सादृश्य में लाया जाने वाला अप्रस्तुत वस्तु या व्यापार भी ऐसा हो जो उसी भाव का आलम्बन या आलम्बन का अंग बन सके।'[४७५]

साधर्म्य पर आधारित साम्यमूलक अलंकारों को प्रभाव-साम्यमूलक अलंकार भी कहा जाता है। शुक्ल जी ने अपने समकालीन हिन्दी साहित्य के विवेचन के संदर्भ में प्रभाव-साम्य पर आधारित अलंकारों की विशेष प्रतिष्ठा पर अति हर्ष प्रकट किया है।[४७६] जिससे ज्ञात होता है कि वे प्रभाव-साम्य पर आधारित अलंकारों को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि प्रभाव-साम्य-मूलक अलंकारों में सादृश्य अत्यन्त

अल्प या न रहने पर भी केवल प्रभाव-साम्य का हलका सा संकेत लेकर ही अप्रस्तुत की बेधड़क योजना कर दी जाती है।[४७७]

शब्द-साम्य मूलक अलंकारों को शुक्ल जी काव्य के लिए अधिक उपयुक्त नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि केवल शब्द-साम्य को लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है।[४७८] अतः उनकी दृष्टि में शब्द-साम्य मूलक अलंकारों का भी प्रयोग इस कौशल से होना चाहिए कि उससे भावोत्कर्ष का साधन हो। जैसा कि सूर ने किया है —

उद्धव के हाथ से श्याम की पत्री राधा अपने हाथ में लेती हैं, और—

निरखत अंक श्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।

लोचन-जल कागद-मसि मिल कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती॥

आँसुओं से भीगकर स्याही के फैलने से सारी चिट्ठी काली हो गई, इससे कृष्ण-संबंध की भावना के कारण प्रबल प्रेमोद्रेक सूचित हुआ। आगे देखिए तो इस प्रेमोद्रेक की तीव्रता व्यंजित करने के लिए 'अंक' और 'श्याम' शब्दों में श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पाकर वैसा ही प्रेम उमड़ा, जैसा कृष्ण को पाकर उमड़ता। कृष्ण की पत्री ही उनके लिए कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण के अंक (गोद अर्थात् शरीर) को पाकर आलिंगन करतीं, वैसे ही कृष्ण के लिखे अंक (अक्षर) देखकर वे पत्री को बार-बार हृदय से लगाती हैं।

शुक्ल जी का कहना है कि यहाँ भावाधिपति सूर ने भाव का और आधिक्य व्यंजित करने के लिए शब्द साम्य की सहायता ऐसे कौशल से की है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काल) लेने से जिस भाव की अधिकता सूचित हुई, फिर आगे उनका श्लिष्ट अर्थ (गोद और श्रीकृष्ण) लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई। इससे जो लाघव हुआ है—मजमून में जो चुस्ती आई है—वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रंग कैसा चटकीला हो गया है। उनकी दृष्टि में शब्द-साम्य को उपयोग में लाने वाला सच्चा कवि-कौशल यही है।

यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द-साम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर ओर देने लगते—कहते कि पत्री मानो कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अंक (वक्षस्थल) है तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती। राधा को वह पत्री जो कृष्ण के समान लग रही, वह सादृश्य या साधर्म्य के कारण नहीं, बल्कि सम्बन्ध-भावना के कारण, कृष्ण के हाथ की लिखी होने के कारण।

यदि केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि यह बैल है, क्योंकि इसे भी 'शृंग' है, तो यह काव्य-कला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो।[४७९] काव्य में शब्द साम्य की अपेक्षा उपमानों की सम्यक् योजना ही वे अधिक उपयुक्त समझते हैं। उपमानों के प्रकार के बारे में उनका कहना है कि वे सब तरह के हो सकते हैं—पृथ्वी पर के भी और बाहर के भी, सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक भी, किन्तु सभी प्रकार के उपमानों की परिमिति या मर्यादा का विचार

'Sense of Proportion) अत्यन्त आवश्यक है।[४८०] उनकी दृष्टि में परिमिति का ही ध्यान न रखने के कारण सूर के निम्न कथन में उपमान अनुचित है :

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनो बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

कहाँ मक्खन लगी हुई छोटी-सी रोटी और कहाँ गोल पृथ्वी।

शुक्ल जी ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से उद्घाटित होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म और बृहतातिबृहत् क्षेत्रों के भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों को काव्य में उपमानों के रूप में प्रयुक्त करने के पक्ष में हैं,[४८१] किन्तु वे चाहते हैं कि उनका प्रयोग अंग आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं, अपितु अन्य प्रकार की रचनाओं में हो।[४८२] उनका कहना है कि 'ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते-बिगड़ते, रंग-बिरंग के पिण्डों, अपार ज्योति-समूहों का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्व व्यापिनी ज्ञान दृष्टिवाला यदि विश्व की कोई गम्भीर समस्या लेकर उसे काव्य रूप में रखना चाहता है तो वह इन सब को हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।'[४८३]

उपर्युक्त विवेचन से अलंकारों के वर्गीकरण की जो दो रूप-रेखाएँ उभरती हैं, वे दोनों ही नवीन हैं। प्राचीन काल से ही अलंकारों को प्रधानतया शब्द तथा अर्थ के दो भागों में विभाजित किया जाता रहा है,[४८४] किन्तु उसे अनुकृत न कर शुक्ल जी ने स्वतन्त्र चिन्तन का ही मार्ग अपनाया।

## रीति

सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ पर 'रीति' का तात्पर्य वह नहीं है, जिसके आधार पर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के एक विशेष काल-खण्ड का नामकरण ही 'रीति-काल' कर दिया है। 'रीति' का तात्पर्य यहाँ संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में 'काव्य सम्प्रदाय' विशेष के रूप में विवेचित 'रीति' से है। हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में एक काल ऐसा आया, जिसके बारे में आचार्य शुक्ल का कहना है कि—'कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना।'[४८५] ऐसे काव्यग्रन्थ जिनमें उपर्युक्त प्रणाली अपनाई गई आचार्य शुक्ल द्वारा 'रीति ग्रन्थ' अथवा 'लक्षण ग्रन्थ' संज्ञा से अभिहित किए गए और अपनी एक अखण्ड परम्परा के कारण वह काल-विशेष 'रीति काल' की संज्ञा से अभिहित हुआ। रीति का यह आशय निश्चय ही प्राचीन काव्य शास्त्र में विवेचित 'रीति' तत्त्व से भिन्न है। शुक्ल जी ने काव्यशास्त्र की परम्परा में विवेचित 'रीति' तत्त्व की स्पष्ट विवेचना की है।

### परिभाषा और स्वरूप

आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—'रीति is simply संघटना, the building up of शरीर।'[४८६] 'उनकी यह मान्यता संस्कृत के साहित्याचार्यों

के अनुरूप ही है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में 'रीति' पर सर्वाधिक बल देने वाले आचार्य वामन हुए। उन्होंने ही 'रीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया। उनसे पहले यद्यपि आचार्य भामह और आचार्य दण्डी ने तत्वतः रीति की चर्चा की थी, किन्तु उन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की थी। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति की परिभाषा की अतः वे ही 'रीति' शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, प्रथम परिभाषा-कर्ता तथा रीति सम्प्रदाय के संस्थापक ठहरते हैं। उनके मतानुसार रीति का अर्थ है —विशिष्ट पद-रचना, 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः'[४८७] विशिष्ट का अर्थ है—गुण सम्पन्न—'विशेषो गुणात्मा।'[४८८] गुण से तात्पर्य है काव्य-शोभाकारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का।[४८९] इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई—'काव्य-शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं।'[४९०] सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि वामन के अनुसार 'शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम रीति है अथवा 'सुन्दर पद-रचना का नाम रीति है।' आचार्य वामन ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। आचार्य शुक्ल ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है, 'पद-रचना' का नहीं। यद्यपि तत्वतः दोनों का तात्पर्य एक ही है, तथापि वे शब्दशः भिन्न हैं। देखना है इसके पीछे उनकी क्या दृष्टि है?

'संघटना' शब्द रीति विवेचन में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रथमतः प्रयुक्त शब्द नहीं। रीति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले आचार्य आनन्दवर्धन ने किया। उनके मतानुसार 'संघटना' अर्थात् सम्यक् घटना अर्थात् यथोचित घटना का नाम रीति है।'[४९१] *डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि—'आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परि*भाषा को ही संक्षिप्त कर दिया है। वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं: दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है।'[४९२] आचार्य शुक्ल ने आनन्दवर्धन के ही आधार पर 'रीति' को संघटना कहा है। यह उनका मौलिक प्रयोग नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि अर्थ की दृष्टि से तत्वतः 'विशिष्ट पद-रचना' और 'संघटना' दोनों एक ही हैं तो आचार्य शुक्ल ने आनन्दवर्धन का अनुकरण कर 'संघटना' शब्द का ही प्रयोग क्यों किया? उन्होंने रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन का अनुकरण कर 'विशिष्ट पद-रचना' का ही प्रयोग क्यों नहीं किया? इसी प्रश्न का उत्तर पहले जगाई गई जिज्ञासा की तृप्ति करेगा, उनकी दृष्टि को उद्घाटित करेगा। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर हम यहाँ न देकर आगे देंगे क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर हमें रीति की परिभाषा और स्वरूप के क्षेत्र से बाहर खींचकर काव्य में रीति के स्थान और महत्व के क्षेत्र में ला खड़ा करेगा। यहाँ हम रीति की अन्य आचार्यों द्वारा की गई परिभाषाओं पर विचार करते हैं।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति की परिभाषा इस प्रकार की: वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः'[४९३] 'अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है।' यह परिभाषा भी वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है। उनमें मात्र शब्दों का अन्तर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास क्रम का अर्थ है रचना।[४९४]

आचार्य कुन्तक ने रीति को 'कवि-प्रस्थान-हेतु' कहा है।[४९५] डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार प्रस्थान-हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली।[४९६] श्री भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है—

वैदर्भादि कृतः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः।
रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।[४९७]

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। इस प्रकार भोज ने मार्ग, रीति और पथ को व्युत्पत्ति अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है। आचार्य मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों के ही विवेचन को रीति का विवेचन कहा है : 'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीयापांचालाख्या रीतय उच्यन्ते।'[४९८]

मम्मट का कहना है कि 'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः' अर्थात्[४९९] नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है। इस प्रकार उनके मतानुसार रीति या वृत्ति 'नियत वर्ण-व्यापार' ठहरती है।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार पदों की संघटना का नाम रीति है-- 'पद संघटना रीतिः।'

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में रीति की परिभाषाएँ की हैं, किन्तु उन परिभाषाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। आचार्य शुक्ल ने भी रीति की कोई नवीन एवं मौलिक परिभाषा न देकर आचार्य आनन्दवर्धन के 'संघटना' शब्द को ही दुहरा दिया है। अब हम उनकी रीति के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

आचार्य शुक्ल ने 'रीति' तत्त्व का सम्बन्ध संगीत तत्त्व से जोड़ा है। उनकी दृष्टि में रीति का विधान ही शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है।'[५००] नाद-सौष्ठव से काव्य का प्रभाव तीव्र होता है। यही कारण है कि बहुत सी रचनाएँ केवल पद-लालित्य और छन्द की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती हैं।[५०१] शुक्ल जी का कथन है कि इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। आशय यह है कि काव्य में रसानुरूप वर्ण-योजना उत्तम स्वीकार की गई है। किन्तु आचार्य शुक्ल जी रसानुकूल वर्ण-विन्यास को ही काव्य की सिद्धि के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'मुंज, मंजुल, प्रांजल' तथा 'उद्दंड, प्रचंड, मार्तण्ड' लिखने मात्र से काव्य की सिद्धि नहीं होती।'[५०२] संगीत तत्त्व अथवा नाद-सौष्ठव से तो काव्य के प्रभाव में वृद्धि मात्र सम्भव होती है।[५०३]

रीति की प्रकृति का संगीत-तत्त्व सम्बन्धी यह निरूपण आचार्य वामन के शब्द-गुणों के अनुरूप है। विशिष्ट वर्ण्य-विन्यास जन्य नाद-सौष्ठव के समस्त संगीतात्मक

उपकरणों को वामन के माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, कांति आदि शब्दगुणों के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

शुक्ल जी ने काव्य-भाषा को ४ प्रमुख विशेषताएँ कविता की गोचर रूप प्रस्तुत कारिणी प्रकृति को ध्यान में रखकर बताई हैं।[५०४] जिन्हें रीति तत्त्व से सम्बद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काव्य-रीति के चार मूल तत्त्व ठहरते हैं :

**१—गोचर रूप विधान करने वाले शब्द**

गोचर रूप विधान करने वाले शब्द लक्षणा का आश्रय ग्रहण करते हैं।[५०५] रीतिवादियों की शब्दावली में यह दण्डी का 'समाधि' गुण है।

**२—विशेषरूप एवं व्यापार सूचक शब्द**

शुक्ल जी की दृष्टि में जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप एवं व्यापार सूचक शब्द कविता में अधिक उपयोगी होते हैं,[५०६] क्योंकि जाति संकेत वाले शब्द से कोई स्पष्ट चित्र या मूर्त रूप नहीं खड़ा होता है, जो कविता का प्रकृत कार्य होता है। यह दूसरा रीतितत्त्व वामन के अर्थगुण के अन्तर्गत आ जाता है।

**३—वर्ण विन्यास**

वह रीति तत्त्व की तीसरी विशेषता है। ऊपर यह कहा गया है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कविता नाद-सौष्ठव के लिए संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्ति-विधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य-साधन के लिए ही हैं। किन्तु शुक्ल जी इस तत्त्व का काव्य में चमत्कार या तमाशा की सीमा तक ले जाने के पक्ष में नहीं हैं, जिसके कारण रचना बेडौल और भाव शून्य हो जाती है।[५०७] उसमें अनुप्रास की लम्बी लड़ी—वर्ण-विशेष की निरन्तर आवृत्ति के सिवा भाव या रस-धारा आदि की ओर ध्यान ही नहीं जाता।[५०८] किन्तु साथ ही वे नाद-सौंदर्य की कविता से बिलकुल हटाने के भी पक्ष में नहीं हैं, अतः भावानुरूप वर्ण-विन्यास उन्हें उचित सीमा तक स्वीकार है।

**४—साभिप्राय विशेषण**

शुक्ल जी की दृष्टि में यह काव्य-रीति का चौथा मूल तत्त्व है। संस्कृत साहित्य में व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दों के व्यवहार की एक स्वस्थ परम्परा रही है। आचार्य शुक्ल ने वहीं से इसे ग्रहण किया। हिन्दी साहित्य में भी यह परम्परा वहीं से आयी।

शुक्ल जी ने संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस तत्त्व का निरूपण किया है। उनका कहना है कि 'कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप गुण या

व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थ-गर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं।'[५०९]

शुक्ल जी का मत है कि "ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए 'हे गोपिका-भरण ! हे वृन्दावन बिहारी !' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कंसनिकदन !' आदि सम्बोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर।'[५१०]

इस तथ्य का भी समावेश वामन के अर्थगुण के अन्तर्गत हो जाता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के रीति-तत्त्व को विवेचित करने के साथ ही साथ उन्होंने प्रसंगवश पाश्चात्य 'रीतिवाद' का भी यत्किंचित् उल्लेख किया है। सबसे पहले उन्होंने श्री एफ० एस० फ्लिंट द्वारा प्रवर्तित 'मूर्तविधानवाद' [५११] (Imagism) की चर्चा की है। श्री फ्लिंट का यह सिद्धान्त है कि कविता में जो बात कही जाय वह सब इस रूप में हो कि उसकी मूर्त भावना हो सके।'[५१२] इसीलिए यह सिद्धांत 'मूर्तविधान-वाद' कहलाता है। इस मत के अनुसार काव्य में भाव-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।'[५१३] विचारात्मक तथा लम्बी कविताएँ भी इसके अनुसार अच्छी नहीं होतीं तुलना से ज्ञात होता है कि मूर्तत्व का प्रश्न शुक्ल जी के मत के अनुरूप है, किन्तु उसका यह पक्ष कि विचारात्मक तथा लम्बी कविताएँ अच्छी नहीं होतीं, उनके मत के सर्वथा विपरीत है। उनकी दृष्टि में तो प्रबन्धकाव्य ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप होता है, जिसमें विचारात्मकता और लम्बाई (विस्तार) दोनों अनिवार्य होती हैं।

इसके पश्चात् शुक्ल जी ने फ्रांस से चले 'संवेदनावाद' [५१४] (Impressionism) नामक 'रीतिवाद' का उल्लेख और विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि 'संवेदना-वाद' के अनुयायी कविता को संगीत के और निकट लाना चाहते हैं।'[५१५] वे शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझते, जितना उनकी नाद-शक्ति पर।'[५१६] जैसे, यदि मधुमक्खियों के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन्न-भिन्न 'मिन-मिन' ऐसी ध्वनि वाले, हवा के बहने और पत्तों के बीच घुसने का वर्णन होगा तो 'सर-सर' 'मर्मर' ऐसी ध्वनि वाले शब्द इकट्ठे लिए जायँगे।'[५१७]

प्रस्तुत मत की शुक्ल जी के मत से तुलना करने पर पता चलता है कि यह मत शुक्ल जी के नाद-सौंदर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न है। शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य में 'अर्थ' अनिवार्य और प्राथमिक होता है, उसकी उपेक्षा या अवहेलना किसी भी दशा में नहीं की जा सकती है, किन्तु संवेदनावादियों की दृष्टि में 'अर्थ' तत्त्व गौण हो जाता है और नाद सौन्दर्य या संगीतात्मकता ही प्रमुख हो जाती है। वस्तुतः संवेदना-वाद काव्य में बुद्धि-विरोध का ही एक रूप है। शुक्ल जी का मत सर्वथा इसके विरुद्ध है।

उपर्युक्त 'मूर्तविधानवाद' और 'संवेदनावाद' के अतिरिक्त शुक्ल जी ने इनके मिश्रण से किए गए श्री ई०ई० कमिंग्ज़ के विलक्षण रीति-प्रयोग की भी व्याख्यात्मक चर्चा की है। इसे उन्होंने 'तमाशा' कहा है।'[५१८] श्री कमिंग्ज़ ने पद-भंग, पद-लोप, वाक्य-लोप तथा अक्षर-विन्यास, चरण-विन्यास इत्यादि के तमाम प्रयोग प्रदर्शित किए हैं।

श्री कमिंग्ज़ के प्रयोगों के स्पष्टीकरण के लिए शुक्ल जी ने उनकी एक अंग्रेजी कविता उद्धृत कर उसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत करते हुए उसकी व्याख्यात्मक आलोचना की है।'[५१९]

**मूल कविता**

SUNSET[५२०]
Stinging
gold swarms
upon the spires
Chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
and a tall
Wind
is dragging
the
sea
with
dream
s

**अनूदित रूप**

'सूर्यास्त'[५२१]
सं—दंश
स्वर्ण 'गुन' जाल
सिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े-बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
और एक उत्तुंग

पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

शुक्ल जी के अनुसार—'यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन जिसका विषय यह है। समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधु-मक्खियों के फैले हुए झुण्ड सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देवमन्दिर के मंडप सी जान पड़ती है, जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े-बड़े घण्टे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती है जैसे मछुआ जाल खींचता है। सूर्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अंधकार हो जाता है, लोग सोते हैं।'[५२२]

इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिए ही उपर्युक्त रीति से पद-विन्यास किया गया है।

'यहाँ 'सं०' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की ओर 'दंश' के चमड़ा फटने, पानी की ठंडक और मधु-मक्खी के डंक मारने की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधु-मक्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुन' से गुनगुनाहट और गुंजार का संकेत किया गया है, जो 'दंश' के साथ मिलकर मधु-मक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुंड का द्योतक है 'पाठ', 'घंटे' और 'नगाड़े' को मिलाकर मन्दिरों में होने वाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छींटों के कलकल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घंटे' की मूर्त भावना में लहरों के नीचे-ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का भी संकेत है। रचना के प्रथम खण्ड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गए हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रखकर सूर्य का, और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जलराशि वा समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है।'[५२३]

इस प्रयोग के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कहना है कि श्री कमिंग्ज की समझ में यह विषय को वैसे ही सामने रखना है, जैसे संवेदना उत्पन्न होती है।'[५२४] इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ सम्बन्ध मिलाने के लिए, या व्याकरण के अनुसार वाक्य-विन्यास के लिए लाये जाते हैं, परन्तु संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते—जैसे, 'और', 'किन्तु', 'फिर' इत्यादि। श्री कमिंग्ज की दृष्टि से यह शुद्ध (खालिस) कविता है, जिसमें भाषा, व्याकरण, तात्पर्यबोध आदि का अनुरोध पूरा करने वाले फालतू शब्द निकाल दिए गए हैं।'[५२५]

किन्तु शुक्ल जी श्री कमिंग्ज़ की इस धारणा से सहमत नहीं, वे इसे 'शब्दों की कलाबाज़ी'[५२६] और 'पहेली खड़ी करना'[५२७] मानते हैं। उन्होंने 'काव्यदृष्टि की परिमिति'[५२८] और 'प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता'[५२९] को इस प्रवृत्ति का कारण बताया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य मतों की सापेक्षता में काव्य में रीति तत्व के सदुपयोग एवं दुरुपयोग दोनों पक्षों पर विचार किया है। उनकी समग्र दृष्टि ने किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं की है। वे काव्य में रीति विधान को आवश्यक मानते हैं, किन्तु वहीं तक, जहाँ तक उसकी सहायता से भाव-व्यंजना और रस-परिपाक में सहायता मिले। उनकी विचारणा के अनुसार काव्य में रस की प्रतिष्ठा प्रमुख और रीति की प्रतिष्ठा गौण है। वे रीति को रस के आश्रित मानते हैं और जहाँ रस को काव्य में साध्य के रीति की सार्थकता रस के आश्रित होने में ही है, उसे आश्रित करने में नहीं।

### काव्य में स्थान

आचार्य शुक्ल ने जहाँ यह लिखा है कि 'रीति is simply संघटना, the building up of शरीर, वहीं और उसी के साथ यह भी लिखा है कि' Therefore it Cannot be आत्मा।'[५३०] स्पष्ट है कि शुक्ल जी रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानते हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[५३१] उनका प्रसिद्ध सूत्रवाक्य है। किन्तु उनकी यह मान्यता संस्कृत के अधिकांश आचार्यों को मान्य नहीं हुई। आचार्य आनन्दवर्धन ने वामन द्वारा निरूपित रीति के स्वरूप को तत्वतः स्वीकार किया है, किन्तु उसे उन्होंने काव्यात्मा नहीं माना है। वामन की रीति स्वतन्त्र थी, किन्तु आनन्दवर्धन की रीति स्वतन्त्र न होकर रसाश्रयी है। वामन की रीति अपने-आप में सिद्धि है, किन्तु आनन्दवर्धन की रीति अपने-आप में सिद्धि न होकर रसरूप सौन्दर्य की साधन है—'व्यनक्ति सा रसादीन्'।[५३२] यही वामन और आनन्दवर्धन की रीतियों में मौलिक अन्तर है। सम्भवतः इसी अन्तर को ही दृष्टि में रखकर आचार्य आनन्दवर्धन ने वामन द्वारा की गई रीति की परिभाषा 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' को ज्यों का त्यों न अपना कर उसे तत्वतः स्वीकार करते हुए भी 'संघटना' संज्ञा से अभिहित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन का ही दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों को प्रायेण मान्य रहा। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई विरला ही पैदा हुआ। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं। एक वामन के टीकाकार शिंग्यभूपाल का 'असवो रीतयः' और दूसरा अमृतानन्द योगिन् का 'रीतिरात्मात्र' ( अलंकार संग्रह )।[५३३] शेष सभी आचार्यों ने रीति को स्वीकार करते हुए भी उसे काव्य की आत्मा नहीं माना। स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने भी आनन्दवर्धन का ही दृष्टिकोण अपनाया है। इसीलिए उन्होंने जानबूझकर

रीति के सन्दर्भ में 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है, 'विशिष्टा पदरचना' का नहीं। बात यह है कि आचार्य शुक्ल रसवादी आचार्य हैं, उनका दृढ़ मत है कि शैली के समस्त उपकरणों—रीति, अलंकार आदि का चमत्कार अर्थ के चमत्कार रस पर आश्रित रहता है। अत: उनका रीति को काव्य की आत्मा न मानना और आचार्य वामन का अनुसरण न कर आचार्य आनन्दवर्धन का अनुसरण करना स्वाभाविक ही है। रीति सिद्धांत की परीक्षा करने पर आचार्य आनन्दवर्धन एवं शुक्ल जी की रीति सम्बन्धी मान्यता तर्कसंगत ठहरती है। रीति को काव्यात्मा कहकर वामन ने वस्तुत: 'वस्तु' और 'रीति' (शैली) में रीति को ही प्रधानता दी है। यह सच है कि उन्होंने वस्तु तत्त्व का निषेध न कर उसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु यह भी सच है कि उन्होंने वस्तु को रीति के आश्रित माना है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि "गुण के 'अर्थगुण' और 'शब्द गुण' ये दो भेद कर, और कांति में इसकी दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्त्व दोनों ही अंगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्त्व रीति का ही है—जिसके बिना अर्थ गुण-सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता।"[५३४] वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में यह सिद्धांत प्राय: सर्वमान्य सा है कि काव्य का मूल तत्त्व वस्तु (भाव तथा विचार) तत्त्व ही है। रीति सर्वथा उसी के आश्रित है। रीति माध्यम मात्र और वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है। देश-विदेश के अधिकांश आचार्यों का प्राय: यही मत रहा है। अरस्तू, लोंजाइनस और इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि विचारकों का यही मत है। श्री आर्नल्ड के मतानुसार 'प्राचीन कवियों की अभिव्यंजना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है, क्योंकि वह अपनी शक्ति सीधे उस वस्तु के अर्थ गौरव से ग्रहण करती है।'[५३५] सम्भवत: ठीक यही दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल का है। डॉ० नगेन्द्र का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है कि 'हमारे यहाँ इसकी (रीति तत्त्व के वस्तु तत्त्व के आश्रित होने की) सबसे प्रबल उद्घोषणा शुक्ल जी ने की है।'[५३६] यह उनकी रीति सम्बन्धी धारणा से भी स्पष्ट है। रीति या शैली को काव्यात्मा कहना निश्चय ही एक प्रवंचना है। काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सामान्यत: बद्ध हृदयों को मुक्त कर रस-दशा में पहुँचाना, उसका सहज परिणाम है भावपरिष्कार। यह सब भावों का ही व्यापार है। भावतत्त्व के द्वारा ही काव्य में रमणीयता, हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा, और अन्तत: भाव परिष्कार की सिद्धि होती है। यही नहीं, रीति या शैली में भी रमणीयता का समावेश भावतत्त्व के द्वारा ही होता है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार 'भावों की उत्तेजना से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वत: सिद्ध वैज्ञानिक तथ्य है।'[५३७] अत: काव्य में भाव तत्त्व की प्रधानता सिद्ध होती है और रीति या शैली उसी के आश्रित रहती है। परिणामत: डॉ० नगेन्द्र का यह निष्कर्ष कि 'रीति-सिद्धांत ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मानकर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया…।'[५३८] सही प्रतीत होता है।

**रीति के आधार और मूल तत्त्व**

आचार्य शुक्ल ने 'रीति के आधार' पर विचार नहीं किया है—यह उसका एक अभावात्मक पक्ष है, किन्तु इसके लिए वे दोषी नहीं, क्योंकि उन्होंने रीति पर प्रसंगतः ही यत्र-तत्र अपना अभिमत प्रकट किया है। रीति का सर्वांगीण विवेचन करना कभी उनका उद्देश्य न था। बहुधा जलवायु की विशिष्टता के कारण भौगोलिक प्रदेश को और वैयक्तिक विशिष्टता के कारण कवि-स्वभाव को रीति के आधारों के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रधानता सर्वत्र पूर्व और पश्चिम में कवि स्वभाव को ही मिली है।

जहाँ तक रीति के मूल तत्त्व का प्रश्न है—उनका स्पष्ट संकेत शुक्ल जी के रीति सम्बन्धी विवेचन में मिल जाता है। आचार्य वामन ने रीति को पद-रचना मानते हुए 'गुणों' को ही उसका मूल तत्त्व माना है।[५३९] राजशेखर ने 'समास' के साथ ही 'अनुप्रास' को भी रीति का मूल तत्त्व माना है।[५४०] आचार्य मम्मट ने गुण-व्यंजक वर्ण-गुम्फ को रीति का मूल तत्त्व माना है।[५४१] आचार्य विश्वनाथ ने वर्ण-संयोजना, शब्द-गुम्फ और समास को रीति का मूल तत्त्व माना है।[५४२] पहले हमने यह स्पष्ट किया है कि शुक्ल जी ने 'रीति' का अति घनिष्ठ सम्बन्ध संगीत तत्त्व अर्थात् नाद-सौष्ठव से जोड़ा है। निश्चय ही नाद-सौष्ठव का प्रमुख आधार वर्ण-गुम्फ होता है—जिसके अन्तर्गत अनुप्रास स्वतः समाविष्ट हो जाता है। अतः वर्ण गुम्फ या संयोजना असंदिग्ध रूप से शुक्ल जी के मतानुसार रीति का मूल तत्त्व ठहरती है। वर्ण-विन्यास का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख भी किया है।[५४३] रीति से मूल तत्त्व के रूप में 'समास' का सांकेतिक उल्लेख भी उन्होंने नहीं किया है, किन्तु 'शब्द गुम्फ' का संकेत उन्होंने रीति के मूल तत्त्व के रूप में किया है।

**गुण सिद्धान्त**

आचार्य शुक्ल के मतानुसार गुण रस के धर्म हैं,[५४४] शब्द और अर्थ के धर्म नहीं। वे रस के आश्रित होते हैं[५४५] किन्तु आश्रित होते हुए भी रस-परिपाक में सहायक और उत्कर्ष कारक होते हैं।[५४६] गुण सम्बन्धी उनका यह दृष्टिकोण ध्वनि-कार और काव्य प्रकाशकार के मत से मेल खाता है और दण्डी-वामन आदि रीति-वादियों के मत के विपरीत है। रीतिवादी आचार्य गुणों का सम्बन्ध रस से न मानकर उन्हें शब्दार्थ का धर्म मानते हैं।

**वक्रोक्ति सिद्धान्त**

आचार्य शुक्ल ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की चर्चा प्रसंगवश ही की है—उसका पृथक् और स्वतन्त्र निरूपण नहीं किया है। काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कारवाद' की आलो-चनात्मक चर्चा करते हुए उन्होंने दो प्रकार के वक्रोक्तिवाद का स्पष्ट उल्लेख किया है—

(१) कुंतक का वक्रोक्तिवाद, और

(२) 'क्रोचे' का वक्रोक्तिवाद, जिसे उन्होंने 'विलायती वक्रोक्तिवाद'[५४७] की संज्ञा दी है। कुंतक के वक्रोक्तिवाद के बारे में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'कुंतक जी की वक्रता बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत वे वाक्यवैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं।'[५४८] निश्चय ही यहाँ पर 'वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता' से शुक्ल जी का तात्पर्य शैलीगत वक्रता और 'वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता' से अर्थगत वक्रता का है। कुंतक[५४९] ने मूलतः वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं—१—वर्ण-विन्यास-वक्रता, २—पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, ३—पदपरार्ध-वक्रता, ४—वाक्य-वक्रता, ५—प्रकरण-वक्रता, ६—प्रबन्ध-वक्रता। इस भेद-निरूपण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का कथन वस्तुतः सच है कि कुंतक की व्यापक वक्रता में वाक्य-वैचित्र्य वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य-वक्रता दोनों का समावेश है। निस्सन्देह वक्रोक्ति के उक्त विभेदों में से अन्तिम दो प्रकरण और प्रबन्ध वक्रताओं का सम्बन्ध वस्तु या अर्थ से ही है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति की मौलिक व्याख्या करते हुए उसे सर्व-व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है—काव्य के सभी अंग, वस्तु भी उसमें समाविष्ट हैं। इस वस्तु-सत्य के बावजूद शुक्ल जी की वक्रोक्ति-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट नहीं है।

वक्रोक्ति का नियमित विवेचन सबसे पहले भामह के काव्यालंकार में मिलता है—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।'[५५०] भामह ने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का समावेश माना है। इस प्रकार भामह के अनुसार शब्द-वक्रता और अर्थ-वक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है। उनकी धारणा के अनुसार वक्रोक्ति काव्य-सौंदर्य का पर्याय है और उसके अन्तर्गत रस अलंकार तथा स्वभाव-कथन आदि सभी आ जाते हैं।[५५१] आचार्य दण्डी की धारणा भामह की धारणा से केवल इस बात में भिन्न है कि उसमें स्वभाव-कथन का अन्तर्भाव नहीं है।[५५२] आचार्य वामन की धारणा के अनुसार वक्रोक्ति सादृश्यगर्भा लक्षणा पर आश्रित अर्थालंकार है—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[५५३] आचार्य रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति वाक्छल—रूप शब्दालंकार है।[५५४] कुंतल का स्पष्ट मत है कि—सालंकारस्य काव्यता, वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।'[५५५] इससे शुक्ल जी का यह कथन भी सत्य प्रतीत होता है कि 'सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे (कुन्तक जी) काव्यत्व मानते हैं।'[५५६] कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है:

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।' अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कविकर्म-कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उससे द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है।[५५७] इस व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र अभिधा अर्थात् उक्ति

(कथन-प्रकार) और विचित्र का अर्थ है प्रसिद्ध कथन-शैली से भिन्न। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कुन्तक की वक्रोक्ति मात्र शब्द-क्रीड़ा अथवा अर्थ-क्रीड़ा है। डॉ० नगेन्द्र ने बहुत ही ठीक लिखा है कि—"वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपबन्ध रखा है—'तद्विदाह्लादकारित्व'। अर्थात् उक्ति का विचित्र अथवा लोकशास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, और कवि-कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है—उसमें तो सहृदय का मन:प्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यत: होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह कि वक्रोक्ति केवल शब्द-क्रीड़ा अथवा अर्थ क्रीड़ा नहीं है—और दूसरा *यह कि वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि स्वभावोक्ति में* स्वभाव-वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मन:प्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान रहती है: अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध, इतिवृत्तवर्णन या भामह आदि के शब्दों में, वार्ता से ही है।"[५५८]

वक्रोक्ति को काव्य का नित्य लक्षण अथवा आत्मा मानने का प्रश्न उपस्थित होने पर शुक्ल जी ने सर्वत्र विरोधी रुख अपनाया है। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तक जी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं।"[५५९] स्पष्ट है कि शुक्ल जी वक्रोक्ति को काव्य का नित्य लक्षण या आत्मा स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि वक्रोक्ति को काव्य का नित्य लक्षण या आत्मा मानने वाले वक्रोक्तिवादियों के मतानुसार हर 'ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो'[५६०] काव्य होगी। अतएव उनका यह दृढ़ मत है कि वैचित्र्य वक्रता या चमत्कार शून्य होने पर भी अनेक उक्तियाँ अपनी मार्मिकता के कारण सत्काव्य के भीतर स्थान पा सकती हैं और दूसरी ओर चमत्कार, वैचित्र्य या वक्रतापूर्ण होने पर भी अनेक उक्तियाँ मार्मिकता या अनुभूति के अभाव में काव्य के भीतर स्थान नहीं पा सकतीं। वक्रोक्ति को काव्य का नित्य लक्षण न स्वीकार करने के पीछे उनका यही ठोस तर्क है कि उसे (चमत्कार *या वैचित्र्य* को) काव्य का नित्य लक्षण स्वीकार कर लेने पर कोई वाक्य, वह चाहे कितना ही मर्मस्पर्शी हो, उक्ति-वैचित्र्य शून्य होने पर काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विचार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्ति-वैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा।[५६१] अपने तर्क की परिपुष्टि में उन्होंने पद्माकर एवं केशवदास की पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं।[५६२]

यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने यहाँ 'वक्रोक्ति' का शाब्दिक अर्थ ग्रहण कर सामान्य वक्रता या चमत्कार के प्रति अपनी तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक धारणा व्यक्त की है, न कि कुन्तक की वक्रोक्ति को उनके शास्त्रीय एवं सुनिश्चित पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण कर उसकी योजनाबद्ध आलोचना की है। और यदि यह मान लिया जाय कि शुक्ल जी ने

कुन्तक के ही अर्थ में 'वक्रोक्ति' को ग्रहण कर उसकी आलोचना की है तो उनकी स्थापनाएँ एक सीमा तक असंगत हो जायँगी। स्वयं उन्हीं का तर्क उन्हीं को टिकने नहीं देगा। उनके पूर्व उद्धृत मतानुसार कुन्तक जी की व्यापक वक्रता में वाक्यगत एवं वस्तुगत दोनों ही प्रकार की वक्रताओं का अन्तर्भाव है। इसे मान लेने पर शुक्ल जी का यह कथन कि 'वक्रोति को काव्य का नित्य लक्षण स्वीकार करने पर कोई वाक्य वह चाहे कितना ही मर्मस्पर्शी हो, उक्ति वैचित्र्य-शून्य होने पर काव्य के अन्तर्गत न होगा, गलत हो जायगा, क्योंकि उक्ति वैचित्र्य शून्य होने पर भी मार्मिकता के कारण उसमें अर्थगत या वस्तुगत वैचित्र्य तो रहेगा ही। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र के ऊपर उद्धृत मत से स्पष्ट है। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने यहाँ वक्रोक्ति का सामान्य शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण किया है, आचार्य कुन्तक का काव्यशास्त्रीय अर्थ नहीं। 'वक्रोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है' उक्तिगत वैचित्र्य' या 'शैलीग वैचित्र्य'। इस अर्थ को दृष्टि में रखकर उनका स्पष्ट कथन है कि काव्य की उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो।[५६३] उनकी दृष्टि में ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक-भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है।[५६४] इस प्रकार शुक्ल जी काव्य को सूक्ति से पृथक् कर चमत्कार, अनूठेपन या रचना-वैचित्र्य को सूक्ति का नित्य लक्षण स्वीकार करते हैं काव्य का नहीं। उनके मतानुसार काव्य में चमत्कार का प्रयोग चमत्कार के लिए नहीं, अपितु किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए किया जाना चाहिए। उनकी मान्यता है कि जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है, उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्राय: कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।[५६५] यह स्वाभाविक है, क्योंकि बातचीत में भी कभी-कभी किसी को मूर्ख न कह कर बैल कह दिया जाता है।[५६६] इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में होती है, वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती।[५६७] किन्तु इस आधार पर यह निश्चय करना कि चमत्कार या उक्ति वैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है, शुक्ल जी की दृष्टि में उचित नहीं।[५६८] उन्हें उक्ति की वचन-भंगी या वक्रता वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं।[५६९]

आचार्य शुक्ल रसवादी आचार्य हैं। उनकी दृष्टि में रस ही काव्य की आत्मा है, 'वक्रोक्ति' नहीं। उनकी वक्रोक्ति रसाधीन एवं रसानुगामिनी है, स्वतन्त्र नहीं, किन्तु रस स्वतन्त्र है, 'वक्रोक्ति' उसकी अनिवार्यता नहीं है। अत: रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध उनकी दृष्टि में अविच्छेद्य नहीं, विच्छेद्य है। अत: वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक की दृष्टि में 'रस' और 'वक्रोक्ति के सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

यह वस्तु सत्य है कि आचार्य कुन्तक ने रस को कहीं भी तिरस्कृत नहीं किया है अपितु ध्वनिकार की ही भाँति उन्होंने भी रस को काव्य का परम तत्त्व माना है। प्रबन्धवक्रता के विवेचन में उन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप प्रबन्ध वक्रता है—*'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः'*[५७०] (४।२६) अर्थात् प्रबन्ध कवीन्द्रों की कीर्ति का मूल कारण है। इसी प्रबन्ध के विषय में उनकी सुदृढ़ धारणा है—

निरन्तरसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥ (४।११)[५७१]

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है। इससे (डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार) सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्तक के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है प्रबन्ध और प्रबन्ध का प्राणतत्त्व है रस। यह सच है कि कुन्तक की दृष्टि में काव्य का प्राण निश्चय ही वक्रोक्ति है, किन्तु उनकी वक्रोक्ति का अर्थ जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है उक्ति चमत्कार मात्र न होकर कवि-कौशल अथवा काव्य-कला ही है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि "कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान रस है। अतएव रस वक्रोक्ति रूपिणी काव्य-कला का परम तत्त्व है : काव्य की प्राण-चेतना है वक्रता, वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रस-सम्पदा।"[५७२] इस प्रकार आचार्य कुन्तक की दृष्टि में 'वक्रोक्ति' का परम तत्त्व (आत्मा) रस ठहरता है। अतः कहा जा सकता है कि कुन्तक के मतानुसार यदि 'वक्रोक्ति' काव्य का प्राण या आत्मा है तो 'रस' वक्रोक्ति का प्राण या आत्मा है। अतः उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति और रस का काव्यक्षेत्र में अविच्छेद्य सम्बन्ध ठहरता है। यद्यपि रस के बिना वक्रोक्ति जीवित रह सकती है, किन्तु 'काव्य जीवित' के रूप में नहीं। वक्रोक्ति और वक्रोक्ति में भेद होता है। हर वक्रोक्ति काव्यात्मक हो जरूरी नहीं, ठीक वैसे ही जैसे यह जरूरी नहीं कि हर रस काव्य-रस हो। अतः वक्रोक्ति भी काव्यात्मक हो सकती है और अकाव्यात्मक भी। काव्यात्मक वह तभी होगी जब उसमें तद्विदाह्लादकारित्व होगा अर्थात् वह रसात्मक होगी। और तभी वह कुन्तक के मतानुसार काव्य के जीवित रूप में भी होगी, अन्यथा नहीं। डॉ० रामलाल सिंह का यह मत कि "···वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार ऐसी स्थिति तो आ सकती है जब काव्य रस के बिना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रह सकता है किन्तु ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है जब वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में जीवित रहे।"[५७३] वस्तुतः 'वक्रोक्ति' के शाब्दिक अर्थ पर निर्भर है, आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति सम्बन्धी अवधारणा पर नहीं अतः उनका यह कथन 'वक्रोक्ति' के शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से ही सही है, आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति एवं काव्य सम्बन्धी अवधारणा की दृष्टि से नहीं। आचार्य कुन्तक ने काव्य के लक्षण, प्रयोजन, विषयवस्तु, काव्य भेद, काव्य-मार्ग आदि सभी का विवेचन 'रस' को अनि-

वार्यतया दृष्टि में रख कर किया है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वे रस के अभाव में काव्य की स्थिति स्वीकार करते हैं। क्या इसीलिए जो उन्होंने रस को काव्य का जीवित न कह कर 'वक्रोक्ति' को काव्य-जीवित कहा है? यदि इसीलिए तो उन्होंने 'रस' ही नहीं, शब्द और अर्थ को भी तो काव्य का जीवित नहीं कहा है, तो क्या उनके भी अभाव में वे काव्य की सत्ता स्वीकार करते हैं? कदापि नहीं। यह उनके काव्य के लक्षण से सुस्पष्ट है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ (१।७)[५७४]

अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार युक्त रचना (बंध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं।

क्रोचे के वक्रोक्तिवाद अथवा विलायती वक्रोक्तिवाद के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है—'विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं।'[५७५] इस अभिमत का उल्लेख पुनरावृत्ति से बचने के लिए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के संदर्भ में करना अधिक प्रासंगिक एवं उपयुक्त होगा।

## शब्द-शक्ति

आचार्य शुक्ल काव्य में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्द-शक्तियों की सत्ता स्वीकार करते हैं और अभिधा शक्ति को प्राथमिक एवं लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों के भी मूल में निहित बताते हैं। उनका कहना है कि लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति अभिधा के पथ पर चलकर ही होती है। वाच्यार्थ को समझे बिना लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को नहीं समझा जा सकता।[५७६] उनकी दृष्टि में उपपन्नता या प्रकरण सम्बद्धता अर्थ के लिए अनिवार्य है।[५७७] अत: काव्य में वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का आह्वान किया जाता है।[५७८] वस्तुत: अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा और व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।[५७९] यदि इस प्रक्रिया से भी योग्य या सम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह काव्य या कथन प्रलापमात्र मान लिया जाता है।[५८०]

इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में वाच्यार्थ ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के मूल में और अभिधा शक्ति ही लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के मूल में निहित ठहरती है। काव्य में उक्त तीनों अर्थों और शक्तियों का समावेश रहता है। शुक्ल जी उसमें भी वाच्यार्थ और अभिधा शक्ति को ही प्रधानता देते हैं।

## काव्य की रमणीयता का अधिवास

शब्द-शक्तियों के विवेचन के ही सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने यह प्रश्न उठाया

है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्षणार्थ या व्यंग्यार्थ में ? और स्वयं उत्तर देते हुए कहा है—'इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।'[५८१] इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'साकेत' से दो उदाहरण दिये हैं :—

(१) जीकर, हाय ! पतंग मरे क्या ?

उनका कहना है कि "यह एक लक्षणायुक्त वाक्य है। इसमें जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे ?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जायगा।"[५८२] और—

(२) आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

शुक्ल जी का कहना है कि "इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप ही मिट जायेगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या ? पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहृत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।' इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ नहीं।"[५८३]

आचार्य शुक्ल की यह स्थापना हिन्दी के आलोचकों में विवाद का विषय रही है। डॉ० नगेन्द्र शुक्ल जी के उपर्युक्त विवेचन को उनका एक हलका सा दिशांतर भ्रमण मानते हैं और कहते हैं कि उनका यह विवेचन उनके अपने काव्य-सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।[५८४] किन्तु स्वयं शुक्ल जी ने कहा है कि "मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।"[५८५] अतः विशद विवेचन के पश्चात् ही इस विषय पर कुछ कहना ठीक होगा।

सर्वप्रथम हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि वाच्यार्थ से शुक्ल जी का तात्पर्य क्या है ? उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे 'उक्ति' को ही 'वाच्यार्थ' कहते हैं। उनकी दृष्टि में उक्ति और वाच्यार्थ में कोई भेद नहीं। जब वे कहते हैं कि वाच्यार्थ ही काव्य है तो वे यही कहते हैं कि उक्ति ही काव्य है। उन्होंने पर्याय के रूप में उन्हें एक साथ प्रयुक्त भी किया है 'उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यता या रमणीयता होगी…।'[५८६]

इसके पश्चात् हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि यदि उक्ति अर्थात् वाच्यार्थ में ही काव्यत्व होता है तो फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है ? और वाच्यार्थ के बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है ?

आचार्य शुक्ल ने स्वयं इन प्रश्नों को उठाया है और इनका उत्तर दिया है। उनका कथन है कि साहित्य मीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो चाहे छिपी।[५८७] उक्ति चाहे कितनी ही अतिरंजित, दूरारूढ़ और उड़ानवाली हो—उसका वाच्यार्थ चाहे कितना ही प्रकरण च्युत व्याहत और असम्भव हो उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य और बुद्धि ग्राह्य अर्थ होना चाहिए।[५८८] इसीलिए योग्य और उपपन्न अर्थ खोजने का प्रयास किया जाता है। व्यंग्यार्थ के प्रयोजन के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि 'वह काव्य नहीं, किंतु काव्य को धारण करने वाला सत्य होता है, जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। व्यंजना करने वाली उक्ति की साधुता और सचाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है।'[५८९]

अब हमें यह देखना होगा कि वाच्यार्थ या उक्ति का व्यंग्यार्थ से क्या सम्बन्ध होता है? उक्ति ही पाठक या श्रोता के समक्ष होती है। वह दो प्रकार की होती है—१—योग्य और उपपन्न, २—अयोग्य और अनुपपन्न। दोनों ही अवस्थाओं में उक्ति दो प्रकार से अर्थ को प्रकट करती है। 'अर्थ' का तात्पर्य वक्ता के प्रयोजन अर्थात् कथ्य से है। वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उसका कुछ अंश तो उक्ति में स्पष्ट रूप से कथित रहता है और कुछ अंश अकथित अथवा छिपा रहता है, जिसका संकेत मात्र उक्ति से बोधव्य या श्रोता को मिलता है। यही अदृश्य अर्थ व्यंग्यार्थ होता है— चाहे इसे व्यंजना शक्ति द्वारा उपलब्ध व्यंग्यार्थ माना जाय जैसा कि अलंकार शास्त्रियों की मान्यता है और चाहे व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट के अनुसार व्यंजना को अनुमान से अभिन्न मानकर अनुमितार्थ माना जाय, कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक दशा में वह अर्थ अनुक्त और अदृश्य, किन्तु साथ ही साथ संकेतित सा रहता है। यही कारण है इस व्यंग्यार्थ को किसी भी दशा में 'उक्ति' अर्थात् कथित अर्थ अथवा काव्यार्थ से पृथक नहीं किया जा सकता है। कहना तो यह चाहिए कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का ही विस्तार होता है और वाच्यार्थ या उक्ति के अभाव में जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का आधार सिद्ध होता है। 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ से अलग होने पर काव्यत्व से रहित हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही होना चाहिए कि कोई भी अर्थ—चाहे वाच्यार्थ हो या लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ हो, तब तक काव्य का अधिकारी नहीं हो सकता, जब तक वाणी द्वारा उसका शब्द-विधान न हो अर्थात् जब तक वह वाणी द्वारा अभिव्यक्त न हो। और वाणी द्वारा (शब्दों में) अभिव्यक्त अर्थ वाच्यार्थ ही होता है, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नहीं, क्योंकि यदि व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ शब्दों द्वारा कथित होंगे तो वे वाच्यार्थ हो जायेंगे और उनकी सत्ता ही मिट जायेगी। वस्तुतः उनकी सत्ता ही अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। अतः अनुक्त होने के कारण लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ काव्य नहीं हो सकते—वाच्यार्थ ही काव्य होता है और उसमें ही रमणीयता रहती है अतः आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त कथन पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है।

व्यंग्यार्थ जब उक्ति या वाच्यार्थ से अलग हो जायगा तो वह व्यंग्यार्थ रह ही

नहीं जायगा, क्योंकि उक्ति या वाच्यार्थ के ही माध्यम से उसकी व्यंजना होती है। जब उक्ति ही नहीं रहेगी तब वह व्यंजित कैसे करेगी। डॉ० रामलाल सिंह की भी यही मान्यता है। उनका कथन है कि व्यंजित होने वाला, अभिप्राय, भाव या रस वाच्यार्थ से अलग होने पर काव्यत्व से रहित हो जाता है। अतः वह स्वयं में आस्वाद्यमान नहीं हो सकता है।[५९०] वस्तुतः व्यंजित वस्तु या तथ्य या भाव काव्यमयी अभिव्यंजना के मध्य ही सुन्दर प्रतीत होता है उससे पृथक हो जाने पर उसकी रमणीयता, उसका सौंदर्य जाता रहता है। अतः स्पष्ट है कि उक्ति ही कविता है।

'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में भी शुक्ल जी ने इस प्रश्न पर विचार किया है। वहाँ उन्होंने बताया है कि व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है, व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं।[५९१] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी दृष्टि में उक्ति ही कविता है, व्यंग्यार्थ नहीं। यहाँ उन्होंने केशव की कविता—

'क्रूर कुठार निहारि तज्यो, फल ताको यहै जो हियो जरई।
आजु ते तो कहँ, बंधु महाधिक, छत्रिन पर जो दया करई॥'

का उद्धरण देकर उसकी व्याख्या की है और यह निकर्ष निकाला है कि व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है। अतएव यह उक्ति ही कविता है, न कि परशुराम ने क्रोध किया, यह व्यंग्यार्थ या अभिप्राय।[५९२]

ध्यातव्य है कि शुक्ल जी ने 'उक्ति' या वाच्यार्थ में ही काव्यत्व अथवा काव्य की रमणीयता का अधिवास बताया है और 'उक्ति' को ही कविता माना है, किन्तु उन्होंने लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को कहीं उपेक्षित नहीं किया है। उनकी उपर्युक्त स्थापना का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं और काव्य में उनका कोई विचार ही नहीं होता। उन्होंने स्पष्टरूप से यह घोषित किया है कि 'जब तक 'उक्ति' का *व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ सामंजस्य नहीं होगा तब तक वह* उन्मत्त प्रलाप या विचारपूर्वक जान बूझकर खड़ा किया गया धोखा ही मानी जायगी।'[५९३] अतः काव्य की उक्ति के अनुपपन्न अभिधेयार्थ को सुसंगत करना व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ का ही काम है।

शुक्ल जी ने अनेक बार यह बात कही है कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।[५९४] अतएव वही उक्ति काव्यात्मक या रमणीय हो सकती है, जो सुन्दर पदार्थ का चित्र खड़ा कर भाव को उद्बुद्ध कर दे।[५९५] अतः अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि व्यंग्यार्थ का ग्रहण किस रूप में होता है—अर्थग्रहण के रूप में अथवा बिम्ब ग्रहण के रूप में? यह कहा जा चुका है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का प्रयोजन अयोग्य और अनुपपन्न 'उक्ति या वाच्यार्थ को योग्य और अनुपपन्न बनाना ही होता है। यह कार्य बुद्धि ग्राह्य होता है, हृदयग्राह्य नहीं। यही कारण है कि प्रायेण लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में सुन्दर पदार्थ का चित्र नहीं रहता, उसका तथ्य या सत्य प्रकटित होता है। इस प्रकार भी काव्यत्व या काव्य की रमणीयता व्यंग्यार्थ में नहीं सिद्ध होती है। इसके प्रतिकूल चमत्कार या वैचित्र्य और वचनभंगिमा

अयोग्य और अनुपपन्न पदों में ही रहती है। [५९६] अयोग्य और अनुपपन्न पदों की सत्ता वाच्यार्थ में रहती है।[५९७] यही कारण है कि शुक्ल जी वाच्यार्थ में ही काव्यत्व अथवा काव्यगत रमणीयता को निहित मानते हैं। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में बुद्धि ग्राह्य योग्य, उपपन्न एवं प्रकरण सम्बद्ध अर्थ होता है अतः उनमें उस वैचित्र्य अथवा चमत्कार का लोप हो जाता है जो व्यजक उक्ति या वाच्यार्थ में निहित होता है। परिणामतः लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में रमणीयता रह ही नहीं जाती है। रमणीयता का तात्पर्य है किसी सुन्दर वस्तु, भाव या विचार में मन का रमना। शुक्ल जी के अनुसार—रमणीय का अभिप्राय है जिसमें मन रमें अर्थात् जिसे मन सामने कुछ देर रखना या बार बार लाना चाहे।[५९८] इसी आधार पर वे 'सुन्दर' और 'रमणीय' में अन्तर करते हैं। इसोलिये उन्होंने कहा है कि कविता देवी के अन्तःपुर में 'सुन्दर' प्रिय होकर ही प्रवेश कर सकता है।[५९९] अतः वही 'सुन्दर' वस्तु 'रमणीय' कही जा सकती है जो प्रेम का या हमारी रागात्मिकावृत्ति का आलम्बन हो।[६००] अतः इसी आधार पर हमें यह खोज करनी चाहिए कि उक्ति या वाच्यार्थ रमणीय होता है या व्यंग्यार्थ ?

विचार करने से ज्ञात होता है कि उक्ति में अर्थात् वाच्यार्थ में 'आलम्बन' और उसके प्रति आश्रय के भाव दोनों का ही समन्वय होता है। आशय यह कि उक्ति आलंबन का स्वरूप भी खड़ा करती है और उस आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदय में विद्यमान भाव को भी अभिव्यक्त करती है। अतः उक्ति में 'आलम्बन' अर्थात् सुन्दर वस्तु रागात्मिकावृत्ति के आलम्बन के रूप में प्रिय होकर उपस्थित रहती है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि उक्ति रमणीय होती है। इस प्रकार शुक्ल जी का कथन तो सत्य है कि उक्ति ही रमणीय होती है या वाच्यार्थ में ही काव्यत्व अथवा काव्यगत रमणीयता निहित होती है, किन्तु हमें यह भी देख लेना चाहिए कि क्या व्यंग्यार्थ भी रागात्मिकावृत्ति का आलम्बन होता है, क्योंकि वह रमणीय तभी सिद्ध हो सकेगा जब वह रागात्मिकावृत्ति का आलम्बन हो। शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त उदाहरणों से तो स्पष्ट है ही कि व्यंग्यार्थ रमणीय नहीं प्रत्युत व्यंग्यार्थ की व्यंजक उक्ति रमणीय है। व्यंग्यार्थ सुन्दर भी हो सकता है और असुन्दर भी। किन्तु सुन्दर होने पर भी यह रमणीय नहीं होता है, क्योंकि वह हृदय ग्राह्य नहीं बुद्धिग्राह्य होता है।

अपने सिद्धान्त को और भी स्पष्ट और परिपुष्ट करने के लिए आचार्य शुक्ल ने दूसरा उदाहरण दिया है—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

उर्मिला और लक्ष्मण के बीच अवधि का व्यवधान है। मिलन तभी संभव हो सकता है जब अवधि मिटायी जा सके। अवधि साधारणतः तो अपने समय पर ही मिटेगी, उसका तुरन्त मिटना सम्भव नहीं। परन्तु इस असम्भव को सम्भव बनाने के लिए उर्मिला एक उपाय की कल्पना करती है : यदि कहीं वह स्वयं अवधि बन जाती तो उसका अन्त करना उसके वश की बात हो जाती। अपने को तो वह तुरत ही मिटा

सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जायगी तो उसके अन्त के साथ अवधि का भी अन्त हो जायगा। इस प्रकार व्यवधान मिट जायगा और अपने पति से उसका मिलन हो जायगा। परन्तु जब उर्मिला स्वयं ही मिट जायगी तो अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लाएगी क्या ? अतएव अपने को मिटाने का अर्थ यहाँ अपने जीवन का अन्त करना नहीं, प्रत्युत प्रिय-मिलन के लिए बड़ा-से-बड़ा कष्ट भोगना है। परन्तु इस लक्ष्यार्थ में कोई रमणीयता नहीं। इसका व्यंग्यार्थ प्रिय-मिलन के प्रति उर्मिला का अत्यन्त औत्सुक्य है।[६०१] इसमें भी कोई रमणीयता दिखायी नहीं पड़ती। शुक्ल जी का कथन है कि यहाँ काव्य की रमणीयता उर्मिला के उस असाधारण एवं असंभवनीय चित्र में है, जिसमें वह प्रिय-मिलन के लिए अपनी सत्ता तक को मिटा डालने के लिए तैयार है। प्रस्तुत चित्र का निर्माण वाच्यार्थ द्वारा ही होता है।[६०२] अतः वाच्यार्थ में ही काव्य की रमणीयता मानना उचित है।

डॉ० नगेन्द्र ने इस प्रसंग में एक प्रश्न उठाया है। वे कहते हैं कि 'किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन सा तत्त्व उत्तरदायी है।' उस वाक्य का वाच्यार्थ, जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है अथवा व्यंग्यार्थ, जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव की रमणीयता रहती है।[६०३] स्वयं नगेन्द्र जी व्यंग्यार्थ को ही उत्तरदायी मानते हैं।[६०४] उपरिचर्चित उदाहरण के प्रसंग में वे कहते हैं कि—'शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धि ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।[६०५] उसी के आगे वे कहते हैं कि 'इस अत्यन्त औत्सुक्य की व्यंजना ही की रमणीयता का कारण है—यही पाठक के मन का इस अत्यन्त औत्सुक्य के साथ तादात्म्य करके उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। यही उक्ति की रमणीयता है जो सहृदय को आनन्द देती है।"[६०६]

डॉ० नगेन्द्र का कथन विचारणीय है। एक ओर तो वे वाच्यार्थ (उक्ति) में रमणीयता का अधिवास ही नहीं मानते, लक्ष्यार्थ में भी नहीं केवल व्यंग्यार्थ में ही उन्हें रमणीयता दिखायी पड़ती है। वे कहते हैं कि वाच्यार्थ में रमणीयता का अधिवास नहीं माना जा सकता, व्यंग्यार्थ में ही माना जायगा लक्ष्यार्थ में भी नहीं, क्योंकि वह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। और दूसरी ओर कहते हैं कि 'औत्सुक्य की व्यंजना ही 'उक्ति की रमणीयता' का कारण है।'[६०७] स्पष्टतः वे यहाँ पर उक्ति (वाच्यार्थ) को रमणीय स्वीकार करते हैं और उसका कारण औत्सुक्य की व्यंजना बताते हैं। यह डॉ० नगेन्द्र का अन्तर्विरोध है।

शुक्ल जी का कथन है कि रसानुभूति या आनन्दानुभूति के लिए कवि-कर्म के दो पक्ष होते हैं—अनुभाव पक्ष और विभाव पक्ष।[६०८] किसी पदार्थ की कल्पना के बिना आनन्दानुभूति या रसानुभूति सम्भव नहीं। पाठक या श्रोता वाच्यार्थ की सहायता से ही पदार्थ की कल्पना करता है। आलम्बन और उद्दीपनादि का चित्र उसके मन में वाच्यार्थ द्वारा ही उभरता है। उपरिचर्चित उदाहरण में भी उर्मिला का अपने

जीवन तक को उत्सर्ग करने के लिए तत्पर अवस्था वाला चित्र वाच्यार्थ द्वारा ही निर्मित होता है, जो पाठक या श्रोता को आनन्दानुभूति या रसानुभूति कराता है। अतः शुक्ल जी का यह सिद्धांत कि काव्यत्व अथवा काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में ही निहित होती है—सचमुच सोलह आने ठीक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्ल जी लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की उपेक्षा नहीं करते हैं। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को स्वीकार करते हुए भी वे काव्यत्व अथवा काव्य की रमणीयता का अधिवास वाच्यार्थ में ही स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों को इसमें असंगति प्रतीत हो सकती है, किन्तु वस्तुतः इसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं। शुक्ल जी काव्य के दो पक्ष स्वीकार करते हैं—अनुभूति पक्ष तथा सौन्दर्य पक्ष। काव्य का सौन्दर्य पक्ष वाच्यार्थ में ही निहित रहता है अतएव काव्यत्व भी वाच्यार्थ में ही निहित होता है। अनुभूति पक्ष लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से भी अभिव्यंजित होता है, किन्तु वाच्यार्थ से पृथक् होने पर वह सामान्यतः बुद्धिग्राह्य तथ्य मात्र रह जाता है अतः उसमें भावोन्मेष की क्षमता नहीं होती है। फलस्वरूप वह काव्य की संज्ञा का भी अधिकारी नहीं रह जाता है।

वस्तुतः रमणीयता 'व्यंजकत्व व्यापार' में होती है अतः वह व्यंजक उक्ति और वाच्यार्थ में ही होती है। संस्कृत के प्राचीन आचार्य भी लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ से युक्त वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं। प्राचीन आचार्यों के मत से शुक्ल जी का कोई विरोध नहीं है। इसके विपरीत डॉ० नगेन्द्र का ही मत प्राचीन आचार्यों के प्रतिकूल चला जाता है। साहित्य दर्पणकार की काव्य की उस प्रसिद्ध परिभाषा की ओर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया, जिसमें 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य कहा गया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[६०९] से स्पष्ट है कि 'रस' जिसे व्यंग्य माना जाता है, काव्य नहीं, बल्कि रसात्मक वाक्य काव्य होता है। पंडित राज जगन्नाथ ने भी कहा है कि—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[६१०] जिसके अनुसार 'रमणीय अर्थ' काव्य नहीं बल्कि उसका प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। अतः जब शुक्ल जी कहते हैं कि लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ काव्य नहीं, उक्ति काव्य होती है तो प्राचीन आचार्यों का ही अनुसरण करते हैं जो सर्वथा तर्क संगत एवं औचित्यपूर्ण है। जब यह सिद्ध हो जाता है कि लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ काव्य नहीं, बल्कि उक्ति या वाच्यार्थ ही काव्य होता है तब यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि काव्य की रमणीयता अथवा काव्यत्व भी उक्ति या वाच्यार्थ में ही होता है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में नहीं।

अभिधा की प्रधानता प्राचीन आचार्यों द्वारा स्पष्टतः स्वीकृत रही है—अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।[६११] पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि 'काव्य में रमणीयता का उदय···भट्टनायक के अनुसार अभिधा के द्वारा होता है।'[६१२]

काव्य में लाक्षणिकता

शुक्ल जी काव्य में व्यंजना-प्रणाली के प्रसार और रमणीयता के लिए लक्षणा की उपयोगिता से भली भाँति अवगत हैं। उनका कहना है कि लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है।[६१३] यही कारण है कि वे कविता में अलंकारों के प्रयोग की अपेक्षा लक्षणा को अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकारों के अधिक प्रयोग से कविता भाराक्रांत और भद्दी हो जाती है। अलंकार बहुत जगह लेते हैं और बहुत दूर तक भावना को एक ढाँचे के भीतर बन्द किये रहते हैं।[६१४] अतः काव्यभाषा में लक्षणा शक्ति का अधिक विकास अपेक्षित है।[६१५] उनका कहना है कि उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों के बँधे हुए लम्बे-चौड़े ढाँचों की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता और वाग्वैचित्र्य का संपादन हो सकता है।'[६१६]

लक्षणा की इन्हीं विशिष्टताओं के कारण शुक्ल जी समूचे हिन्दी काव्य-क्षेत्र के भीतर लाक्षणिकता का अधिकाधिक विकास चाहते थे। किन्तु किसी भी काव्य-भाषा में लाक्षणिकता का विकास वे उस भाषा विशेष की प्रकृति के अनुरूप चाहते हैं। उनके अनुसार लाक्षणिकता के विधान भाषा की प्रकृति के अनुसार एवं उस भाषा के प्रयोक्ता समाज की रुचियों के अनुसार होने चाहिए।[६१७] किसी विदेशी भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों का अक्षरशः अनुवाद करके अपनी भाषा में प्रयुक्त कर देना वे उचित नहीं समझते हैं।[६१८] काव्य-भाषा में लाक्षणिकता के स्वाभाविक विधान के लिए उन्होंने एक उपाय भी बताया है। उनका कहना है कि मुहावरों से किसी भाषा के लाक्षणिक प्रवृत्ति के स्वरूप का पता चलता है।[६१९] अतः उनका सूत्र पकड़ कर लक्षणा इधर-उधर अच्छी तरह बढ़ सकती है। उदाहरण के लिए—'लालसा जगना' एक मुहावरा है। इसके इशारे पर 'लालसा सोती है' कहा जा सकता है। इस तरह के प्रयोग की वे एक सीमा भी निर्धारित करते हैं। उनका कहना है कि 'लालसा का आँख मलना, करवट बदलना, अँगड़ाइयाँ लेना, 'मुँह का कमल को लात मारना' हो जायगा। अतः लाक्षणिक मूर्तिमत्ता को गुड़ियों का खेल बनने से रोकना चाहिए।[६२०]

व्यंजना

व्यंजना के विषय में आचार्य शुक्ल ने प्राचीन आचार्यों से अपना कुछ मतभेद प्रकट किया है। अभिधामूला व्यंजना के संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य और असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य दो भेद प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य हैं। शुक्ल जी ने इन्हें वस्तु व्यंजना और भाव-व्यंजना कहा है। उनका कहना है कि साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि वस्तु-व्यंजना में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, किन्तु भाव-व्यंजना में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता।[६२१] शुक्ल जी इससे सहमत नहीं। उनकी दृष्टि में वस्तु-

व्यंजना और भाव-व्यंजना दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं।[६२२] उनका कहना है कि भाव-व्यंजना में रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव या आस्वादन करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है।'[६२३] अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं है।[६२४] वस्तुतः रसात्मक अनुभूति व्यंग्यार्थ या तथ्य रूप में नहीं होती, क्योंकि यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा, जैसे कोई प्रेम या क्रोध कर रहा है।[६२५] किन्तु इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। इस प्रकार वस्तु व्यंजना और भाव व्यंजना दोनों भिन्न वृत्तियाँ ठहरती हैं। एक किसी तथ्य या वस्तु का ज्ञान या बोध कराती है और दूसरी किसी भाव का संचार करती हुई उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है।[६२६] बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात।[६२७]

प्राचीन आचार्यों से व्यंजना के विषय में शुक्ल जी का एक और मत-भेद है। वे वस्तु-व्यंजना और अलंकार व्यंजना को अनुमान प्रक्रिया द्वारा सिद्ध मानते हैं।[६२८] ध्यातव्य है कि रस और ध्वनिवादी आचार्य व्यंजना को अनुमान से भिन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में वस्तु-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना और रस-व्यंजना में से किसी की भी सिद्धि अनुमान द्वारा नहीं होती। किन्तु आचार्य शुक्ल ने रस-व्यंजना को वस्तु और अलंकार व्यंजनाओं से पृथक् करते हुए यह स्वीकार किया है कि 'व्यंग्य-वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं।'[६२९] उनका यह दृष्टिकोण व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट के अभिमत पर आधारित है। आचार्य महिमभट्ट की दृष्टि में 'व्यंजना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं।'[६३०] इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है कि 'विचार करने पर वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भट्ट जी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं'[६३१] किन्तु रस के सम्बन्ध में शुक्ल जी भट्ट जी के दृष्टिकोण से सहमत नहीं। वे रस को अनुमान सिद्ध नहीं मानते।[६३२]

वस्तु व्यंजना और भाव व्यंजना या रस व्यंजना के इसी भेद के कारण उनका कहना है कि या तो हम भाव या रस के सम्बन्ध में व्यंजना शब्द का प्रयोग न करें या वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में।[६३३] रस निष्पत्ति सम्बन्धी उनकी धारणा के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जाना चाहिए कि शुक्ल जी रस को व्यंग्य न मानने के कारण, उसके सम्बन्ध में 'व्यंजना' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं समझते। उन्होंने यह तो नहीं लिखा है कि रस के साथ व्यंजना शब्द का प्रयोग उचित नहीं, किन्तु यह स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—'+ +व्यंजना में रस शब्द का व्यापार बहुत उपयुक्त नहीं है।'[६३४] विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि प्रकारान्तर से बात एक ही है।

ऊपर किये गये विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की धारणा प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की धारणा से भिन्न है। उन्होंने एक ओर तो वस्तु-व्यंजना को अनुमान सिद्ध बताकर आचार्य महिम भट्ट का समर्थन किया है और दूसरी ओर महिम-

भट्ट की धारणा के विपरीत 'रस' अनुमानतः असिद्ध बताकर प्राचीन ध्वनि आचार्यों की रस व्यंजना सम्बन्धी धारणा को सुरक्षित रखा है। वस्तुतः ऐसा कर उन्होंने ध्वनिवादी आचार्यों के मत की असंगति उद्घाटित की है, जो वस्तु, अलंकार और रस तीनों को एक साथ लपेटते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है वस्तु-व्यंजना और भाव या रस व्यंजना दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव या आस्वादन करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है। अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं है।[६३५]

शुक्ल जी की प्रस्तुत स्थापना निश्चय ही उनकी मौलिक उपलब्धि है जो वास्तविक और वैज्ञानिक है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के विवेचन को एक सोपान आगे बढ़ाया है। *संलक्ष्य क्रम व्यंग्य और असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य*, दूसरे शब्दों में वस्तु व्यंजना और उनके अन्तर को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। इससे शुक्ल जी के उत्कृष्ट विवेक का परिचय मिलता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में शब्द-शक्ति-निरूपण का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके महत्त्व का अनुमान इसी आधार पर लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक डॉ० आई० ई० रिचर्ड्स इसी के अनुरूप अर्थमीमांसा की पद्धति अपना कर ही अर्थशून्य वाग्जाल को काव्य समीक्षा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा की पद्धति विकसित करने में सक्षम हो सके हैं।[६३६]

अपने *'व्यावहारिक काव्य समीक्षा'* (Practical Criticism) नामक ग्रन्थ में उन्होंने चार प्रकार के अर्थ माने हैं—

(१) प्रस्तुत अर्थ या व्यंग्य वस्तु (Sense)

(२) व्यंग्य भाव (Feeling)

(३) बोधव्य की विशेषता (Tone)

और (४) भीतरी उद्देश्य (Intention)

भारतीय अर्थ मीमांसा से इसकी तुलना करते हुए शुक्ल जी ने बताया है कि इनमें से प्रथम दो ही मुख्य हैं। बोधव्य की विशेषता का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अन्तर्गत हो जाता है।[६३७] और भीतरी उद्देश्य (Intention) का समावेश अभिधामूलक ध्वन्यर्थ के अन्तर्गत हो जाता है।[६३८]

शुक्ल जी का कहना है कि भारतीय शब्दशक्ति-निरूपण की सी प्रौढ़ पद्धति रिचर्ड्स को उपलब्ध न थी इसीलिए उन्हें 'बोधव्य की विशेषता' (Tone) और 'भीतरी उद्देश्य' को अलग से अर्थ के रूप में गिनाने की आवश्यकता पड़ी।

चार प्रकार के अर्थों के उल्लेख के अनन्तर डॉ० रिचर्ड्स ने कहा है कि काव्य में अधिकतर व्यंग्यभाव की प्रधानता रहती है।[६३९] किन्तु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं।[६४०] उनका कहना है कि कभी-कभी सीधी-सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यंजना हो जाती है।[६४१] कभी वाच्यार्थ से व्यंजित वस्तु निकालनी पड़ती

है ।[६४२] आचार्य शुक्ल का कहना है कि रिचर्ड्स द्वारा अपनाई गई काव्यमीमांसा की यह पद्धति भारतीय ही है ।[६४३]

### ध्वनि

शुक्ल जी ने ध्वनि का विवेचन 'शब्द-शक्ति' के ही अन्तर्गत किया है उन्होंने बताया है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार चार पृथक्-पृथक् अर्थों में होता है—१—जहाँ व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अतिशयता हो अर्थात् उत्तम काव्य, २—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ व्यंजित हो, अर्थात् प्रधान व्यंग्य, ३—रसादि की व्यंजना और, ४—व्यंजित रसादि ।[६४४]

ध्वनि को प्रथम अर्थ में ग्रहण कर गुणीभूत व्यंग्य से उसे पृथक् करते हुए उन्होंने कहा है कि 'जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ को अपेक्षा प्रधान या अधिक चमत्कार हो वह ध्वनि है । जिसमें व्यंग्य अर्थ गौण हो वह गुणीभूत व्यंग्य है ।'[६४५]

आगे उन्होंने ध्वनि के लक्षणामूलक या अविवक्षित वाच्य और अभिधामूलक या विवक्षित वाच्य आदि भेदों और उपभेदों का विस्तृत निरूपण विशेषकर साहित्य दर्पण के आधार पर प्रस्तुत किया है, जिसमें कोई नवीनता परिलक्षित नहीं होती । उदाहरणों के रूप में साहित्य दर्पण में दिये गये श्लोकों को उन्होंने उद्धृत भी किया है ।

### औचित्य दृष्टि

आचार्य शुक्ल ने 'औचित्य' को किसी 'सिद्धांत' या 'वाद' के रूप में स्वीकार नहीं किया है । उन्होंने उसे परिभाषित करने की भी कहीं कोशिश नहीं की है । यदि वे उसे 'सिद्धांत' या 'वाद' के रूप में स्वीकार करते होते तो उसका उल्लेख उसी रूप में अवश्य करते । उनके लेखन में यत्र-तत्र औचित्य की चर्चा इस रूप में हुई है, जिससे यह लक्षित होता है कि वे औचित्य को किसी सिद्धांत विशेष के रूप में नहीं, अपितु प्रत्येक सिद्धांत के 'जीवित' के रूप में ग्रहण करते हैं । उनके प्रत्येक सिद्धांत की स्थापना के मूल में औचित्य बैठा हुआ उसकी सीमाएँ और रूपरेखा नियंत्रित और निर्धारित करता है ।

डॉ० रामलाल सिंह का यह मत कि 'शुक्ल जी काव्य में औचित्य सिद्धान्त के समर्थक हैं, औचित्यवाद के नहीं'[६४६] उचित नहीं प्रतीत होता । कारण यह कि औचित्य न तो कोई सिद्धान्त है और न कोई 'वाद' । इस सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की स्थापना ठीक प्रतीत होती है कि 'औचित्य सम्बन्धी विचारणा साहित्य-शास्त्र के किसी सिद्धान्त का निर्माण नहीं करती, वरन् वह अनेक सिद्धान्तों में अन्तर्भूत रहकर सब का संयमन और एक सीमा तक एकीकरण करती है ।'[६४७] 'औचित्य-विमर्श' के लेखक श्री राममूर्ति त्रिपाठी का भी यही मत है । जिन लोगों ने औचित्य को एक स्वतंत्र सिद्धान्त माना है, उनका त्रिपाठी जी ने प्रतिषेध किया है । उनका कथन है कि—"वस्तुतः 'औचित्य' (या विवेकशीलता) तो एक सापेक्ष शब्द है । जहाँ हम यह कहते

सुनते हैं कि अमुक ढंग या वस्तु यहाँ उचित है, वहीं यह प्रश्न साथ लगा हुआ रहता है कि किस दृष्टि से उचित है ?''[६४८] इसी रूप में आचार्य शुक्ल ने भी औचित्य की चर्चा की है। इसी मूलभूत तथ्य को दृष्टि में रखकर हमने शीर्षक में 'औचित्य सिद्धांत' शब्द का प्रयोग न कर 'औचित्य दृष्टि' का प्रयोग किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस् तदौचित्यं प्रचक्षते॥[६४९]

अर्थात् जो जिसके सदृश हो, वे परस्पर अनुरूप अथवा उचित हैं, यही 'उचित का भाव' ही 'औचित्य' कहा जाता है। आचार्य शुक्ल ने औचित्य का स्वरूप निरूपित नहीं किया है, किन्तु अनेक अवसरों पर अनेक सिद्धान्तों के औचित्य का विवेचन किया है। श्री राममूर्ति त्रिपाठी का कथन है कि क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य की चर्चा की है, वह समीक्षक के कर्त्तव्य की दृष्टि से और शुक्ल जी ने आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की भाँति कवि की दृष्टि से।[६५०]

आचार्य शुक्ल रसवादी आचार्य हैं, यह सर्वमान्य है। उन्होंने 'रस-मीमांसा' में कहा है कि 'काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है।'[६५१] अतः रस निरूपण के सन्दर्भ में सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल के औचित्य सम्बन्धी मत का अवलोकन किया जाना चाहिए, जिसे हम रसौचित्य की संज्ञा दे सकते हैं।

**रसौचित्य**

आचार्य शुक्ल 'रसौचित्य' को 'आलम्बन' पर आधृत बताते हैं। उसके अनुसार रस का पूर्ण परिपाक वहीं होता है जहाँ पर 'आलम्बन' सहृदय मात्र का आलम्बन हो जाता है। उनका कथन है कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।'[६५२] उनकी मान्यता है कि आलम्बन के अनौचित्य से साधारणीकरण नहीं होता।[६५३] वे कहते हैं कि 'किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा श्रृङ्गार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता।'[६५४] आचार्य क्षेमेन्द्र की ही भाँति आचार्य शुक्ल जी का यह अटल विश्वास है कि यदि भाव व्यंजना में भाव अनुचित है, किसी ऐसे विषय के प्रति है, जिसके प्रति नहीं होना चाहिए तो ऐसी स्थिति में साधारणीकरण नहीं होगा।[६५५] अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा। वे क्रोचे की भाँति आलम्बन के बारे में औचित्य अनौचित्य सम्बन्धी विचार को अनपेक्षित नहीं मानते।[६५६] उनका स्पष्ट कथन है कि ''लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेलबूटे नक्काशी आदि की सौंदर्य-भावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी-कभी बहुत हलका कर देता है। यही बात हमारे यहाँ 'रसाभास' और

'भावाभास' के अन्तर्गत सूचित की गई है।"[६५७] रसाभास और भावाभास का अर्थ है—साधारणीकरण में बाधा।

इस प्रकार शुक्ल जी आलम्बनौचित्य को साधारणीकरण के मूल में स्थित सिद्ध करते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी रसौचित्य को साधारणीकरण से सम्बद्ध किया है। उनका कथन है कि 'औचित्य से संवलित शृङ्गार आदि रस सकल सहृदय के हृदय में फैलकर मन को वैसे ही अंकुरित करता है, जैसे वसंत अशोक को।'[६५८]

निश्चय ही 'सकल सहृदय के हृदय में फैलने' का अर्थ साधारणीकरण ही है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार आलम्बन के अनौचित्य से रसभंग हो जाता है, परिणामतः उसका प्रभाव कम हो जाता है।[६५९] जहाँ पर आलम्बन अशक्त होता है, वह काव्य, भाव-प्रदर्शक ही होता है, विभाव विधायक नहीं,[६६०] जब कि काव्य में विभाव ही प्रधान होता है।[६६१] उनकी दृष्टि में रसानुभूति के लिये औचित्य की स्थिति, विशेषकर आलम्बनौचित्य की स्थिति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होती है। उनका कथन है कि श्रोता या पाठक या सहृदय या सामाजिक मानव-समाज में उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा, सत्-असत्, मंगल-अमंगल की जो भावना समाज से प्राप्त किये रहता है, उसके साथ काव्य द्वारा उपलब्ध स्वानुभूति का सामंजस्य वह स्वभावतः ही चाहता है। जहाँ यह सामंजस्य घटित नहीं होता वहाँ काव्य की पूर्ण रसात्मक अनुभूति सम्भव नहीं होती है।[६६२] इस प्रकार हम देखते हैं कि औचित्य-दृष्टि आचार्य शुक्ल के रस सिद्धान्त के मूल में स्थित है और वह पूरे रससिद्धान्त को संयमित कर रही है। अतः डॉ० रामलाल सिंह की यह स्थापना कि शुक्ल जी रस के सहायक सिद्धान्त के रूप में औचित्य सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार करते हैं उचित नहीं कही जा सकती है, क्योंकि शुक्ल जी ने औचित्य को किसी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार न करके एक विचारणा-दृष्टि के रूप में ग्रहण किया है जो उनका साथ कहीं भी किसी भी सिद्धान्त स्थापना के समय नहीं छोड़ती है। औचित्य सम्बन्धिनी आचार्य शुक्ल की इस दृष्टि के अनुसार यदि उनके समस्त सिद्धान्तों पर विचार किया जाय तो पृथक् प्रबन्ध की ही आवश्यकता होगी। यह कार्य यहाँ सम्भव नहीं है अतएव हम अति संक्षेप में उनके औचित्य विषयक उन्हीं विचारों का यहाँ अवलोकन करेंगे जिनके बारे में स्वयं उन्होंने कुछ स्पष्ट उल्लेख किये हैं।

'काव्य-स्वरूप' के निर्णय के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने भाषा, विषय, अलंकार एवं अर्थ-विषयक औचित्यों पर विचार किया है। हम क्रमशः इनका उल्लेख करेंगे।

### भाषौचित्य

आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।'[६६३] काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।[६६४] अतः उनका कहना है कि काव्य की भाषा ऐसी हो जो गोचर-अगोचर

सभी बातों एवं भावनाओं को चित्रवत् उपस्थित करती चले ।[६६५] जहाँ भाषा अपनी अभिधा शक्ति से योग्य और उपपन्न अर्थ का चित्रमय प्रस्तुतीकरण करने में अक्षम होती है, वहाँ वह लक्षणा और व्यंजना शक्ति द्वारा यह कार्य सम्पन्न करती है ।[६६६] कल्पना में भावना को बिम्ब रूप में उपस्थित करने के लिए कवि जातिवाचक शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द अपनाता है,[६६७] भावानुरूप वर्ण-विन्यास, वृत्ति-विधान एव लय आदि साधनों का प्रयोग करता है ।[६६८] स्पष्ट है कि भावानुरूपत्व एवं बिंब *विधायकत्व को शुक्ल जी ने काव्यात्मक भाषौचित्य का निकष बनाया है ।*

## विषयौचित्य

शुक्ल जी के अनुसार काव्य का विषय समस्त चराचर है,[६६९] किन्तु वह सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं ।[६७०]

प्राचीन साहित्य के आधार पर कुछ लोगों की यह मान्यता कि रस-निष्पत्ति के लिए असाधारण पात्र एवं तद्गत असाधारण विशेषताएँ ही काव्य का विषय हो सकती हैं, उन्हें मान्य नहीं । उनका कथन है कि *'भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता, साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है ।'*[६७१] इस सन्दर्भ में श्री राममूर्ति त्रिपाठी का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि "आचार्य शुक्ल के अनुसार विषय यथार्थ या साधारण भी हो सकता है और अयथार्थ या असाधारण भी—पर रस-निष्पत्ति के लिए इतना ही आवश्यक है कि वह 'उचित' हो ।"[६७२]

## अलंकारौचित्य

*अलकारौचित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि* अलंकार सदैव भावोत्कर्ष के साधन के रूप में काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं । उनकी दृष्टि में अलङ्कारों को साध्य स्वीकार करने से कविता इतनी विकृत हो जाती है कि वह कविता नहीं रह जाती ।[६७३] इसीलिए वे अलङ्कार को उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जिस सीमा तक वह भावोत्कर्ष का साधन करता है—इसके बाद नहीं । उनके मतानुसार अलङ्कार का कार्य-वस्तु निर्देश करना नहीं है ।[६७४] यही कारण है कि उन्होंने वस्तु-निर्देश करने वाले अलङ्कारों का खण्डन किया है ।[६७५] वे कहते हैं कि *अलङ्कार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों, चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में, चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में लाये जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही ।'*[६७६] इस प्रकार शुक्ल जी ने भावोत्कर्ष को अलङ्कारौचित्य की कसौटी बनाया है ।

## अर्थौचित्य

अर्थौचित्य का तात्पर्य भावों के औचित्य से है । शुक्ल जी की दृष्टि में भावौचित्य की कसौटी अन्ततः लोक-मंगल है । वे अंधविश्वासी धार्मिकों की भाँति क्रोध

आदि कुछ भावों को सर्वथा अनुचित और करुणा आदि भावों को पूर्णरूपेण उचित नहीं मानते। वस्तुतः वे भावों को परिस्थिति सापेक्ष मानने के कारण उनके औचित्य-अनौचित्य का सन्दर्भ हीन निर्णय नहीं करते हैं। उनका कहना है कि 'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है।'[१७७]

स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में भावों का 'शुभ' या 'मंगल' परिणाम ही उनका औचित्य होता है। इसीलिए किसी भी भाव को उन्होंने अनुपयोगी नहीं कहा है, अपितु मनोविकारों के दमन का उपदेश देने वालों को लक्ष्य करके लिखा है—'नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देता है।'[१७८] इसके विषय में डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन कि 'शुक्ल जी का यह सिद्धांत अरस्तू के कैथार्सिस या भाव-परिष्कार के सूत्र से ज्यादा भरा-पूरा है—'[१७९] सर्वथा उचित है।

### अनौचित्य

शुक्ल जी ने उपर्युक्त विभिन्न रूपों मे औचित्य का विचार तो किया ही है, साथ ही साथ 'रसाभास' एवं 'भावाभास' के प्रसंग में अनौचित्य की भी चर्चा की है। उनका कथन है कि कविपात्रों के माध्यम से 'भाव' का उपस्थापन कहीं सहज रूप में करता है और कहीं आहार्य या आरोपित रूप में। जहाँ कवि आहार्य या आरोपित रूप में 'भाव' का उपस्थापन करता है, उसी स्थल पर रसाभास या भावभास की स्थिति होती है। पहली स्थिति में कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य रहता है, किन्तु दूसरी स्थिति में वह उदासीन रहता है। इस उदासीनता का कारण अनौचित्य और अनुपयुक्तता तो है ही—आश्रय से प्रकृति-भेद होना भी है।

### छन्द और लय

कविता में छन्द और लय की उपयोगिता और प्रतिष्ठा पर भी आचार्य शुक्ल ने विचार किया है और साथ ही साथ उनके स्वरूप पर भी। छन्द के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा है कि 'छन्द वास्तव में बंधी हुई लय के भीतर भिन्न-भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है'।[१८०] इसी प्रकार लय के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे साँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।'[१८१]

लय और छन्द में घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यह बात शुक्ल जी की छन्द की परिभाषा से प्रकट है।[१८२] शुक्ल जी द्वारा की गई छन्द की उपर्युक्त परिभाषा के सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का कथन है कि ...'आचार्य शुक्ल की सूक्ष्म-

भेदिनी दृष्टि भी छन्द के आन्तरिक रूप तक नहीं पहुँच पाई थी। उन्होंने छन्द की जो परिभाषा दी है, वह उसके बाह्यात्मक पक्ष का ही उद्घाटन करती हुई प्रतीत होती है।'[१८३] अतः यह विचारणीय है कि शुक्ल जी पर त्रिगुणायत जी का आरोप साधार है अथवा निराधार। शुक्ल जी की परिभाषा को बाह्य पक्ष तक सीमित बताते हुए उन्होंने कहा है कि 'हमारी समझ में छन्द की एक आत्मा भी होती है। वह आत्मा कवि की आत्मा का प्रतिबिम्ब कही जा सकती है। कवि की आत्मा का नाद ही लय रूप में छन्दों में प्रतिष्ठित मिलता है।'[१८४]

वस्तुतः शुक्ल जी की परिभाषा से श्री त्रिगुणायत जी की परिभाषा तात्विक दृष्टि से भिन्न नहीं कही जा सकती, क्योंकि शुक्ल जी भी छन्दों में लय को ही आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित मानते हैं और उसे छन्द के लिए अनिवार्य मानते हैं और त्रिगुणायत जी भी कवि की आत्मा की प्रतिबिम्ब स्वरूपा लय को ही छन्दों में प्रतिष्ठित मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि त्रिगुणायत जी ने उसे छन्द की आत्मा का नाम दे दिया है और शुक्ल जी ने ऐसा नहीं किया है। किन्तु तात्विक दृष्टि से शुक्ल जी ने छन्द में लय को वही स्थान प्रदान किया है जो त्रिगुणायत जी ने। अतः त्रिगुणायत जी का शुक्ल जी पर उपर्युक्त दोषारोपण निराधार एवं भ्रांतिजनित है। वस्तुतः शुक्ल जी की सूक्ष्मभेदिनी दृष्टि ने 'छन्द' की आन्तरिकता को पूर्णतः देखा था, किन्तु वे उसका वैज्ञानिक और यथार्थ विवेचन स्पष्ट शब्दावली में करना चाहते थे, क्योंकि उन्हें रहस्यवादिता और आध्यात्मिकता आदि वस्तुएँ काव्य के क्षेत्र में पसन्द न थीं।'[१८५]

लय की परिभाषा देते हुए त्रिगुणायत जी ने कहा है कि—'नाद की सुसंगति और सुषमामय अभिव्यक्ति को लय कहते हैं।[१८६] शुक्ल जी की भी लगभग यही परिभाषा है अन्तर केवल शब्दों में है। त्रिगुणायत जी ने जिसे नाद की सुसंगति कहा है, आचार्य शुक्ल ने उसे 'स्वर का चढ़ाव-उतार' कहा है।'[१८७] एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि लय का बंधन तब तक काव्य में रहेगा जब तक नाद-सौंदर्य का कुछ भी योग कविता में रहेगा। कविता में नाद-सौंदर्य की आवश्यकता की मात्रा के अनुपात में ही लय का बन्धन रहेगा।[१८८] अतः स्पष्ट है लय और नाद-सौंदर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध वे मानते हैं।

कविता में छन्दों की उपयोगिता तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आचार्य शुक्ल ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि 'कविता में छन्द के प्रयोग से उसमें न्यस्त लय के ढाँचों की मिति और उनके योग की मिति का ज्ञान श्रोता को हो जाता है अतः वह भीतर ही भीतर पढ़ने वाले के साथ नाद की गति में योग देता चलता है।'[१८९] यह एक लोकसिद्ध कथन है। प्रत्यक्षतः यह देखा जाता है कि गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुंह से किसी पद के पूरे होते-होते उसे लोक लेते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार ऐसा लय तथा लय के योग की मिति के ज्ञात होने से ही सम्भव होता है अन्यथा नहीं। कविता में छन्द की उपयोगिता के सम्बन्ध में शुक्ल जी की यह प्रस्थापना व्यवहार-सिद्ध है, इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। यही

कारण है कि वे छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता ( Comunicability of Sound Impulse ) का प्रत्यक्ष ह्रास देखते हैं और मानते हैं।

शुक्ल जी का यह विश्लेषण स्पष्ट रूप से प्रेषणीयता की दृष्टि से छन्दों के महत्व की प्रस्थापना करता है। नाद की प्रतिष्ठा समस्त प्राणियों में समानरूप से पायी जाती है। इसीलिए छन्दों में प्रेषणीयता की मात्रा अधिक होती है। अतएव काव्य में छन्दों का प्रयोग प्रेषणीयता की दृष्टि से आवश्यक होता है।

शुक्ल जी का कथन है कि छन्दों की चलती लय में एक विशेष प्रकार का माधुर्य होता है, जो उस्तादों के पक्के गाने की अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द दायक और प्रभाव-कारी होता है।[१९०] तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि में छन्द कविता में माधुर्य, सौंदर्य और रमणीयता की प्रतिष्ठा करते हैं। छन्द से अभिव्यक्ति में सुसंगति और सुषमा की झलक पैदा होती है। सुसंगति और सुषमा ही माधुर्य और सौंदर्य हैं, माधुर्य और सौंदर्य ही रमणीय प्रतीत होते हैं। अतः यह कहना असंगत नहीं कि काव्य में छन्द के माध्यम से माधुर्य, सौंदर्य और रमणीयता की प्रतिष्ठा होती है।

शुक्ल जी कहते हैं कि कविता का पूर्ण सौंदर्य उसके सुन्दर लय के साथ पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है।[१९१] इन्हीं सब कारणों से वे नए-नए छन्दों के विधान को अच्छा समझते हैं और छन्द-बन्धन के त्याग को 'अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता का ह्रास।'[१९२] वे इस मत को नहीं स्वीकार करते कि छन्द के बन्धन से विचार के पैर बँध जाते हैं और कल्पना के पर सिमट जाते हैं।[१९३] क्योंकि यह साहित्य के परीक्षण से गलत सिद्ध है। उनका कथन है कि वर्ड्सवर्थ और शैली की ऊँची से ऊँची कविताएँ छन्द और तुक से बँधी हैं जिनके टक्कर में किसी भी कवि की ऊँची से ऊँची छन्दोमुक्त कविता नहीं रखी जा सकती है।[१९४]

हिन्दी में प्रचलित छन्द-बंधन के त्याग की प्रवृत्ति का सम्बन्ध शुक्ल जी ने अमेरिका के कविवाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) द्वारा खड़े किए गए आन्दोलन से जोड़ा है।[१९५] सन् १८५५ ई० में 'घास के पत्ते' (Leaves of Grass) नाम की एक कविता केवल लय पर चलने वाली बिना छन्द की पंक्तियों में निकाली और बाद में इसी तरह की और बहुत सी कविताएँ लिखीं। इन कविताओं की समीक्षा करते हुए एक समीक्षक ए० बी० डे० मिले (A. B. De. Mille) ने इनमें काव्यत्व, कलाविधान और साहित्यिक शिष्टता की बहुत कमी बतायी है। शुक्ल जी इस मत से पूर्णतया सह-मत हैं। उन्होंने उसके मत को उद्धृत भी किया है 'अनुभूतियों का गड़बड़झाला भावों और विचारों का बिखरा हुआ ढेर, सामने रख दिया गया है, बिना तुक तुकांत के, जो कोई त्रुटि नहीं, बिना छन्द के, जो त्रुटि है।'[१९६]

शुक्ल जी द्वारा श्री ए० बी० डे मिले के उक्त कथन के विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे (शुक्लजी) छन्द का भावों की अभिव्यक्ति और अन्विति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। श्री वाल्ट ह्विटमैन की कविताओं में भावों, विचारों और अनु-

भूतियों की अभिव्यक्ति के अस्पष्ट, विकीर्ण एवं असम्बद्ध रूपों में होने का एक कारण वे छन्द हीनता भी मानते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का भी मत है कि 'छन्द कविता की भाव-व्यंजना में बहुत सहायक होते हैं।'[६९७] प्रत्येक भाव का एक नादमय स्वरूप होता है अतः कवि की सफलता इसी में होती है कि वह इष्ट भाव के स्वरूप को पहिचान कर उसे उसी के अनुरूप छन्द में बाँध दे।

बात सही भी है, क्योंकि कवि के मन में असख्य भाव संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। अवसर पाकर वे अभिव्यक्त होने के लिए तड़पने लगते हैं। अतः आवेग की तीव्रता के कारण उनकी अभिव्यंजना स्वभावतः विश्रृङ्खलित रहती है। अतः कवि का दायित्व होता है कि वह वाणी के द्वारा भावों की अभिव्यंजना करने के साथ ही साथ वह उन्हें संयमित और नियमित भी करे। इसी संयमन और नियमन के द्वारा विश्रृंखलित भावों और विचारों को सुश्रृङ्खलित करने के लिए छन्दविधान आवश्यक ठहराया गया है। कवि या लेखक अपने भावों को छन्दों में बाँधते समय सरलता से उनकी अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने में समर्थ हो जाता है।'[६९८]

छन्द के विषय में प्रायः यह भी कहा जाता है कि प्रेष्यभाव या विचारधारा की छोटाई-बड़ाई के हिसाब से छोटे बड़े चरणों की पूर्वापर स्थिति होनी चाहिए इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने दो बातें कही हैं, पहली बात उन्होंने यह कही है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का सम्बन्ध वाक्य से होता है और वाक्य के लिए आजकल की पद्य-पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वह चरण के अन्त में ही पूरा हो।[६९९] अपनी दूसरी बात में उन्होंने यह प्रस्तावित किया है कि यदि छोटे-बड़े चरणों की योजना करनी हो तो भिन्न-भिन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में कोई हर्ज नहीं।[७००]

लय के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि छन्द की ही भांति लय भी एक प्रकार का बन्धन ही है।'[७०१] यह बन्धन तब तक काव्य में रहेगा जब तक नाद-सौंदर्य का कुछ भी योग कविता में रहेगा।[७०२] कविता में नाद सौंदर्य की आवश्यकता की मात्रा के अनुपात में ही लय का बन्धन रहेगा।'[७०३] किन्तु लय द्वारा सिद्ध नाद-सौंदर्य से ही वे सन्तुष्ट नहीं अपितु और अधिक नाद-सौंदर्य के लिए कविता में छन्द-विधान आवश्यक समझते हैं।[७०४]

कविता में छन्द और लय के बारे में विचार करते समय शुक्ल जी ने सतत् यह ध्यान में रखा है कि 'कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। अपनी इस पूर्णता के लिए वह संगीत और चित्रकला दोनों की पद्धति का थोड़ा-बहुत सहारा लेती है। जिस प्रकार रूपविधान में वह चित्रविद्या का कुछ अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-विधान में संगीत का।'[७०५]

## सन्दर्भ

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४२ । २,३. रस मीमांसा, पृ० ५ अथवा चिन्तमणि, भाग १, पृ० १४१ । ४, ५, ६, ७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० क्रमशः २४६, २४६, २४७, २४७ । ८. रस मीमांसा, पृ० ६ । ९, १०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५२, २२७ । ११. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० १७९ । १२, १३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८९, २४९ । १४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४३ । १५. रस-सिद्धान्त, पृ० ८७ । १६. रस-सिद्धान्त, पृ० ९१-९२ । १७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७-४८ । १८,१९,२०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५१, २५०, २४९ । २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५०, २५०, २५१, २५१, २५१, २५१, २५२ । २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५३, २५४, २५४, २५५, २५६, २५६ । ३४. स्मृति की रेखाएँ, पृ० ४५ । ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५७, २५७, २५७, २५९, २६०, २६०, २६० । ४१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त ओर साहित्य, पृ० ११७ । ४२. रस-सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० ७९ । ४३. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला ४२, पृ० ९३ । ४४. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ९३ । ४५. रस-सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० ८१ । ४६, ४७. साहित्य विज्ञान, —डा० गणपति चन्द्र गुप्त, पृ० ३६ । ४८. रस मीमांसा, पृ० ७९ । ४९. रस मीमांसा, पृ० ७१ । ५०. रस मीमांसा, पृ० ८० । ५१; ५२, ५३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५१, २५१, २५१ । ५४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५१ । ५५. साहित्य दर्पण ३-४, ५ । ५६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५१ । ५७, ५८. हिन्दी नाट्य दर्पण, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २९१ : रामचन्द्र गुण चन्द्र । ५९. रस सिद्धान्त, पृ० १०६ । ६०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५१ । ६१, ६२, ६३, ६४. रस सिद्धान्त, पृ० १०५, १०९, १०९, १०९ । ६५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१ । ६६. रस-सिद्धान्त, पृ० १०६ । ६७. हिन्दी अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ८६ । ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७, १०५-६, २५१, भाग २, १८८, २४७, ७३, २५१, १८७, १८७ । ७७. रस मीमांसा, पृ० ३९८ । ७८. नाट्यशास्त्र, काव्य-माला, पृ० ९३ । ७९, ८०. रस मीमांसा, पृ० १६८, १६८ । ८१. रस विमर्श, पृ० ९३ । ८२. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ९३ । ८३. नाट्यशास्त्र काव्य-

माला, पृ० ६३। ८४. रस मीमांसा, पृ० १३८। ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२. काव्य प्रकाश व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १०१, १०१, १०२, १०२, १०५, १०५, १०७, १०७। ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८. रस मीमांसा, पृ० ३४३, ३३८, ३३८, ३३८, ३३८, ३३८। ९९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९६। १००, १०१. रस मीमांसा, पृ० १३१, १३९। १०२, १०३, १०४, १०५. रस मीमांसा, पृ० १६९, १६९, १६२, ३४३। १०६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—सं० डा० गुलाब राय, पृ० ७७-७८। १०७. काव्य प्रकाश, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १०६। १०८. रस मीमांसा, पृ० ३३७। १०९. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० १८४। ११०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९६। १११. रस-मीमांसा, पृ० ३३७। ११२. साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद १। ११३, ११४, ११५, ११६, ११७. रस मीमांसा, पृ० १९३, १९८, १९५, १९६, १९६। ११८. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० २०१। ११९. रस गंगाधर, पृ० २६। १२०. रस विमर्श—डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० १५३। १२१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७। १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८, २२९, २२९, २३०, २३०, २३०। १२८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३०। १२९. रस मीमांसा, पृ० ९९। १३०, १३१. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० १९५। १३२. रस विमर्श: डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० १५४। १३३. रस विमर्श—डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० १६०। १३४. काव्य प्रकाश—नि० सा० प्रे०, पृ० ६६। १३५. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० १९५-९६। १३६, १३७. हिन्दी अभिनवभारती आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४७१, ४७१। १३८, १३९. अभिनवभारती-आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४७१। १४०, १४१, १४२, १४३. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० १९६, १९६, १९७, १९७। १४४. हिन्दी रस गंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०५। १४५. रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ० २०४ पर उद्धृत। १४६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३०। १४७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३०। १४८, १४९, १५०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३१, २३१-३२, २३२। १५१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३०। १५२. रस विमर्श—डा० राम-मूर्ति त्रिपाठी, पृ० १६१। १५३. चिन्तामणि, भाग १, २२८। १५४. चिन्ता-मणि, भाग १, पृ० २३०। १५५, १५६, १५७. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० २०५, २०५, २०५। १५८. नया साहित्य : नये प्रश्न, आ० नन्ददुलारे, वाजपेयी, पृ० ११२। १५९. विचार और विवेचन—डा० नगेन्द्र, पृ० ३३। १६०. रस सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र, पृ० २११। १६१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १२६। १६२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २०१। १६३, १६४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २०१, १९९। १६५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १२४। १६६, १६७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २, २। १६८. चिन्तामणि,

भाग १, २३१-२३२ । १६६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १२८ । १७०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १२६, १२७ । १७१. रस विमर्श, पृ० १७७ । १७२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३४ । १७३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४४ । १७४. रस सिद्धान्त, पृ० २० । १७५. रस सिद्धान्त, पृ० २०८ । १७६, १७७, १७८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८ २२६, २२६-२३० । १७६. रस सिद्धान्त, पृ० २०८ । १८०, १८१. रसविमर्श, पृ० १७४, १७४ । १८२, १८३, १८४. रस विमर्श, पृ० १७४, १७४-१७५, १७५ । १८५, १८६, १८७, १८८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३३, २३३, २३४, २३४ । १८६, १६०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३०-२३१, २३१ । १६१, १६२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३१-२३२, २२० । १६३, १६४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८६, ८७ । १६५, १६६. रस मीमांसा, पृ० ८७, ८७ । १६७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७ । १६८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३४ । १६६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८ । २००. काव्य प्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ११३-११५ । २०१, २०२, २०३, २०४, २०५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १००, २२७, १०१, ८७, २ । २०६. रस मीमांसा, पृ० ८७ । २०७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २ । २०८, २०६, २१०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०२, १०२, १०२ । २११. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२८ । २१२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ६६ । २१३. नाट्य-शास्त्र, काव्यमाला ४२, पृ० ६३ । २१४. रस सिद्धान्त, पृ० ८७ । २१५, २१६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : सं० डा० गुलाब राय, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १३१, १३१ । २१७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११ । २१८. नाट्यशास्त्र, चौ० सं०, पृ० ६३ । २१६. काव्य प्रदीप-गोविन्द ठक्कुर, टीका, पृ० ८६ । २२०, २२१, २२२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११, २, २ । २२३, २२४, चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२, १८१ । २२५. नाट्यशास्त्र, चौ०, पृ० ६३ । २२६, २२७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०१, २२ । २२८. रस मीमांसा, पृ० ८७ । २२६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०० । २३०. रस गंगाधर, पृ० ३३ । २३१. रस-मीमांसा, पृ० ८७ । २३२. रस गंगाधर, चौ० सं०, पृ० ३३ । २३३. चिन्ता-मणि, भाग २, पृ० ४३-४४ । २३४. रस मीमांसा, पृ० ८७ । २३५, २३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०१, १०१ । २३७. रस मीमांसा, पृ० ८७ । २३८, २३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८७, ४ । २४०. रस सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० २० । २४१, २४२, २४३. रस मीमांसा, पृ० १६५, १६५, १६५ । २४४, २४५, २४६. रस मीमांसा, पृ० १६५, १६७, १६७ । २४७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ११ । २४८. काव्य प्रकाश—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १३१ । २४६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ११ । २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११-१२, ३४, ३४, ३४, ४४,

४३। २५६. भावप्रकाशनम् (शारदातनय), पृ० ४५। २५७, २५८, २५६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८४, १८४, भाग १, २३१। २६०, २६१. रस-मीमांसा, पृ० ८७, ८७। २६२, २६३. रस मीमांसा, पृ० ३४, ३४। २६४, २६५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३१, २३१, २३२। २६६. रस मीमांसा, पृ० ८८। समुद्दीपयति तत् वन-अभ्र-विद्युत-प्रभृति उद्दीपनम् सा० कौ०, पृ० २६। २६८. साहित्य दर्पण, काणे, पृ० २४। २६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२३। २७०. प्रताप रुद्रीयम्—विद्यानाथ, पृ० १५६। २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७. रस मीमांसा, पृ० १३४-१३५, १२६, १३०, १३०, १३०-१३१, १३१, १२६। २७८, २७६, २८०, २८१. रस मीमांसा, पृ० १२६, १३५, १३५, १३१। २८२. रस मीमांसा, पृ० १३५। २८३. देखिए—आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त, पृ० ३४६-३४७। २८४. रस मीमांसा, पृ० १३६। २८५. साइकोलोजिकल रिव्यू, १६३३, पृ० ३००। २८६. ए डिक्शनरी आव साइकोलाजी—जेम्स ड्रेवर, पृ० ८०। २८७, २८८, २८६, २६०. रस मीमांसा, पृ० १३७-१४६, १४६, १४६, १४६, १५०। २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७. रस मीमांसा, पृ० १५०, १५०, १५०, १५१, १५१, १५१, १५३। २६८. हिन्दी अभिनव भारती—सं० डा० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २१६-२०। २६६-३००. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८१, १८१। ३०१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८१। ३०२. नाट्यशास्त्र, पृ० १०४। ३०३. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ३४३। ३०४. रस मीमांसा, पृ० १३७। ३०५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१६। ३०६, ३०७, ३०८. रस मीमांसा, पृ० १६३, १६३, १६५। ३०६. रस गंगाधर, चौ० सं०, पृ० १२८ पर उद्धत—सं० व्या० मदनमोहन झा, हि० व्या० बदरी नारायण झा। ३१०. सरस्वती कंठाभरण, पृ० ५६६। ३११. काव्यालंकार १२.३, १५.७ स्नेह प्रकृतिः प्रेयान्। ३१२. सरस्वती कंठाभरण, पृ० ५६६। ३१३. साहित्य दर्पण, ३.२५१—स्फुटं चमत्कारितया वत्सलंच रस विदुः। स्थायी वत्सलता स्नेह। ३१४. रस तरंगिणी, पृ० १६२ (प्रबुद्ध मिथ्या ज्ञान वासना माया रसः)। ३१५. भक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, ५.२, (स्थायी भावोऽत्र संप्रोक्तः श्रीकृष्ण विषयारतिः)। ३१६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१६। ३१७, ३१८. रस मीमांसा, पृ० १३७-१३८, १३८। ३१६. साहित्य दर्पण, पृ० १७४, तृतीय परिच्छेद। ३२०. रसमीमांसा, पृ० १३७। ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२६, ३३०, ३३१, ३३२. पृ० १३६, १३६, १३६, १३७, १३८, १३७, १३७, १३७, १३७, १३५, १३५, १३७। ३३३, ३३४, ३३५. रस मीमांसा, पृ० १५६, १६०, १६०। ३३६. रस सिद्धान्त, पृ० २२४। ३३७. सोशल साइकोलाजी—मैक्डूगल, पृ० २५। ३३८. रस सिद्धान्त, पृ० २३२। ३३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२०। ३४१, ३४२, ३४३, ३४४. रस मीमांसा, पृ० १६२, १६३, १८८-१८६,

१६४, १६२ । ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९. रस मीमांसा, पृ० १६१, १८७. १८७, १९०, १९० । ३५०, ३५१, ३५२. रस मीमांसा, पृ० १६६, १६६, १६१ । ३५३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४८ । ३५४, ३५५, ३५६, ३५७. रस मीमांसा, पृ० १६७-१८८, १६७, १६८, १७० । ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२. रस मीमांसा, पृ० १७०, १७४, १८५, १८५, १८५ । ३६३, ३६४, ३६५. रस मीमांसा, पृ० १७७, १८३, १८३ । ३६६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९५ । ३६७. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० ३५२-३५३ । ३६८. रस सिद्धान्त, पृ० २३७ । ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३. रस मीमांसा, पृ० ३९८, १३१, १३८, १५०, १५० । ३७४. रस सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० २३—डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित । ३७५, ३७६. रस मीमांसा, पृ० १८८, १३९, १३९ । ३७७. काव्य प्रकाश (कारिका २७ सूत्र ४३) । ३७८ उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्वहिर्भावं प्रकाशयन । लोके यः कार्यः रूपः सोऽनुभावः काव्य नाट्ययोः ॥ —साहित्य दर्पण ३।१३२ । ३७९. स्थायिभावानां यानिकार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभाव शब्देन व्यवह्रियन्ते ।—रस गंगाधर, पृ० १३५ । ३८०. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९१ । ३८१. ये रसानुभावयन्त्यनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः कटाक्षादयः —रसतरंगिणी, काशी, पृ० २० । ३८२. कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावत्वं विषयत्वेनोद्दीपनं विभावत्वं ।—रसतरंगिणी, पृ० २१ । ३८३. रस-मीमांसा, पृ० १७६ । ३८४. रस मीमांसा, पृ० १७६ । ३८५. रसतरंगिणी, पृ० १० । ३८६, ३८७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३, ४ । ३८८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८१ । ३८९, ३९०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८९, ८९ । ३९१. नाट्यशास्त्र, पृ० ९३ । ३९२, हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४३—सं० डा० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर । ३९३. साहित्य दर्पण, ३।१ । ३९४, ३९५. रस मीमांसा, पृ० २९८ (परिशिष्ट), १३७ । ३९६, ३९७. रस मीमांसा, पृ० १३७, परिशिष्ट । ३९८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८५ । ३९९. रस-सिद्धान्त, पृ० २४६ । ४००. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० १८८ । ४०१. रस मीमांसा, पृ० २०१ । ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७. रस मीमांसा, पृ० २०४, २०५, २०५, २०१, २०२, २०३ । ४०८. जायसी ग्रन्थ, पृ० ११४ । ४०९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८१ । ४१०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८३ । ४११. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२९ । ४१२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२९ । ४१३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२९ । ४१४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२९ । ४१५, ४१६, ४१७ ४१८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२९, १२९, ६, १२९ । ४१९, ४२०. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३०, १३० । ४२१. काव्य प्रकाश—व्या० आचार्य विश्वेश्वर पृ० ३८१ । ४२२, ४२३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८२, १८२ । ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८२, १८२, १८३, १८३, १८३,

१८३ । ४३०, ४३१, ४३२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८६, १८६, १६० । ४३३, ४३४, ४३५, ४३६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८६, १८६, १८६, भाग १, पृ० १८१ । ४३७. काव्य प्रकाश—व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३६६-४०० । ४३८. चन्द्रालोक—जयदेव (११८), पृ० १०। ४३६, ४४०, ४४१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८२, १८१, १८१ । ४४२, ४४३, ४४४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८४, १८४, १८४ । ४४५, ४४६, ४४७, ४४८. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४३ । ४४६. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ११५ । ४५०, ४५१. चिन्तामणि, भाग १, १८५, १८५ । ४५२, ४५३, ४५४. अलंकार मीमांसा—डा० रामचन्द्र द्विवेदी, १४४, १४५, १५२ । ४५५. काव्य प्रकाश—व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३६६-५८४ । ४५६. अलंकार मीमांसा, —डा० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० १५३ । ४५७, ४५८. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ११५ । ४५६, ४६०, ४६१, ४६२. जा० ग्र०, पृ० ११५, ११५, ११६, ११६ । ४६३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७० । ४६४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६८ । ४६५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७० । ४६६, ४६७, ४६८, ४६६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२६-१३०, १३३, १४१, चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२० । ४७०, ४७१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२०-२२१, २२१ । ४७२, ४७३, ४७४, ४७५. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १००, १००, १००, १०१ । ४७६, ४७७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२१, २२१ । ४७८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२२ । ४७६. महाकवि सूरदास, पृ० ४८-४६ । ४८०. सूरदास, पृ० १६८, १६८ । ४८१. सूरदास, पृ० १६६-२०० । ४८२, ४८३. सूरदास, पृ० २००, २०० । ४८४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१६ । ४८५. अलंकार मीमांसा : डा० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० १५६ । ४८६. रस मीमांसा, पृ० ३६२ । ४८७, ४८८, ४८६. का० सू० १।२।७, पृ० १६, १।२।८, पृ० १६, २।२।१, पृ० १६—व्या० आचार्य विश्वेश्वर । ४६०. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ३६ । ४६१, ४६२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ३७, ३७ । ४६३, ४६४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, (भाग २) —डा० नगेन्द्र, पृ० ३८, ३८ । ४६५. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्-व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ६८ । ४६६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ३८ । ४६७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, —डा० नगेन्द्र, पृ० ३६ अथवा सरस्वती कण्ठाभरण, काव्यमाला, पृ० १५५ । ४६८. काव्यप्रकाश ६।४, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४०६ । ४६६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २ : डा० नगेन्द्र, पृ० ३६ । ५००. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२५ । ५०१, ५०२, ५०३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२५, २२५, २२५ । ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७५-१८१, १७५, १७६, १७६, १७६ । ५०६, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १८०, १८०, भाग २,

पृ० २१६, २२६, २३०, २३० । ५१५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३० । ५१६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३० । ५१७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३० । ५१८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३० । ५१९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३० । ५२०, ५२१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३३, २३१ । ५२२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३१ । ५२३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३२ । ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २३२, २३२, २३३, २३३, २३२, २३२ । ५३०. रस मीमांसा, पृ० ३६२ । ५३१. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति । (१।२।६)—व्या० आचार्य विश्वेश्वर पृ० १८ । ५३२. ध्वन्यालोक ३।५ । ५३३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० १७६ । ५३४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ११ । ५३५. प्रिफेस : ऐसेज इन क्रिटिसिज्म । ५३६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० १० । ५३७, ५३८, ५३९, ५४०. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० १७७, १७७, ४४, ४५ । ५४१. काव्य मीमांसा, व्या० डा० गंगासागर राय, पृ० ७८ । ५४२. काव्य प्रकाश : व्याख्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३९३ । ५४३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७९ । ५४४. रस मीमांसा, पृ० ३६८ । ५४५. सूरदास-आचार्य शुक्ल, पृ० २०० । ५४६. सूरदास, आचार्य शुक्ल, पृ० २०० । ५४७, ५४८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७४, १७४ । ५४९. वक्रोक्ति जीवित (१।१८) व्याख्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ६५ । ५५०. काव्यालंकार (१,६) ५५१, ५५२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, डा० नगेन्द्र, पृ० १९३ । ५५३. काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति (४।३।८) । ५५४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, डा० नगेन्द्र, पृ० १९३ । ५५५. वक्रोक्ति जीवितम् (१।६) । ५५६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७४ । ५५७. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्, पृ० ५१ : व्या० आचार्य विश्वेश्वर (१।१० की वृत्ति) । ५५८. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० २१४-१५ । ५५९, ५६०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७४, १७४ । ५६१, ५६२, ५६३, ५६४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६९, १६९-७०, १७१, १७१ । ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६८, १६९, १६९, १६९, १७४ । ५७०. वक्रोक्ति जीवितम् (४।२६)— व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५४१ । ५७१. वक्रोक्ति जीवितम् (४।२६)—व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४९५ । ५७२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (भाग २) : डा० नगेन्द्र, पृ० ३८९ । ५७३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २२३ । ५७४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (१।७), व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १८ । ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७४, भाग २, १९०, १६२, १६२, १६३ । ५८०, ५८१, ५८२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६२, १६६, १६६ । ५८३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६७ । ५८३. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०३ : सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक । ५८५,

५८६, ५८७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६६, १६६, १६८। ५८८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६७। ५८९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६७। ५९०. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २२७। ५९१, ५९२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९६, ९६। ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९६, भाग १, पृ० १४५, १९८, भाग २, पृ० १६६, १६६। ५९८, ५९९, ६००. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७८, १७९, १७९। ६०१, ६०२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६७, १६७। ६०३, ६०४, ६०५, ६०६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—सं० डा० गुलाबराय, पृ० १०२, १०२, १०२, १०२। ६०७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १०३। ६०८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ८९। ६०९. साहित्य दर्पण, पृ० २३। ६१०. रसगंगाधर, पृ० ९। ६११. भट्टनायक, अग्निपुराण में उद्धत, ३३७।२-३। ६१२. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३७३। ६१३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५३। ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५३, १५२, १५३, १५४, १५४, १५४, १५४। ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६३, १६३, १६३, १६३, १६३, १६३, १६३, १६४, १६४, १६४। ६३१, ६३२, ६३३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४, १६४, १६४। ६३४. रस मीमांसा, पृ० ३३७-३८। ६३५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६३। ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४, १६५, १६५, १६५, १६५, १६५, १६५। ६४३. चिन्तामणि, भाग २, १६५। ६४४, ६४५. रसमीमांसा, पृ० ३१८, ३१९। ६४६. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त, पृ० २२५। ६४७, ६४८. औचित्य विमर्श : राममूर्ति त्रिपाठी, विज्ञप्ति, पृ० २, १७०-१७१। ६४९. औचित्य विचार चर्चा (१।७), पृ० ३। ६५०. औचित्य-विमर्श, पृ० १५०। ६५१. रस मीमांसा, पृ० ८३। ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७, १८४, २२७, भाग २, पृ० १८४, १८४, १८४। ६५८. औचित्य-विमर्श, पृ० १७९ : राममूर्ति त्रिपाठी। ६५९, ६६०, ६६१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८४, भाग १, पृ० २२७, भाग २, पृ० २। ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८६, भाग १, पृ० १४५, २२८, १७५, १६६। ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७६, १७९, भाग २, पृ० ५१, भाग १, पृ० २२८, भाग २, पृ० ९। ६७२. औचित्य विमर्श, पृ० १५०। ६७३, ६७४, ६७५, ६७६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७, १८३, २४९, १८१। ६७७, ६७८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ९, ५३। ६७९. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २३९। ६८०, ६८१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४५, १४५। ६८२. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, भाग २, पृ० २६४।

६८३, ६८४. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ० ३, ३। ६८५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५५, भाग २, पृ० २१६-२१७। ६८६. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, भाग २, पृ० २। ६८७, ६८८, ६८९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४५, १४७, १४५। ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४६, १४७, १४५, १४७, १४८। ६९५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४४। ६९६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४४। ६९७, ६९८. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ५-६। ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १४७, १४७, १४७, १४७, १४७, १४५।

# आधुनिक सिद्धान्त

**सौन्दर्य दृष्टि**

आचार्य शुक्ल की सौन्दर्य दृष्टि वस्तुवादी है। उनका निर्भ्रान्त मत है कि—"जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही, सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।"[1] भाववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का यह मत है कि 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है'[2] उन्हें मान्य नहीं। उन्होंने मन को 'रूपगति का संघात'[3] कहा है और बताया है कि मनोजगत् बाह्य जगत् के अनुरूप होता है।[4]

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में सौंदर्य व्यक्ति के मन से स्वतन्त्र एक बाह्य अस्तित्व रखता है। उसकी कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं, वह ईश्वर या चेतना की ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति नहीं, अपितु वस्तु की सम्पत्ति होता है।

सौंदर्य को मनोगत न मानकर वस्तुगत मानने के कारण वे सौंदर्य-बोध को वस्तु-ज्ञान पर आधारित मानते हैं।[5] उनका मत है कि सौंदर्य-बोध से व्यक्तिगत सत्ता के बोध का तिरोभाव होता है, यही तिरोभाव सौंदर्यानुभूति की कसौटी है।[6] किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भाव भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव होगा और हमारे मन की जितनी ही अधिक तदाकार-परिणति होगी, उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्यानुभूति कही जायगी।[7]

शुक्ल जी के अनुसार वस्तुओं की प्रतीति दो रूपों में होती है। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिनकी प्रतीति से मनुष्य की अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान ही हवा हो जाता है और वह उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाता है। उसकी अन्तस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।[8] ऐसी वस्तुएँ सुन्दर कही जाती हैं। इसके विपरीत कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है[9] ये वस्तुएं सुन्दर नहीं कही जा सकती हैं।

सौन्दर्यानुभूति के प्रस्तुत स्वरूप की तुलना रसानुभूति के स्वरूप से करने पर यह बात प्रकट होती है कि शुक्ल जी की दृष्टि में रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति दोनों एक ही हैं। कारण यह कि वे दोनों ही दशाओं में अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन स्वीकार करते हैं। पृथक् सत्ता की प्रतीति का परिहार ही तो हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है, अतः दोनों एक ही हैं। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का भी यही मत है।[10]

आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर लिखा है—'जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है, वह अवश्य एक दिव्य विभूति है।'[११] सौंदर्य को दिव्य विभूति कहने का यह तात्पर्य नहीं कि वह वस्तुगत नहीं, मनोगत होता है, अपितु उसका तात्पर्य यही है कि अपने अनूठे प्रभाव के कारण वह अनूठा होता है।

शुक्ल जी की दृष्टि में सौन्दर्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, वह मनुष्य मात्र तक सीमित नहीं। उन्होंने लिखा है कि 'सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता, प्रत्युत पल्लव गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्ष जाल में, सिंदूराभ सांध्य दिगंचल के हिरण्य मेखला मण्डित घन-खण्ड में, तुषारावृत्त तुंग गिरिशिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।'[१२] इसी प्रकार वह वस्तुओं के रंग-रूप तक सीमित नहीं अपितु कर्म और मनोवृत्ति तक उसकी व्याप्ति है।[१३] उनके मतानुसार मात्र कमल और रमणी के मुख-मण्डल से ही नहीं प्रत्युत उदारता, दया, वीरता, त्याग, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों से सौंदर्यानुभूति होती है।[१४] सौन्दर्य के व्यापक क्षेत्र में वे बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति दोनों का समावेश करते हैं।[१५] बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सौन्दर्यों के योग में ही वे सौन्दर्य की पूर्णता मानते हैं।[१६] आभ्यंतर सौन्दर्य का तात्पर्य मनोभावों के प्रयोगौचित्य जन्य सौन्दर्य से है, अन्तःकरण की सत्प्रवृत्तियों से है। इसी बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्य का उत्कृष्ट सामंजस्य कविवर 'प्रसाद' ने दिखाया है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार।
एक लम्बी काया उन्मुक्त।

काव्यगत सौन्दर्य के प्रति भी उनका यही व्यापक और समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। किसी भी प्रकार की संकीर्णता अथवा एकांगिता उन्हें स्वीकार नहीं। उनका स्पष्ट मत है कि 'कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।'[१७] वे नायक या नायिका के अंग-प्रत्यंग की सुषमा के अंकन के साथ ही साथ उसके अंतस् की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति की झलक दिखाना भी कवि के लिए आवश्यक मानते हैं।[१८]

अन्त में उन्होंने बताया है कि—'युद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है, न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर।'[१९] आशय यह कि धार्मिकों के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, मंगल-अमंगल और अर्थशास्त्रियों के उपयोगी-अनुपयोगी काव्य के क्षेत्र में सुन्दर-असुन्दर कहे जाते हैं।[२०] सुन्दर और कुरूप (असुन्दर) काव्य के दो ही पक्ष होते हैं।[२१] इस प्रकार सुन्दर का अर्थ है—शुभ, मंगल, पुण्य और उपयोगी आदि।

अपने निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' में शुक्ल जी ने सौन्दर्य और मंगल को

पर्याय बनाया है। उनका कहना है कि सौन्दर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कला पक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है, वही धर्म-पक्ष से मंगल है × × × कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौंदर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का जिक्र किया करता है।"[२२]

सौन्दर्य (और मंगल) को शुक्ल जी ने उसकी गत्यात्मकता के साथ देखा है। स्थिर सौन्दर्य (और मंगल) की सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं, क्योंकि गति नित्य है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य (मंगल भी) गत्यात्मक ही होता है, स्थिर नहीं।

संक्षेप में यही शुक्ल जी की सौन्दर्य-दृष्टि है। वह अत्यन्त व्यापक समग्र एवं स्वस्थ है। उसमें सौन्दर्य और मङ्गल का विरोध नहीं, अपितु उनकी एकता है। सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत मानना वस्तुवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। जहाँ तक उसके औचित्य का प्रश्न है, उस पर क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के अन्तर्गत उसकी सौन्दर्य दृष्टि के प्रसंग में विचार करना उपयुक्त होगा, क्योंकि शुक्ल जी ने उसकी भाववादी सौन्दर्य दृष्टि का, जिसके अनुसार सौन्दर्य वस्तुगत न होकर मनोगत होता है, खण्डन किया है।

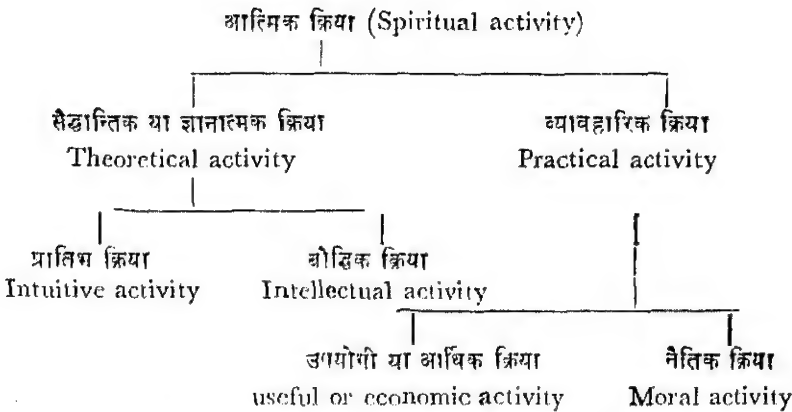
सौन्दर्य को मनुष्यमात्र तक सीमित न रखकर अशेष प्रकृति तक व्याप्त करना और बाह्य रूप रंग तक बाँधकर आभ्यन्तर मनोवृत्तियों तक फैलाना समग्रता का लक्षण है। डॉ० रामविलास शर्मा भी सौन्दर्य को उसकी व्यापकता में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार 'सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानव-जीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौन्दर्य इन्द्रिय-बोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भाव-जगत् और उसके विचारों में भी है।'[२३] डॉ० शर्मा और आचार्य शुक्ल का मत इस सम्बन्ध में मिलता-जुलता है।

सौन्दर्य को गतिशील मानना विकासवादी चिन्तन-पद्धति सम्पन्न व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। शुक्ल जी में यह दृष्टि अन्तर्हित मिलती है।

### अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्ल ने आत्मवादी दार्शनिक क्रोचे के 'अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त' और उसके प्रभाव के कारण एक सर्वथा नवीन साहित्यिकवाद के रूप में उठ खड़े हुए 'अभिव्यंजनावाद' की विस्तृत आलोचना की है। यहाँ हम दोनों का विवेचन क्रमशः करेंगे।

क्रोचे के दर्शन में 'आत्मा' निरपेक्ष वास्तविकता है,[२४] उसका स्वरूप क्रिया-शील है। उसके अनुसार आत्मिक क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रिया और (२) व्यावहारिक क्रिया।[२५] इनमें से प्रत्येक के दो रूप होते हैं। सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रिया के प्रातिभक्रिया और बौद्धिक क्रिया नामक दो रूप[२६] और व्यावहारिक क्रिया के उपयोगी या आर्थिक क्रिया और नैतिक क्रिया नामक दो रूप।[२७] इसे हम निम्न रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं—




आत्मिक क्रियाओं के इन दो वर्गों में क्रोचे के अनुसार व्यावहारिक क्रियाएँ सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रियाओं पर आधारित होती हैं।[२८] सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रियाओं के अन्तर्गत बौद्धिक क्रियाएँ प्रातिभ क्रियाओं पर आधारित होती हैं[२९] और व्यावहारिक क्रियाओं के अन्तर्गत नैतिक क्रियाएँ उपयोगी या आर्थिक क्रियाओं पर आधारित होती हैं।[३०] इस प्रकार उसकी दृष्टि में प्रातिभ क्रिया पूर्ण स्वतन्त्र क्रिया है[३१] और नैतिक क्रिया सर्वाधिक पराश्रित क्रिया,[३२] क्योंकि यह शेष तीनों क्रियाओं पर आधारित होती है।

क्रोचे के मतानुसार इन आत्मिक क्रियाओं में से काव्य और कला का सम्बन्ध प्रातिभ क्रिया से है।[३३]

शुक्ल जी ने आत्मिक क्रिया के उक्त सभी रूपों का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उन्होंने कला का सम्बन्ध प्रातिभ ज्ञान से ही जोड़ा है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि 'वह कलानुभूति या काव्यानुभूति को ज्ञानस्वरूप ही मानकर चला है'[३४] और उसने कला सम्बन्धी ज्ञान को तर्क सम्बन्धी ज्ञान से अलग किया है।[३५] ये दोनों बातें निर्विवाद रूप से सत्य हैं। क्रोचे ने कला और प्रातिभ ज्ञान की एकता (Identity of art and intuitive Knowledge) स्वीकार की है[३६] और उसे अर्थात् प्रातिभ ज्ञान को तार्किक ज्ञान से पृथक् किया है।[३७] क्रोचे द्वारा किये गये इस पार्थक्य को शुक्ल जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) कला सम्बन्धी ज्ञान है—स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) कल्पना में अद्‌भुत ज्ञान, व्यक्ति का संकेत ग्रह अर्थात् किसी एक विशेष वस्तु का ज्ञान।

(२) तर्क सम्बन्धी ज्ञान है—प्रमा (Concept), निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेत-ग्रह।'[३८]

यहाँ पर शुक्ल जी ने क्रोचे के 'इण्ट्यूशन' को 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' कहा है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में 'इण्ट्यूशन' शब्द का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोग है, अतः

यहाँ पर यह विचार करना अनुचित न होगा कि उसके लिए 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' का प्रयोग उपयुक्त है अथवा नहीं ? इसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का निर्णय 'इन्ट्यूशन', जिसके लिए हमने ऊपर 'प्रातिभज्ञान' का प्रयोग किया है, के स्वरूप और उसकी प्रकृति पर निर्भर करता है अतः इसका निर्णय हम आगे चलकर प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) के विवेचन के पश्चात् ही करेंगे। यहाँ पर पहले हमें यही देखना है कि ऊपर शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत 'कला सम्बन्धी ज्ञान' एवं 'तर्क सम्बन्धी ज्ञान' का निरूपण क्रोचे के निरूपण के किस सीमा तक अनुरूप है ?

शुक्ल जी के निरूपण की क्रोचे की ऐस्थेटिक के मूल अंश से तुलना करने पर पता चलता है कि वह पर्याप्त सीमा तक क्रोचे के मत के अनुरूप होते हुए भी पूर्णतया अभिन्न नहीं है। उसमें एक अन्तर सुस्पष्ट है---वह यह कि उन्होंने क्रोचे के 'नालेज आब्टेण्ड थ्रू दि इमेजिनेशन' का रूपान्तरण 'कल्पना में अद्भुत ज्ञान' किया है, जो स्पष्टतः सदोष है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि कल्पनाजन्य या उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान अद्भुत ही हो। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मस्तिष्क में साहित्यिकवाद-रूप में प्रचलित 'अभिव्यंजनावाद' का अद्भुतत्व या वैचित्र्य छाया था, उसी के प्रभाव से अनायास ही उन्होंने ऐसा कह दिया। यहाँ इस अन्तर के सिवा दोनों में ऐक्य है।

इसके पश्चात् शुक्ल जी ने 'प्रातिभज्ञान' जिसे उन्होंने 'स्वयं प्रकाशज्ञान' कहा है, का विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है --

'स्वयं प्रकाशज्ञान का अभिप्राय है मन में आपसे आप बिना बुद्धि की क्रिया या सोच-विचार के उठी हुई मूर्त भावना, जिसकी वास्तविकता, अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं।'[39] इसका विश्लेषण करने पर चार बातें निकलती हैं—

(१) स्वयं प्रकाशज्ञान मन में होता है।

(२) स्वयं प्रकाशज्ञान (इण्ट्यूशन या प्रातिभज्ञान) बौद्धिक क्रिया से स्वतन्त्र होता है।

(३) स्वयं प्रकाशज्ञान मूर्त होता है।

(४) स्वयं प्रकाशज्ञान की वास्तविकता-अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं होता है।

निश्चय ही क्रोचे प्रातिभज्ञान (अर्थात् स्वयं प्रकाशज्ञान या इण्ट्यूशन) को अन्तर्मन की क्रिया स्वीकार करता है। इसका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि क्रोचे ने प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) को बौद्धिक क्रिया से स्वतन्त्र माना है। उसके मतानुसार यह कहना गलत है कि 'बौद्धिक ज्ञान के प्रकाश के बिना प्रातिभ ज्ञान क्या कर सकता है,[40] प्रातिभज्ञान अंधा होता है और बुद्धि उसे दृष्टि प्रदान करती है।'[41] उसका कथन है कि 'हमें सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क में निश्चित रूप से यह धारणा बना लेनी चाहिए कि प्रातिभज्ञान को किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती है। वह पराश्रित नहीं रहता, उसे दूसरों से प्रकाश अथवा

दृष्टि उधार लेने की जरूरत नहीं पड़ती, कारण यह कि उसके पास निजी सर्वोत्तम दृष्टि होती है।'[४२]

प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) की मूर्तता का उल्लेख तो क्रोचे ने बार-बार किया है, मूर्तता प्रातिभज्ञान की अनिवार्यता है। अमूर्त प्रातिभज्ञान हो ही नहीं सकता। संवेदन और प्रातिभज्ञान का अन्तर स्पष्ट करते हुए उसने बताया है कि इन्द्रिय-सम्पर्क से प्राप्त संवेदन रूपहीन या अरूप ( Formless ) वस्तु ( Matter ) होते हैं, हमारे अन्तर्मन या आत्मा की प्रातिभ क्रिया उन्हें रूप प्रदान करती है। यही रूपनिर्माण प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) है।[४३]

आचार्य शुक्ल का यह कथन भी बिल्कुल सही है कि क्रोचे के अनुसार स्वयं प्रकाशज्ञान ( प्रातिभज्ञान या इण्ट्यूशन ) की वास्तविकता-अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं होता है। प्रत्यक्ष दर्शन और प्रातिभज्ञान के अन्तर को स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि 'निश्चय ही प्रत्यक्ष-दर्शन प्रातिभज्ञान होते हैं, जिस कमरे में मैं लिख रहा हूँ, जो मसि-पत्र और कागज मेरे समक्ष है, जिस लेखनी से मैं लिख रहा हूँ, ये वस्तुएँ जिनका मैं स्पर्श और साधनों की भाँति प्रयोग कर रहा हूँ — सभी वास्तविक सत्ताएँ हैं, उन सभी का प्रत्यक्ष दर्शन (Perception) प्रातिभज्ञान है, किन्तु साथ ही साथ मेरे मस्तिष्क में इसी समय किसी अन्य शहर के दूसरे कमरे में दूसरे कागज कलम, और स्याही से लिखते हुए 'मैं' की जो मूर्तभावना उठ रही है, वह भी प्रातिभज्ञान है, यद्यपि वह अवास्तविक है। इसका तात्पर्य यह कि प्रातिभज्ञान की वास्तविक प्रकृति के लिए वास्तविकता और अवास्तविकता का विभेद बाह्य, अनावश्यक और गौण होता है।'[४४]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा है, पूर्णतः सही है। ठीक उसी के आगे उन्होंने लिखा है, 'यह मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत के नाना रूपों और व्यापारों को (अर्थात् मन में संचित उनकी छाया और संस्कारों को) द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। दृश्य जगत के नाना रूप-व्यापार हैं, द्रव्य (Matter) इसी द्रव्य के सहारे आत्मा की क्रिया मूर्त-रूप में अपना प्रकाश करती है।'[४५]

इस उद्धरण पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि पहले वाक्य में निर्दिष्ट की गयी बातों को ही सरलीकृत रूप में अन्तिम दो वाक्यों में दुहराया गया है। इसमें निर्दिष्ट बातों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि —'आत्मा की क्रिया अर्थात् कल्पना मूर्त रूप में अपना प्रकाशन द्रव्य या वस्तु (Matter) की ही सहायता से करती है, उसकी सहायता के बिना नहीं अर्थात् मूर्त प्रकाशन या मूर्त भावना के लिए द्रव्य या वस्तु अनिवार्य है और द्रव्य या वस्तु का अर्थ है दृश्य जगत् के नाना रूप-व्यापारों की मन में संचित छायाएँ एवं संस्कार।

प्रातिभज्ञान और सम्वेदन के अन्तर के स्पष्टीकरण के प्रसंग में क्रोचे ने बताया है कि सम्वेदन अरूप वस्तु या द्रव्य (Formless matter) होता है[४६] और आत्मा की

क्रिया उससे एकाकार होने को प्रवृत्त होती है[४७] और उसे अपने में रूपाकार मूर्तरूप का सृजन करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने जिसे मन में संचित छायाएँ और संस्कार' कहा है, उसका अर्थ सम्वेदन ही है, अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी और क्रोचे दोनों ने 'सम्वेदन' ही को अरूप वस्तु या द्रव्य (Formless matter) अर्थात् कल्पना या मूर्त भावना के लिए उपादान (Matter) माना है। मूर्तता के लिए वस्तु या द्रव्य (Matter) की अनिवार्यता भी क्रोचे ने स्पष्टतया स्वीकार की है। उसका कथन है कि 'विषयवस्तु या वस्तु (Matter) के अभाव में आत्मिक क्रिया वास्तविक और मूर्त रूप धारण करने के लिए अपनी अमूर्तता को नहीं छोड़ सकती + +।'[४८] तात्पर्य यह कि 'वस्तु के बिना, कल्पना कोई ठोस या मूर्त रूप धारण नहीं कर सकती है।'[४९] इस विवेचन से स्पष्ट है कि ऊपर उद्धृत शुक्ल जी की वाक्यावलियों में क्रोचे की प्रातिभज्ञान सम्बन्धी धारणा को ही अभिव्यक्ति मिली है। उसमें कोई भी अंश अपनी ओर से आक्षिप्त नहीं है।

उसके आगे शुक्ल जी ने प्रातिभज्ञान (स्वयं प्रकाशज्ञान या स्वतःप्रमाण) के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए संवेदन या प्रतीति का स्वरूप निरूपित किया है। उन्होंने कहा है कि 'द्रव्य की प्रतीति मात्र तो जड़त्व या निष्क्रियता है—ऐसी प्रतीति है जो विवश होकर करनी ही पड़ती है। मनुष्य की आत्मा वस्तु की प्रतीति मात्र करती है, उसकी सृष्टि नहीं करती।'[५०]

ध्यातव्य है कि यहाँ पर शुक्ल जी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग 'मन में संचित बाह्य वस्तु के संस्कार' के लिए न कर बाह्य वस्तु के लिए ही कर रहे हैं। उनके कहने का आशय यह है कि जब हम किसी वस्तु की प्रतीति अथवा उसका सम्वेदन प्राप्त करते हैं तब हमारी आत्मा निष्क्रिय रहती है, उस पर बाह्य वस्तु का ही प्रभाव पड़ता है। अतः संवेदन या प्रतीति बाह्य वस्तु के प्रभाव का परिणाम होती है, उसके निर्माण में आत्मा का सक्रिय योग नहीं रहता। वह हमारी आत्मिक क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है। क्रोचे ने स्पष्ट रूप में लिखा है—'सम्वेदन (जिसे वह वस्तु (Matter) कहता है) अपने निरपेक्ष रूप में यांत्रिकता, निष्क्रियता है, यह वह है जिसे मानवीय आत्मा महसूस करती है, उत्पन्न नहीं करती।'[५१]

स्पष्ट है कि यहाँ भी शुक्ल जी ने तत्त्वतः क्रोचे की ही बात कही है, उसमें कुछ भी अपनी ओर से नहीं जोड़ा है। प्रातिभज्ञान संवेदन या प्रतीति से, जिसमें मानवीय आत्मा निष्क्रिय रहती है, भिन्न होता है। उसमें मानव की आत्मा का सक्रिय योग रहता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने आगे लिखा है—"आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है।'

क्रोचे ने बताया है कि 'ये दो (अर्थात् सम्वेदनात्मक क्रिया और कल्पना या रूपनिर्मात्री प्रातिभक्रिया) परस्पर विरोधी मानवीय क्रियाएँ नहीं हैं। वरन् एक बाह्य क्रिया है और दूसरी आन्तरिक क्रिया है। यह बाह्य क्रिया हमें आक्रांत करके अपने वश

में कर लेती है और आन्तरिक क्रिया हमारे बाहर जो कुछ है उसे अपने में खपाने अर्थात् अन्तर्भुक्त या समाहित करने के लिए और उससे एकाकार होने के लिए प्रवृत्त होती है। जब आत्मा की इस आन्तरिक क्रिया द्वारा सम्वेदन अर्थात् वस्तु या द्रव्य (Matter) जीत लिया जाता है, अपने में खपा लिया जाता है, तो उससे मूर्तरूप का सृजन होता है।'[५२] इसी मूर्त रूप को क्रोचे अपनी भाषा में प्रातिभज्ञान (इण्ट्यूशन) की संज्ञा देता है।

क्रोचे के इस कथन से शुक्ल जी के ऊपर उद्धृत अंश की तुलना करने पर पता चलता है कि शब्दों के कुछ गड़बड़झाले के बावजूद वह (शुक्ल जी का कथन) क्रोचे की ही बात को अभिव्यक्त करता है और उससे तत्त्वतः अभिन्न है। उनका आत्मिक क्रिया या कल्पना को 'रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करने वाली' और 'उसी साँचे में' अर्थात् अपने में 'स्थूल द्रव्य ( सम्वेदन या संस्कार ) को ढालकर अपनी कृति (activity) को गोचर या व्यक्त करने वाला' कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा की आन्तरिक क्रिया या कल्पना सम्वेदन रूप वस्तु या द्रव्य (Matter) को अपने में खपा या समाहित कर मूर्तरूप का सृजन करती है। क्रोचे ने भी आत्मिक क्रिया (Spiritual activity) को ही फार्म (Form) कहा है और शुक्ल जी ने उसे ही 'साँचा' कह दिया है। क्रोचे ने बताया है कि 'वस्तु या द्रव्य ( अर्थात् सम्वेदन संस्कार ) या विषय ( Content ) की विभिन्नता के कारण ही हमारे प्रातिभज्ञान भिन्न-भिन्न होते हैं, क्योंकि रूप तो (जिसे शुक्ल जी ने साँचा कहा है) आत्मिक क्रिया होने के कारण एक रूप या स्थिर (Constant) रहता है, जब कि वस्तु या द्रव्य (Matter) परिवर्तित होता रहता है।'[५३] ठीक यही बात शुक्ल जी ने भी कहा है—'वह साँचा आत्मा की कृति (Spiritual activity) या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण, परमार्थतः एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखायी पड़ता है, वह स्थूल द्रव्य के कारण जो परिवर्तनशील होता है।'[५४]

उपर्युक्त विश्लेषण से क्रोचे के 'इन्ट्यूशन' (प्रातिभज्ञान) के स्वरूप और उसकी प्रकृति का उद्घाटन हो चुका है, अतः अब यह विचार कर लेना चाहिए कि उसके लिए हिन्दी का कौन-सा शब्द या शब्द-गुच्छ का प्रयोग करना उपयुक्त होगा? शुक्ल जी ने उसे 'स्वयं प्रकाश ज्ञान'[५५] है और डॉ० नगेन्द्र ने उसे बदलकर 'स्वयं प्रकाश्य ज्ञान'[५६] कर दिया है। डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने 'सहज ज्ञान'[५७] और भगीरथ दीक्षित ने उसे 'प्रातिभज्ञान'[५८] कहा है। अधिकतर लोगों ने उसे 'सहज ज्ञान' या सहजानुभूति'[५९] कहा है।

विचार करने पर 'इन्ट्यूशन' के स्थान पर 'स्वयंप्रकाश ज्ञान' या 'स्वयं प्रकाश्य ज्ञान' का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वे क्रोचे द्वारा निरूपित 'इन्ट्यूशन' की प्रकृति के अनुरूप न होकर 'सेन्सेशन' (सम्वेदन) की प्रकृति के अनुरूप प्रतीत होते हैं। ज्ञान की स्वयं प्रकाशता या प्रकाश्यता हमारे अन्तर्मन या आत्मा की यांत्रिकता और निष्क्रियता का संकेत करती है, किन्तु क्रोचे के अनुसार आत्मा की

यांत्रिकता या निष्क्रियता सम्वेदन या प्रतीत मात्र है, 'इन्ट्यूशन' नहीं। 'इन्ट्यूशन' तो अन्तर्मन या आत्मा की स्वतन्त्र एवं सजग क्रिया है, यांत्रिकता और निष्क्रियता नहीं। इसी प्रकार सहज ज्ञान की 'सहजता' से भी आत्मा की यांत्रिकता एवं निष्क्रियता आभासित होती है अतः उसका प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता। 'सहजानुभूति' का प्रयोग तो और भी अनर्थकारी और अनुपयुक्त होगा, क्योंकि सहजानुभूति की 'सहजता' से आत्मा की यांत्रिकता एवं निष्क्रियता तो आभासित होती ही है, साथ ही साथ 'अनुभूति' से उसकी 'ज्ञानात्मकता' भी आच्छन्न हो जाती है। शेष रहा 'प्रातिभ-ज्ञान'। 'इन्ट्यूशन' के लिए 'प्रातिभज्ञान' का प्रयोग अनेक कारणों से अपेक्षाकृत उपयुक्त प्रतीत होता है। पहला कारण यह कि 'प्रातिभ' शब्द आत्मा की यांत्रिकता और निष्क्रियता आभासित नहीं होती, अपितु इसके विपरीत सक्रियता का स्पष्ट आभास या संकेत प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि 'प्रातिभ' शब्द 'प्रतिभा' से व्युत्पन्न है, अतः उसमें निर्माण या सृजन, दूसरे शब्दों में सक्रियता का अन्तर्भाव-सा हो गया है। दूसरा कारण यह है कि गम्भीरतापूर्वक विचार करने से 'इन्ट्यूशन' और 'प्रातिभज्ञान' दोनों मूलतः, तत्त्वतः और स्वरूपतः एक प्रतीत होते हैं।

क्रोचे 'इन्ट्यूशन' और कल्पना (इमेजिनेशन) को पर्याय रूप में व्यवहृत करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय शब्द 'कल्पना' और भारतीय काव्यशास्त्रीय शब्द 'प्रतिभा' दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसका विशद् उल्लेख 'साहित्य की परिकल्पना' नामक अध्याय में 'कल्पना' उपशीर्षक के अन्तर्गत काव्य हेतु निरूपण के प्रसंग में किया जा चुका है। अतः कल्पनात्मक ज्ञान या 'इन्ट्यूशन' और प्रातिभज्ञान अर्थतः समान सिद्ध होते हैं। किन्तु 'प्रातिभज्ञान' शब्द भी 'इन्ट्यूशन' के स्थान पर सर्वथा उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। 'प्रातिभज्ञान' एक यौगिक शब्द है। 'इन्ट्यूटिव नालेज' के स्थान पर (Intuitive knowledge) 'प्रातिभज्ञान' सर्वथा उपयुक्त होगा, किन्तु इन्ट्यूशन के लिए थोड़ी अनुपयुक्तता झलकती है। श्री संगमलाल पाण्डेय ने 'इन्ट्यूशन' के लिए 'प्रतिभान'[६०] शब्द का प्रयोग किया है, जो प्रतिभा से ही व्युत्पन्न है और मूल भी है, यौगिक नहीं। 'प्रतिभान' शब्द से 'इन्ट्यूशन' की पूरी प्रकृति की व्यंजना के साथ ही साथ बाह्य अनुरूपता के कारण उनकी एकात्मकता (Identity) सहज ही स्थापित हो जाती है। अतः 'इन्ट्यूशन' के स्थान पर 'प्रतिभान' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक उपयुक्त होगा और इन्ट्यूटिव नालेज (Intuitive knowledge) के लिए 'प्रातिभज्ञान' का प्रयोग। आगे हम इन्हीं का प्रयोग करेंगे।

आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सैद्धान्तिक विवेचन को पुनः अग्रसर करते हैं। प्रतिमान के निरूपण के पश्चात् शुक्ल जी ने उसे अभिव्यंजना से सम्बद्ध करते हुए लिखा है—'स्वयं प्रकाशज्ञान (Intuition) के साँचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (Expresssion) है जो भीतर होती है और शब्द रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है।'[६१]

शुक्ल जी का यह कथन क्रोचे की मूल धारणा को उसकी पूर्ण यथार्थता में व्यक्त कर रहा है कि 'प्रतिभान' ही अभिव्यंजना है और मूल अभिव्यंजना आन्तरिक होती है बाह्य नहीं, किन्तु *अभिव्यंजना का शब्द-रंग आदि द्वारा प्रकाशित एक बाह्यरूप भी* होता है। क्रोचे ने लिखा है कि—'प्रत्येक सच्चा प्रतिभान अभिव्यंजना भी होता है, जिसकी अभिव्यंजना नहीं हो पाती वह प्रतिभान न होकर संवेदन और मात्र प्राकृतिक तथ्य (Natural Fact) होता है।'[६२] उसके अनुसार वास्तविक प्रतिभान (या वास्तविक पुनर्प्रस्तुतीकरण)[६३] की सच्ची कसौटी यही है कि वह अभिव्यंजना भी होता है।[६४] आगे चलकर उसने 'प्रतिभान' और अभिव्यंजना को एक और अपृथक् स्वीकार किया है।[६५]

आत्मिक या आन्तरिक (Spiritual or Enternal) अभिव्यंजना और बाह्य अभिव्यंजना के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है—'यदि सचमुच स्वयं प्रकाशन ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत सी भावनाएँ उठती हैं, जिन्हें वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता, क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है कि जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई नहीं समझना चाहिए।[६६]

उपर्युक्त उद्धरण में शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट तथ्य वस्तु सत्य है, क्रोचे की ठीक यही धारणा है। उसने लिखा है—'जो लोग कहते हैं कि उनके मस्तिष्क में अनेक महान विचार (Thoughts) हैं, किन्तु वे उन्हें अभिव्यंजित करने में असमर्थ हैं। किन्तु यदि वास्तव में उनके मस्तिष्क में वे विचार होते तो वे उन्हें अनेक सुन्दर एवं ध्वन्यात्मक शब्दों में कल्पित और इस प्रकार अभिव्यंजित करने में अवश्य समर्थ होते। यदि वे विचार अपने को अभिव्यंजित करने की क्रिया (Act) में लुप्त होते अथवा स्वल्प और क्षीण होते हुए प्रतीत होते हैं, तो इसका कारण यही है कि वास्तव में उनका अस्तित्व ही न था अथवा वे वस्तुतः स्वल्प और क्षीण थे।'[६७]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने क्रोचे के सैद्धान्तिक प्रतिभान (इन्ट्यूशन) और अभिव्यंजना को उसी रूप में समझा है, जिस रूप में क्रोचे ने वस्तुतः उसे प्रस्तुत किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का कुछ दूसरा ही मत है। डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लिखा है—'कहना न होगा कि शुक्ल जी ने वस्तुतः अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त को उसके सिर के बल पैर करके खड़ा कर दिया है। शुक्ल जी इस भ्रान्ति का समस्त कारण 'अभिव्यंजनावाद' शब्द है। बोलचाल की भाषा में हम 'अभिव्यंजनावाद' शब्द का प्रयोग बाह्य अभिव्यंजना के ही अर्थ में करते हैं। किन्तु क्रोचे ने इस शब्द का प्रयोग आन्तरिक अर्थात् मन के अन्दर होने वाली अभिव्यंजना के अर्थ में किया। बस शुक्ल जी ने अभिव्यंजना शब्द को क्रोचे के अर्थ में समझ कर बड़ी भारी भ्रान्ति कर दी।'[६८] उसी प्रसंग में एक बार उन्होंने और लिखा है कि "......शुक्ल जी ने यहीं क्रोचे को समझने में भूल की और 'अभिव्यंजना' शब्द का तात्पर्य शब्दों द्वारा बाह्य अभिव्यक्ति लगाया।"[६९] सारांश यह कि डॉ० वर्मा की दृष्टि में

शुक्ल जी ने अभिव्यंजना का अर्थ आन्तरिक अभिव्यंजना न ग्रहण कर 'शब्दों द्वारा बाह्य अभिव्यंजना' ग्रहण किया है और इस प्रकार क्रोचे के सिद्धान्त को सिर के बल पैर करके खड़ा कर दिया है, किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यह सफेद झूठ है। शुक्ल जी का एक वाक्य पुनः उद्धृत कर देना प्रमाण के लिए काफी होगा—'यदि सचमुच स्वयं प्रकाशज्ञान ( Intuition ) हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकता है।'

रेखांकित अंश पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने 'भीतरी अभिव्यंजना' का शब्दशः उल्लेख किया है और स्वयं प्रकाशज्ञान को भीतरी अभिव्यंजना ही माना है। अतः डॉ० वर्मा का उक्त कथन ठीक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः विद्वानों की इसी सामान्य भ्रान्ति के निराकरण अथवा असत्य को उद्घाटित करने के उद्देश्य से ही क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के दार्शनिक सैद्धान्तिक पक्ष सम्बन्धी शुक्ल जी के मतों का कुछ विशद विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे की अभिव्यंजना के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया है। क्रोचे ने कला की अभिव्यंजना (Aesthetic expression) और भौतिक अभिव्यंजना (Naturalistic expression) में भेद किया है। उसने भौतिक अभिव्यंजना को कला की अभिव्यंजना नहीं कला-शून्य माना है। उसके अनुसार कला की अभि-व्यंजना भौतिक अभिव्यंजना नहीं हो सकती। शुक्ल जी ने लिखा है कि क्रोचे के अनुसार "अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाएं करते हुए, क्रोध से तिलमिलाते हुए मनुष्य में और कला की पक्ष से क्रोध की अभिव्यञ्जना करते हुए मनुष्य में बड़ा अन्तर है। इस प्रकार की भौतिक अभिव्यञ्जना कला शून्य होती है।'[७०] इसी प्रकार उनका कथन है कि क्रोचे कवि के शब्दों, गायक के स्वरों, चित्रकार के खींचे हुए आकारों को जिन्हें साधारणतः लोग अभिव्यञ्जना समझते हैं, कला की अभिव्यञ्जनाएं नहीं, भौतिक अभिव्यञ्जनाएँ मानता है।[७१]

प्रश्न उठता है कि फिर क्रोचे कला की अभिव्यञ्जना किसे मानता है? शुक्ल जी कहते हैं कि क्रोचे के अनुसार—'कला की असल अभिव्यञ्जना है कल्पना, जो एक आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को आध्या-त्मिक वस्तु को प्रकाशित करने वाली 'भौतिक अभिव्यञ्जना' है।'[७२]

तुलनात्मक[७३] अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी ने क्रोचे की ही विचारणा को तत्त्वतः प्रस्तुत किया है।

सौन्दर्य-सृजन अथवा कला की अभिव्यञ्जना की सम्पूर्ण प्रक्रिया को क्रोचे ने चार प्रक्रमों में विभक्त कर प्रदर्शित किया है। शुक्ल जी ने भी उसे उसी रूप में अनू-दित करके प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

१—अन्तः संस्कार (Impressions)[७४]

२—अभिव्यञ्जना अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना[७५] (Expre-ssion or spiritual aesthetic synthesis)

३—सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द[७६] (Hedonistic acompaniment, or pleasure of the beautiful)

४—कलात्मक आध्यात्मिक तथ्य (अभिव्यंजना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर, गति, रेखा-रंग आदि)[७७] (Translation of the aesthetic fact into physical phenomena (Sounds, tones, movements, combinations of lines and colours, etc.)

इन सब में मूल प्रक्रिया है नं० २ अर्थात् अभिव्यञ्जना। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यञ्जना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।[७८]

कहना न होगा कि शुक्ल जी का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त स्वच्छ और प्रस्फुट है और उन्होंने आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना को ही क्रोचे की मूल अभिव्यञ्जना माना है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह कहना कि शुक्ल जी ने क्रोचे को समझा ही नहीं अथवा उसकी अभिव्यञ्जना को भ्रमवश बाह्य अभिव्यञ्जना समझा है, एक निराधार निर्णय है। वस्तुतः बिना परीक्षण के निर्णय देने वाले ऐसे लोगों ने ही न तो शुक्ल जी को समझा है और न तो क्रोचे को ही। इसके पीछे कारण यह है कि शुक्ल जी ने पाश्चात्य और प्राच्य समस्त दर्शन-शास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान का गम्भीर आलोचनात्मक अध्ययन किया था, यह उनकी कृतियों के यत्र-तत्र किए गए उल्लेखों और मतोल्लेखन से स्पष्ट है, किन्तु आज के हिन्दी के आलोचक अधिकांशतः मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण शास्त्र तक ही सीमित हैं। बहुतेरे तो 'दर्शन' को पागल बना देने वाला विद्या समझते हैं।

'प्रतिभान' (Intuition) और 'अभिव्यञ्जना' के विवेचन के पश्चात् शुक्ल जी ने बताया है कि क्रोचे के अनुसार अभिव्यञ्जना ही कला की मूल प्रक्रिया है, अभिव्यञ्जना ही कला है।[७९] उनका यह कथन सही है। क्रोचे प्रत्येक अभिव्यञ्जना को कला मानता है। उसके अनुसार वे लोग गलत हैं जो कला को अभिव्यञ्जना तो मानते हैं, किन्तु प्रत्येक अभिव्यञ्जना को कला नहीं मानते।[८०] उसने लिखा है कि 'यदि एक सूक्ति काव्य (Epigram) कला है तो एक सरल शब्द कला क्यों नहीं है? यदि एक कहानी कला है, तो पत्रकार के समाचार-नोट कला क्यों नहीं है? यदि एक प्राकृतिक दृश्य का चित्र (Landscape) कला है तो भौगोलिक रेखाचित्र कला क्यों नहीं है?[८१] क्रोचे के अनुसार प्रत्येक अभिव्यञ्जना कला है और प्रत्येक कला अभिव्यञ्जना है—दोनों में पूर्ण एकता है। ध्यातव्य है कि ये सभी अभिव्यञ्जनाएँ आत्मिक ही के अर्थ में प्रयुक्त हैं। क्रोचे ने आन्तरिक अभिव्यञ्जना को ही कला माना है, बाह्य अभिव्यञ्जना को कला स्वीकार नहीं किया है। उसका स्पष्ट मत है कि कला सदैव आन्तरिक क्रिया है, जो कुछ बाह्य है, वह कला नहीं है।[८२] उसने यह स्पष्ट किया है कि जब कलाकार अपने मानस में शब्द प्राप्त कर लेता है किसी आकृति या मूर्ति की एक निश्चित एवं स्पष्ट भावना ग्रहण कर लेता है, तभी अभिव्यञ्जना या कलात्मक आत्मिक क्रिया पूर्ण हो जाती है।

कला का वर्गीकरण

कला के वर्गीकरण के सम्बन्ध में क्रोचे के अभिमत को प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि उसके अनुसार 'साहित्यशास्त्र में रचनाओं के जो अनेक भेद किये गए हैं, कला की दृष्टि से वे निरर्थक हैं, जैसे अनेक प्रकार के अलङ्कार तथा वास्तविक (Realistic) और प्रतीकात्मक (Symbolic), बाह्यार्थ निरूपक (Objective) और अन्तर्वृत्ति निरूपक (Subjective), रूढ़िबद्ध और स्वच्छन्द, अलंकृत, अनलंकृत इत्यादि भेद।[८३] और वहीं पर उन्होंने यह भी लिखा है कि 'रस, अलंकार आदि के नाना भेद क्रोचे के अनुसार कला की सिद्धि में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। इन सबका मूल्य केवल 'वैज्ञानिक समीक्षा' में है। कला निरूपिणी समीक्षा में नहीं।[८४]

विवेचन करने पर यह ज्ञात होता है कि वस्तुतः क्रोचे की धारणा कला के वर्गीकरण के सम्बन्ध में यही है। उसने लिखा है कि 'साहित्य के क्षेत्र में अलङ्कार सिद्धान्त अथवा काव्यशास्त्रीय कोटियों के सिद्धान्त के नाम से ज्ञात विभिन्न स्तरों में अभिव्यञ्जनाओं का विभाजन अनुचित है। इस प्रकार अन्य कलात्मक वर्गों के विभेद के प्रयास भी अनावश्यक हैं, जैसे यथार्थ (Realistic) और प्रतीकात्मक आदि।'[८५] इसी के आगे उसने विविध प्रकार के प्रचलित भेदों का उल्लेख कर उन्हें कला की दृष्टि से अनावश्यक एवं अनुचित ठहराया है।[८६] संक्षेप में श्री ई० एफ० कैरिट के अनुसार उसने कला के समस्त भेदों का दर्शन के पन्नों से लोप (Effacement) कर दिया है[८७] उसका ऐसा करना निश्चय ही उसकी कला सम्बन्धी मौलिक धारणा के अनुरूप है। उसके अनुसार अभिव्यञ्जनाएँ अविभाज्य होती हैं। उनके विस्तार में भेद हो सकता है और उनकी सफलता में भी मात्रा-भेद मान सकते हैं, किन्तु रूप को कोटियों, विधाओं और शैलियों में वर्गीकृत करके बाँध देना क्रोचे के मतानुसार न तो न्याय संगत है न वांछनीय।[८८] इसी आधार पर वह कला का विभाजन उचित नहीं समझता। एक स्थान पर तो उसने यहाँ तक लिख दिया है कि 'कलाओं के वर्गीकरण और रीति-निरूपण करने वाली समस्त पुस्तकों को जला दिया जाय, तो भी कोई हानि नहीं।'[८९] किन्तु तथापि उसने जैसा कि शुक्ल जी ने कहा है, शास्त्र या तर्क के पक्ष में सहायक रूप में उसकी उपयोगिता स्वीकार की है।

इसी सन्दर्भ में अलंकार का भी उल्लेख क्रोचे ने किया है। शुक्ल जी का कहना है कि क्रोचे के अनुसार "अलङ्कार तो शोभा के लिए ऊपर से जोड़ी या पहनाई हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यञ्जना या उक्ति में अलङ्कार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए 'बाहर' से तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल भात में मूसरचन्द' होगा अथवा उसका एक ही अङ्ग होगा।"[९०]

शुक्ल जी के उक्त कथन का आधार क्रोचे का निम्न कथन है :—

"Here for instance it may be asked how an ornament can

be joined to expression, externally ? In that case it is always separated from the expression, Internally ? In that case, either it does not assist the expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament, but a constituent element of the expression, indivisible and indistinguishable in its unity."[९१]

तत्त्वतः दोनों की अर्थगत एकता असंदिग्ध है। उक्त कथन का आशय यह है कि अलङ्कार कोई वस्तु ही नहीं है, कला की दृष्टि से अलङ्कार की सत्ता ही नहीं है, क्योंकि अभिव्यञ्जना में बाहर से जोड़े जाने पर भी वह अभिव्यञ्जना न होने के कारण कला न होगा, और भीतर से जोड़े जाने पर अभिव्यञ्जना को ही खण्डित अथवा क्षतिग्रस्त करेगा। या अभिव्यञ्जना का ही अंग होगा और तब अलङ्कार ही न रह जायगा।

शुक्ल जी का कथन है कि क्रोचे अलङ्कार अलंकार्य का भेद न मानकर अलङ्कार की शाब्दिक अभिव्यञ्जना या उक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानता,[९२] किन्तु वास्तविकता यह है कि क्रोचे न तो अलंकार मानता है और न अलंकार्य, अतः उनका भेद मानने का ही प्रश्न नहीं उठता उसकी दृष्टि में तो आन्तरिक अभिव्यञ्जना ही कला है। आन्तरिक अभिव्यञ्जना में न तो कुछ अलंकार्य हो सकता है और न कुछ अलङ्कार ही, और स्वयं अभिव्यञ्जना न तो अलङ्कार हो सकती है न अलंकार्य।

जहाँ तक शुक्ल जी की धारणा का सम्बन्ध है वे अलङ्कार और अलंकार्य का भेद स्वीकार करते हैं। उनका सुदृढ़ मत है कि 'अलङ्कार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता।'[९३] अलंकार-विवेचन के प्रसंग में इसका पृथक् उल्लेख किया गया है।

क्रोचे की कला सम्बन्धी मान्यताएँ विवादास्पद हैं। कुछ प्रमुख मान्यताओं की विशद आलोचना शुक्लजी ने अपनी दृष्टि से की है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। यौरप के आत्मवादी विचारक क्रोचे और भारत के वस्तुवादी मनीषी शुक्ल का यह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ रोचक, विविक्त, गम्भीर और अद्भुत है। सबसे पहले हम कला के मूल या प्रधान स्वरूप सम्बन्धी समस्या को लेते हैं।

क्रोचे कला को ज्ञानस्वरूप स्वीकार करता है, यह बताया जा चुका है, किन्तु उसकी यह स्थापना सर्वमान्य नहीं कही जा सकती। आचार्य शुक्ल ने यह प्रश्न उठाया है कि कला या काव्य का मूल स्वरूप 'ज्ञानात्मक' होता है अथवा 'भावात्मक' या 'अनुभूत्यात्मक'।[९४] स्वयं क्रोचे के समक्ष यह विकल्प था, किन्तु उसने स्पष्ट रूप से कला को प्रतिभान (इन्ट्यूशन) कहकर ज्ञान स्वरूप माना है और उसकी अनुभूत्यात्मकता का निषेध किया है। उसने लिखा—"Intuition is knowledge, free from concepts and more simple than so-called perception of the real. Therefore Art is knowledge, form; it does not belong to the world of feeling or to psychic matter."[९५]

शुक्ल जी ने बताया है कि अनुभूति (Feeling) तो क्रोचे के अनुसार शरीर के योग-क्षेम से सम्बन्ध रखने वाली भीतरी क्रिया है। अतः उसके सुखदायक उपयोगी

अनुपयोगी, लाभकारी हानिकारी पक्ष अवश्य होंगे।[१६] सचमुच क्रोचे ने अनुभूति का यही स्वरूप बताया है और उसे उपयोगी या आर्थिक क्रिया मानकर जो नैतिक क्रिया से भिन्न होती है, व्यावहारिक आत्मिक क्रिया वाले वर्ग के अन्तर्गत रखा है, सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रियाओं के वर्ग में नहीं।[१७]

यद्यपि उसने यह स्वीकार किया है कि अनुभूति सभी आत्मिक क्रियाओं की अतः प्रातिभक्रिया की भी सहचरी (Concomitant) हो सकती है, किन्तु वह किसी भी सहचर तथ्य को प्रधान तथ्य के साथ संयुक्त करने और एक को दूसरे को स्थानापन्न करने के पक्ष में नहीं है।[१८] आशय यह कि क्रोचे कला के सहचर तथ्य के रूप में अनुभूति को स्वीकार करते हुए भी कला का प्रधान रूप ज्ञानात्मक ही मानता है, भावात्मक या अनुभूत्यात्मक नहीं। श्री आर० जी० कालिंगवुड ने क्रोचे के अभिमत को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "Art is thus not an activity of the emotions, but a cognitive activity."[१९] अर्थात् कला एक भावात्मक नहीं अपितु एक ज्ञानात्मक क्रिया है।

इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने विशेषतया काव्य को दृष्टि में रखकर विचार किया है। उनका कथन है कि क्रोचे ने कल्पना पक्ष को प्रधानता देकर उसका (काव्य या कला का) रूप ज्ञानात्मक कहा है, किन्तु हमारे यहाँ काव्य के विधान में भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान स्वीकार किया गया है, स्वतन्त्र रूप में नहीं। रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य का मूलरूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक ही है, यद्यपि उसमें 'विभाव' के रूप में कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव भी विद्यमान है। यही भारतीय दृष्टि ही शुक्ल जी की दृष्टि है। वे इसी मत का युक्ति-युक्त रूप से समर्थन करते हैं।

अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए वे क्रोचे की जड़ पर ही कठोर कुठाराघात करते हैं। वे कहते हैं "कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे का पहुँचाना है।"

विचार करने पर आचार्य शुक्ल का मत पुष्ट दिखायी देता है, जब 'नालेज' (knowledge-ज्ञान) शब्द बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त होता है तो उससे निश्चित ही बौद्धिक या तार्किक ज्ञान (Intellectual or Logical knowledge) का ही अर्थ ग्रहण होता है, प्रतिभान (Intuition) या कल्पना (Imagination) का नहीं। अतः प्रतिभान (Intuition) को ज्ञान (Knowledge) कहना निश्चय ही उसे बौद्धिक ज्ञान कह देना है अर्थात् उसे ऊँचा दर्जा दे देना है।

हम यह स्वीकार करते हैं कि 'प्रातिभक्रिया' (Intuitive activity) और बौद्धिक क्रिया (Intellectual activity) दोनों ही ज्ञानात्मक (Cognitive) क्रियाएँ हैं, किन्तु उनमें स्तर-भेद है। पहली क्रिया ज्ञान की प्रतीति दशा (Perceptual stage of Knowledge) है और दूसरी क्रिया ज्ञान की प्रत्ययात्मक दशा (Conceptual stage of Knowledge) है। वस्तुतः प्रत्ययात्मक दशा को प्राप्त ज्ञान को ही सामान्यतः 'ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान की प्रतीति दशा को सामान्यतः 'ज्ञान' नहीं कहा जाता है, अपितु उसे ज्ञान अर्थात् प्रत्ययात्मक ज्ञान से पृथक् रखने के लिए उस अवस्था के

सूचक विशेषण के साथ प्रयुक्त करते हैं। संक्षेप में आशय यह कि उसे ज्ञान का एक प्रकार अथवा ज्ञान की अवस्था विशेष मानते हुए भी 'ज्ञान' से भिन्न माना जाता है। क्रोचे को यह ज्ञात था कि सामान्यतः बौद्धिक ज्ञान (Intellectual Cognition को ही ज्ञान (Knowledge) कहा जाता है, प्रतिभज्ञान (Intuitive Cognition) को नहीं।[१००] इसी आधार पर कला को ज्ञान नहीं माना जाता है।[१०१] किन्तु उसका तर्क है कि 'प्रतिभान' ज्ञान होता है और प्रतिभान ही कला है अतः कला ज्ञान है।[१०२] गम्भीरतापूर्वक विचार करने से पता चलता है कि यह वस्तुतः उसकी ऐच्छिक मान्यता है। 'प्रतिभान' ज्ञान है, (Intuition is Knowledge) कहना वस्तुतः एक सदोष अभिव्यक्ति है, वस्तुतः प्रतिभान (Intuition) ज्ञान नहीं, अपितु ज्ञान का एक प्रकार है या एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु वह ऐसा ज्ञान है जिसे मात्र 'ज्ञान' नहीं कहा जाता है। वस्तुतः 'प्रतिभान' ऐसा ज्ञान होता है, जिसमें अनुभूति की ही प्रधानता होती है अर्थात् प्रतिभान अनुभूत्यात्मक ज्ञान है। अतः कला ज्ञानात्मक होती हुई भी अनुभूत्यात्मक सिद्ध होती है।

पाश्चात्य विचारक श्री ई० एफ० कैरिट का यही मत है। उसके मतानुसार कला का ज्ञान के साथ, जिसका कि वह एक प्रकार मात्र होता है अथवा उस प्रकार के (बौद्धिक) ज्ञान के साथ जो कि वह होती ही नहीं तादात्म्यीकरण करने वालों के प्रतिकूल उसे अनुभूतियों के रूप में निरूपित करने वाले ठीक हैं।[१०३]

शुक्ल जी ने काव्य या कला को ज्ञानात्मक न मानकर मनोविज्ञान के सहारे भावात्मक सिद्ध किया है। नाटक को उदाहरण के रूप में ग्रहण कर उन्होंने लिखा—'करुणरस के नाटक आदि पढ़ने-देखने से श्रोताओं को आँसू क्यों आ जाते हैं? आँसू का आना भावोद्रेक का बाह्य लक्षण (Symptom) है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तो साफ प्रकट है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होता है।' किन्तु उनका यह मत मात्र नाटक के सम्बन्ध में नहीं—समस्त काव्य रूपों, कलाओं और क्रोचे की अभिव्यञ्जना या प्रतिभान के लिए भी है।

आत्मवादी क्रोचे की यह मान्यता भी कि 'मूर्तभावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है[१०४] शुक्ल जी को मान्य नहीं, इसका कारण उनकी वस्तुवादी दृष्टि ही कही जा सकती है। क्रोचे की विचारधारा बाह्य जगत की वास्तविकता को अस्वीकार करती है,[१०५] इसीलिए उसकी दृष्टि में 'रूप' या 'मूर्तभावना' आत्मा की अपनी क्रिया है—बाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं। यही क्रोचे की मूल दार्शनिक सैद्धान्तिक स्थापना है। *शुक्ल जी ने इस स्थापना का खण्डन किया है।* डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है—'क्रोचे जिन्हें आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिम्ब सिद्ध करते हैं।'[१०६]

वस्तुवाद का आधार ग्रहण कर अपने तर्कों से शुक्ल जी ने क्रोचे की स्थापना का खण्डन करते हुए लिखा है—"जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य जगत् से प्राप्त किए हुए रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो

संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं, वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों ही भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना बाह्य जगत् से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है, जिसमें एक-एक रूप की सत्ता अलग-अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूप समूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक्-पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जाने वाला 'मसाला' बताना वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?"[१०७]

वस्तुतः क्रोचे और आचार्य शुक्ल की यह टकराहट दो विरोधी दृष्टिकोणों की टकराहट है। किसी भी दृष्टिकोण के समर्थकों की कमी नहीं। यह ज्ञान मीमांसा की मूल दार्शनिक समस्या है, जिसका अन्तिम समाधान ऐतिहासिक विकास के दौरान ही आगे चलकर होगा। जहाँ तक 'मानने' का प्रश्न है, प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है वह कुछ भी मान सकता है, किन्तु वास्तविकता या सत्यता का प्रश्न उठने पर वस्तुवादी दृष्टिकोण ही विज्ञान-सम्मत प्रतीत होता है। यह बात शुक्ल जी के अगले तर्क से स्पष्ट हो जायगी। उन्होंने लिखा है—...."एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आये हुए रूप बाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं है, खास आत्मा से निकले हुए हैं, तो उनकी उद्भावना जन्मान्धों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँख वालों को।"[१०८]

शुक्ल जी का तर्क जितना सरल है, उतना ही सघन और सारगर्भित भी। इसे सुनकर आत्मवादी आत्मा की ओर अपनी-अपनी आँख मलने लगते हैं। संक्षेप में उन्होंने उस स्रोत को भी संकेतित कर दिया है जिसके प्रभाव से क्रोचे ने यह विलक्षण उद्भावना की है। उनका कथन है कि 'कल्पना में आये हुए रूप आध्यात्मिक जगत् के हैं, बाह्य जगत् से प्राप्त नहीं हैं, पुराने ईसाई संतों और ब्लेक के इसी प्रवाद को ग्रहण करने के कारण साँचों की विलक्षण उद्भावना की गई है।'[१०९]

क्रोचे अपनी कला-मीमांसा में कला और 'रूप' ( Form ) को समीकृत कर देता है।[११०] शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि क्रोचे के अनुसार 'कला के क्षेत्र में यही साँचा सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (Matter) ध्यान देने की वस्तु नहीं है।'[१११] कला के अन्तर्गत क्रोचे 'वस्तु' को स्थान नहीं देता।

वस्तु और रूप का सम्बन्ध कला-मीमांसा का सर्वाधिक विवादास्पद विषय है। क्रोचे के अनुसार कला को केवल वस्तु मानना या वस्तु और रूप का योग मानना दोनों गलत है।[११२] कला में द्रव्य या वस्तु के साथ 'अभिव्यंजनात्मक क्रिया' जोड़ी नहीं जाती है। वरन् अभिव्यंजनात्मक क्रिया के द्वारा वस्तु या द्रव्य को ही 'रूप' में बदल दिया जाता है। अतः कला सम्वेदन संस्कार और अभिव्यंजना दूसरे शब्दों में द्रव्य (वस्तु) और रूप का योग नहीं होता। अभिव्यंजना में मन में संचित छाया संस्कार (Impressions) इस प्रकार पुनः व्यक्त होते हैं।

भाववादी दार्शनिकों के लिए सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर आत्मगत होती है।[११३] क्रोचे के भी सौंदर्य-दर्शन में भाववाद ( Idealism ) की चरम प्रतिष्ठा है।

इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है—'कला के क्षेत्र में 'सुन्दर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौंदर्य से उसका तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य से, उक्ति के सौंदर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। किसी वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौंदर्य कहाँ ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौंदर्य नहीं मानते। जो कुछ सौन्दर्य होता है, वह केवल अभिव्यंजना में, उक्ति-स्वरूप में। यदि सुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही।'[११४]

उपर्युक्त उद्धरण का विश्लेषण करने पर निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

क्रोचे के अनुसार (१) सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत नहीं होती। (२) प्रकृति में (कल्पना की सहायता के बिना) कोई सौंदर्य नहीं होता। (३) सौंदर्य (आन्तरिक) अभिव्यंजना में होता है अर्थात् सौंदर्य की सत्ता आत्मगत होती है। (४) सौंदर्य की सत्ता उक्ति (बाह्य) में होती है।

यह एक वास्तविकता है कि क्रोचे ने सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता नहीं स्वीकार की है, यह अन्वेषण प्रमाणित तथ्य है। इस विषय में विद्वानों में भी मतैक्य है। क्रोचे ने लिखा है—"Monuments of art, which are the stimulants of aesthetic reproduction, are called beautiful things or the physically beautiful. This combination of words constitutes a verbal paradox, because the beautiful is not a physical fact, it does not belong to things but to the activity of man, to spiritual energy."[११५]

स्पष्ट है कि क्रोचे के अनुसार सौंदर्य वस्तुगत तथ्य नहीं, अपितु आत्मिक क्रिया है। उसका कहना है कि हम किसी बाह्य वस्तु के सौंदर्य की बात वस्तुतः लाक्षणिक (Symbolic) अर्थ में ही करते हैं। किसी वस्तु को सुन्दर कहने का आशय यह नहीं कि सौंदर्य उस बाह्य वस्तु में ही निहित है। बाह्य वस्तु तो हमारे मन के सौंदर्य बोध को उकसाने मात्र का कार्य करती है और हम भ्रांतिवश उस वस्तु को ही सुन्दर कहने लगते हैं।[११६]

डॉ० रामविलास शर्मा ने क्रोचे को उन लोगों का एक प्रतिनिधि ठीक ही कहा है जो सौंदर्य का उद्भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं।[११७] शुक्ल जी क्रोचे की सौंदर्य सम्बन्धी उक्त धारणा से सहमत नहीं हैं। उनकी सौंदर्य सम्बन्धी धारणा वस्तुवादी है। वे सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत मानते हैं, आत्मगत नहीं। उनका निर्भ्रान्त मत है कि 'जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दरवस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।'[११८]

उक्त दोनों मतों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय सरल नहीं है। आज भी वस्तुवादी और भाववादी विचारों और विचारकों में संघर्ष चल रहा है। किसी भी मत को मानने वालों की कमी नहीं है। किन्तु वस्तुवादी दृष्टिकोण ही विज्ञान सम्मत एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। भाववादी विचारणा हठवादिता सी प्रतीत होती है,

उसके पीछे कोई युक्ति-युक्त ठोस आधार नहीं दिखाई पड़ता। डॉ० शर्मा ने सौंदर्यानुभूति को इन्द्रिय-बोध से सम्बद्ध मानते हुए ठीक लिखा है कि 'इन्द्रिय बोध एक बाह्य प्रत्यक्ष जगत का अनुभव है, इन्द्रियों से इस जगत् का बोध होता है, इन्द्रियाँ उसकी सृष्टि नहीं करतीं। इसलिए इन्द्रियों से जिस सौंदर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इन्द्रियाँ सौंदर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं, जहाँ तक बाह्य जगत् के इन्द्रियबोध का सम्बन्ध है।'[११९]

क्रोचे के बारे में शुक्ल जी द्वारा कही गई प्रकृतिगत सौंदर्य न मानने की बात भी सच है। इसी सन्दर्भ में शुक्ल जी ने यह भी बताया है कि "यह प्रश्न उठने पर कि 'फिर लोग क्यों नाहक' प्रकृति की सुषमा, शोभा, छटा, सुन्दरता इत्यादि कहा करते हैं? क्रोचे कहता है कि बात यह है कि काव्य की उक्तियों के निर्माण में प्रकृति के क्षेत्र से बहुत सी सामग्री न जाने कितने दिनों से लोग लेते चले आ रहे हैं। इससे उन वस्तुओं को असंख्य उक्तियों में सुन्दर देखते-देखते उनके सम्बन्ध में सुन्दरता की भावना बँध गई है और हम उन्हें वास्तविक या प्रत्यक्ष रूप में भी सुन्दर समझा करते हैं।"[१२०]

शुक्ल जी की ऊपर उद्धृत की गई दोनों बातों का स्पष्ट उल्लेख क्रोचे ने इस प्रकार किया है—

(१) Without the aid of the imagination, no part of nature is beautiful.[१२१]

(२) 'Any one who calls a landscape beautiful where the eye rests upon verdure, where the body moves briskly and the warm Sun envelops and caresses the limbs, does not speak of anything aesthetic. But it is neverthless indubitable that on other occasions the adjective 'beautiful' applied to objects and scenes existing in nature, has a completely aesthetic signification.'[१२२]

शुक्ल जी द्वारा कही गई तीसरी बात में कि क्रोचे के अनुसार 'सौंदर्य अभिव्यजना में होता है' संदेह का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका उल्लेख अनेक बार पहले ही हो चुका है।

अवशेष रही अन्तिम बात कि क्रोचे के अनुसार 'सौंदर्य की सत्ता उक्ति में होती है।' शुक्ल जी का यह कथन असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। उक्ति का सामान्य अर्थ शब्दों द्वारा बाह्य अभिव्यंजना होता है। क्रोचे बाह्य अभिव्यंजना को कला मानता ही नहीं। उसका निर्भ्रान्त मत है कि 'कलाकृति सदैव आन्तरिक होती है, जिसे बाह्य कहा जाता है, वह कलाकृति नहीं।'

क्रोचे की कला सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यताओं से शुक्ल जी की असहमति का तात्पर्य यह नहीं कि वे किसी भी पहलू पर उससे एक मत हैं ही नहीं; या कि शुक्ल जी

ने क्रोचे की हर बात का खण्डन ही किया है, उसकी किसी बात का समर्थन नहीं किया। वास्तविकता यह नहीं है। कुछेक का स्पष्ट उल्लेख शुक्ल जी ने किया है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि क्रोचे ने कला को तार्किक ज्ञान से पृथक् कर उसे प्रतिभान से सम्बद्ध किया है और उसे अनिवार्यतया बिम्बात्मक माना है। शुक्ल जी ने भी काव्य को शास्त्र से पृथक् कर उसे बिम्बात्मक माना है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्तभावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार ( concept ) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।'[१२३]

रेखांकित अंश के समर्थन में शुक्ल जी ने क्रोचे के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—'अभिव्यंजनावाद के (Expressionism) के प्रवर्तक क्रोचे (Benedetto Croce) ने कला के बोध पक्ष और तर्क के बोधपक्ष को इस प्रकार अलग-अलग दिया है।—(क) Intutive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or individual things.

(ख) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect, knowledge of the universal, knowledge of the relations between individual things.'[१२४]

वस्तुत: शुक्ल जी की दृष्टि द्वन्द्ववादी एवं प्रवृत्ति सार-गुणग्राहिणी थी। वे किसी भी सिद्धांत के उचित और अनुचित, सही और गलत दोनों पक्षों का विवेचन करते हैं और निस्संकोच उचित पक्ष को ग्रहण कर लेते हैं। साहित्यिकवाद रूप में प्रच-लित जिस अभिव्यंजनावाद की उन्होंने इतनी तीव्र आलोचना की उससे भी उन्होंने इतना तथ्य ग्राह्य समझा कि 'हमारी काव्यभाषा में व्यंजना प्रणाली के और अधिक प्रसार और चित्ताकर्षक विकास की बहुत आवश्यकता है।'[१२५] और अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से तत्कालीन खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में जो सजीवता और स्वच्छन्दता आ रही थी,[१२६] लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य भाषा की जो व्यंजकता बढ़ रही थी,[१२७] अप्रस्तुत योजना में प्रभाव-साम्य पर लेखकों की जो विशेष दृष्टि होने लगी थी,[१२८] उन्हें अच्छी बात कहकर उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की।[१२९]

अब तक क्रोचे के जिस अभिव्यंजना सिद्धांत का विवेचन किया गया उसे आचार्य शुक्ल ने १९वीं शताब्दी में योरप में उठे हुए नाना वादों जैसे कला-कला ही के लिए है, 'काव्य में बुद्धि घातक होती है,' 'काव्य कल्पना का लोक है' को बहुत दूर तक घसीट कर 'शास्त्रीय रूप देने का सबसे प्रकाण्ड प्रयास'[१३०] कहा है। इसी प्रकाण्ड प्रयास का परिणाम थी क्रोचे की कृति 'ऐस्थेटिक' जो सबसे पहले १९०२ में प्रकाशित हुई,[१३१] जिससे अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन हुआ और जो युग-निर्मात्री सिद्ध (Epoch-making) हुई।[१३२] आगे चलकर उसके प्रभाव के कारण अभिव्यंजनावाद' नामक एक सर्वथा नवीन साहित्यिक सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ।[१३३] काव्य-चर्चा और काव्य-

रचना दोनों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।'[134] इस साहित्यिक वाद रूप अभिव्यंजनावाद की विस्तृत चर्चा शुक्ल जी ने की है, जिसका संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

ध्यातव्य यह है कि क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त का प्रभाव सभी कलाओं पर पड़ा, किन्तु शुक्ल जी ने साहित्यिक अभिव्यंजनावाद की ही आलोचना की है।

उनके मतानुसार 'इसमें ( साहित्यिक अभिव्यंजनावाद में ) अभिव्यंजना अर्थात् किसी बात को कहने का ढंग ही सब कुछ है, बात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक-ठिकाने की न भी हो।'[135] इस तथ्य को उन्होंने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से कहा है। उन सब का तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है।'[136] किन्तु उनके कुछ कथनांशों का ज्यों-का-त्यों उल्लेख स्पष्टता के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) 'उक्ति-वैचित्र्य या अनूठेपन पर जोर देने वाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और योरप में भी आजकल बहुत जोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यंजना ( Expression ) ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह सब कुछ नहीं।'[137]

(२) 'अभिव्यंजनावादियों (Expressionists) के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है, उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है।'[138]

(३) 'अभिव्यंजनावाद' अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है।'[139]

(४) 'अभिव्यंजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लगे तो उसमें विलक्षण-विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—न विचारधारा, न भावों की रस धारा।'[140]

(५) 'अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से मूर्ति-विधान का बड़ा ही दुरुपयोग होने लगा है।'[141]

(६) 'अभिव्यंजनावाद की प्रकृति वाग्वैचित्र्य या शब्द-भंगी की ओर अधिक है।'[142]

सारांश यह कि अभिव्यंजना के ढंग के अनूठेपन अर्थात् वाग्वैचित्र्य की प्रधानता और विषय वस्तु की उपेक्षा शुक्ल जी के अनुसार, अभिव्यंजनावाद के प्रमुख लक्षण हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या आचार्य शुक्ल द्वारा बताये गये साहित्यिक वाद के रूप में प्रचलित अभिव्यंजनावाद के लक्षण गलत हैं? उत्तर होगा, 'नहीं'। वे बिलकुल ठीक हैं। कोई भी साहित्यिक-आलोचक इन वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं कर सका है। क्रोचे के अभिव्यञ्जना-सिद्धांत में वाग्वैचित्र्य की प्रधानता और वस्तु की उपेक्षा है या नहीं, यह बिलकुल दूसरा प्रश्न है, इसे हम यहाँ पर छोड़ देते हैं। यहाँ पर वस्तुतः प्रश्न यह है कि क्रोचे के अभिव्यञ्जना-सिद्धान्त के आधार पर योरप में उठे अभिव्यञ्जनावाद नामक कला सम्प्रदाय, विशेषतया साहित्यिक सम्प्रदाय में वाग्वैचित्र्य की प्रधानता

और किसी न किसी सीमा तक वस्तु की उपेक्षा है या नहीं ? इतिहास की ओर दृष्टि डालने से पता चलता है कि वास्तव में ऐसा है।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सहारे बीसवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप के काव्य-क्षेत्र में १—प्रभाववाद या संवेदनावाद (Impressionism), २—बिंबवाद (Imagism), ३—घनवाद (Cubism), ४—वक्रतावाद (Principle of oblique Art) और अतियथार्थवाद (Sur-realism) नामों से जो आन्दोलन चले उन सबमें असामान्य अभिव्यंजना प्रणालियों की किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठा'[१४३] है। इन वादों के अन्तर्गत आने वाले कुछ लेखकों का स्पष्ट उल्लेख शुक्ल जी ने किया है। इनकी चर्चा 'रीति' सिद्धान्त के अन्तर्गत हो चुकी है। इनमें प्रमुख हैं श्री एफ० एस० फ्लिंट[१४४] और श्री ई० कमिंग्ज।[१४५] श्री कमिंग्ज ने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षर-विन्यास, चरण विन्यास इत्यादि के न जाने कितने नए-नए करतब दिखाए हैं, जैसे—

सि-पाही स् (ी) टी देता है।[१४६]

प्रख्यात आलोचक डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार उक्त सभी कला-सिद्धान्त केवल वक्रता ही नहीं, अतिवक्रता का प्रतिपादन करते हैं—जिसमें विचित्रता तथा लोकातिक्रांतगोचरता का अतिचार मिलता है।[१४७] वस्तुतः अभिव्यंजनावादी काव्य के क्षेत्र में निरंकुश स्वेच्छाचारिता प्रदर्शित करते हैं। वे आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य मानते हैं और कहते हैं कि 'यह हमारा संसार है, इसे स्वीकार करो या न करो।'[१४८]

उपर्युक्त वादों में वस्तु की उपेक्षा या गौणता स्पष्ट ही है। वैचित्र्य या वक्रता की प्रधानता का अर्थ ही है—वस्तु की उपेक्षा। बात यह है कि 'अभिव्यञ्जनावादियों का ध्यान वस्तु के चुनाव पर नहीं होता है। उनके अनुसार काव्य में प्रत्येक वस्तु ग्राह्य है, प्रत्येक अनुभूति या विचार को काव्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि के मन में जीवन एवं जगत् का जो रूप उभर आता है, उसे व्यक्त कर देने में कोई दोष नहीं है।'[१४९]

योरप के इस साहित्यिक अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य की प्रधानता को ही लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा कि 'और कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।'[१५०] यह बात उन्होंने अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में कही है। उन सबका एकत्र उल्लेख उनके मन्तव्य को समझने में सहायक होगा।

(१) 'योरप में भी आजकल क्रोसे (क्रोचे) के प्रभाव में एक प्रकार का वक्रोक्ति वाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा प्रधान है।'[१५१]

(२) 'योरप का यह अभिव्यञ्जनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। अन्तर

इतना ही है कि भंग्यन्तर के लिए हमारे यहाँ व्यञ्जना का अधिक सहारा लिया जाता है और योरप में लक्षणा का।'[१५२]

(३) 'क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के एक आचार्य वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कह कर उठे थे। उनकी दृष्टि में भी 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है।'[१५३]

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम तीन उद्धरणों में शुक्ल जी ने योरप में साहित्यिकवाद रूप में प्रचलित अभिव्यंजनावाद के वाग्वैचित्र्य को ही लक्ष्य कर उसे भारत के प्राचीन वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान माना है। किन्तु आगे चलकर अन्तिम उद्धरण में उन्होंने क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को भी वही कह डाला है। सम्भवतः इसीलिए कि क्रोचे का अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त ही किसी न किसी रूप में साहित्यिकवाद के रूप में प्रचलित अभिव्यञ्जनावाद का आधार रहा है और उसमें वस्तुतः वैचित्र्य के लिए यथेच्छ अवकाश है भी।

यह अनिवार्यतया ध्यान में रखना होगा कि उन्होंने योरप के 'अभिव्यञ्जनावाद' को केवल 'वक्रोक्तिवाद' न कहकर 'एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद' कहा है और भारतीय वक्रोक्तिवाद से उसके एक अन्तर का उल्लेख भी किया है—वह यह कि भंग्यन्तर के विलायती वक्रोक्तिवाद में लक्षणा का अधिक सहारा लिया जाता है और भारतीय वक्रोक्तिवाद में व्यञ्जना का।

क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कह देने से हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक तूफान आ गया। आलोचक गण शुक्ल जी पर आक्रोश व्यक्त करने लगे और निर्दोष क्रोचे और कुन्तक को उनके 'वादों' के साथ आमने-सामने बैठाकर समता और असमता टटोलने लगे। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने लिखा—'दोनों (अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद) मूलतः एक नहीं माने जा सकते और एक-दूसरे से प्रभावित हुआ है, न यही कहा जा सकता है। दोनों की प्रकृति में यूरोप और भारतवर्ष की प्रकृति की तरह असमानता है।'[१५४]

इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि शुक्ल जी ने न तो यह कहा था कि 'अभिव्यंजनावाद' और 'वक्रोक्तिवाद' दोनों मूलतः एक हैं और न तो यही कहा था कि एक दूसरे से प्रभावित हुआ है।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि ''शुक्ल जी का यह निर्णय अधिक सुविचारित नहीं है, क्रोचे को इस धारणा से चिढ़कर कि 'कला में विषय-वस्तु की सत्ता नहीं है अभिव्यंजना ही कला है' शुक्ल जी ने आवेश में आकर अभिव्यंजनावाद की द्विगुण तिरस्कार करने के लिए ही कदाचित् ऐसा कह दिया है। वास्तव में शुक्ल जी का यह वक्तव्य है तो क्रोचे और कुन्तक दोनों के साथ ही अन्याय...।''[१५५]

इस विषय पर आलोचकों में मतैक्य है। वस्तुतः उनकी धारणा निराधार नहीं

कही जा सकती; किन्तु उसका आधार जी के वक्तव्य का वाच्यार्थ ही है, लक्ष्यार्थ नहीं, अतः आलोचकों की दृष्टि से शुक्ल जी का मन्तव्य ओझल हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्तिवाद का सामान्यतया और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का भी प्राण तत्त्व उक्तिगत-वैचित्र्य अर्थात् वाग्वैचित्र्य ही है, यद्यपि उसमें रस का तिरस्कार नहीं है, और योरप में क्रोचे के अभिव्यञ्जना सिद्धान्त के प्रभाव से साहित्यिकवाद के रूप में प्रचलित अभिव्यञ्जनावाद का भी प्राणतत्त्व वाग्वैचित्र्य का प्राधान्य ही है अतः वाग्वैचित्र्य को लक्ष्य करके उसे 'वक्रोक्तिवाद का एक प्रकार या 'वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' कहना असंगत और अनुचित नहीं ठहराया जा सकता है। यदि इसके पीछे अभिव्यञ्जनावाद को तिरस्कृत करने का उद्देश्य माना जाय तो यह कहना चाहिए कि शुक्ल जी ने अभिव्यञ्जनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहकर उसे तिरस्कृत नहीं अपितु सम्मानित कर दिया है, क्योंकि भारतीय वक्रोक्तिवाद में रस की अवहेलना नहीं है, किन्तु योरप के अभिव्यञ्जनावाद में विषय या वस्तु के औचित्य-अनौचित्य का ध्यान न रखने के कारण रसात्मकता की अवहेलना स्पष्ट है।

हिन्दी के आलोचकों की आपत्ति वस्तुतः क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहने को ही लेकर है, न कि साहित्यिक क्षेत्र में नवीनवाद के रूप में योरप में प्रचलित अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहने को लेकर। अब प्रश्न यह उठता है कि क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में वाग्वैचित्र्य का क्या स्थान है, जो आचार्य शुक्ल ने उसे भी भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कह डाला।

सबसे पहले ध्यातव्य है कि क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में चाहे वाग्वैचित्र्य का प्राधान्य हो अथवा उसका कोई भी स्थान क्यों न हो, किन्तु वह योरप में प्रचलित वाग्वैचित्र्य प्रधान अभिव्यञ्जनावाद नामक साहित्यिकवाद के सूत्रपात और विकास का प्रमुख आधार रहा है, इसमें सन्देह नहीं। सिगनर पिराण्डेलो को क्रोचे का प्रमुख शिष्य माना जाता है, यह माना गया है कि उसने अपने गुरु के सिद्धान्तों के अनुसार ही साहित्य-सर्जना की है।[१५६] उनकी कृतियों में वाग्वैचित्र्य का स्पष्ट प्राधान्य है। क्रोचे के मूल सिद्धान्तों के विपरीत (?) ही सही, उनके अनुयायी अभिव्यञ्जनावादियों ने उनके खण्ड-सिद्धान्तों का स्पष्ट आधार ग्रहण कर वाग्वैचित्र्य प्रधान साहित्य-सर्जना की ही धारा प्रवाहित की। डॉ० नगेन्द्र भी ऐसा ही मानते हैं।[१५७]

यह सच है कि क्रोचे के मूल अभिव्यञ्जनावाद में उसके आन्तरिक या आत्मिक होने के कारण वाग्वैचित्र्य के लिए कोई भी स्थान नहीं है, किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि उसमें वाग्वैचित्र्य के लिए न सही, किन्तु वैचित्र्य के लिए पर्याप्त स्थान मौजूद है। आन्तरिक अभिव्यञ्जना या रूप का बाह्य वस्तु से कोई संबंध न मानकर उसे मात्र आत्मिक क्रिया मानने या कल्पना का कार्य मानने का वस्तुत. तात्पर्य क्या है ? उसका तात्पर्य इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता कि आत्मिक रूप बाह्य जगत् की वस्तु के रूप से कितना भी भिन्न अर्थात् विचित्र हो सकता

है। हो या न हो यह बात दूसरी है, किन्तु उसके विचित्र होने के लिए पूरा अवकाश है, खुली छूट है। और यदि आन्तरिक रूप और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति में कोई भी सम्बन्ध मौजूद है तो निश्चय ही विचित्र आत्मिक रूप का शब्दों में अभिव्यक्त बाह्य स्वरूप भी विचित्र होगा ही। इस प्रकार क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में हर प्रकार के वैचित्र्यवाद की जड़ (Root) मौजूद होने के कारण उसमें प्रकारान्तर से हर प्रकार का शब्दगत, वर्णगत, रेखागत आदि वैचित्र्य मौजूद है। वस्तुतः आत्मिक रूप का यह दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा वृक्ष है ही जिसमें वैचित्र्य के ही फल लगा करते हैं। आज के इस सजग युग में उन्हें इसी उद्देश्य से आरोपित भी किया जाता है और सामान्य जनता की निगाहों को चकमा दिया जाता है। अपने इसी मूलभूत गुण (अर्थात् अन्तःस्थित वैचित्र्य) के ही कारण क्रोचे का यह अभिव्यंजनावाद 'उसके शिष्यों द्वारा वास्तविक व्यावहारिक रूप पाकर 'अभिव्यंजनावाद' नामक नवीन साहित्यिकवाद का प्रवर्तन कर सका और अभिव्यञ्जनावादी उसके खण्ड सिद्धान्तों का अपने पक्ष और समर्थन में बराबर उपयोग करते रहे। वस्तुतः यह मान्यता सतही है कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य का स्थान है ही नहीं, वास्तविकता तो यह है कि उसके गर्भ में न केवल वाग्वैचित्र्य अपितु अभिव्यञ्जना में जितने भी प्रकार के वैचित्र्य सभी मौजूद हैं। भीतर का यह वैचित्र्य अभिव्यक्त होकर बाहर आता ही है। स्वयं क्रोचे के अभिव्यञ्जना सिद्धान्त के शाब्दिक प्रतिपादन अर्थात् बाह्य अभिव्यञ्जना की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि उसमें भी वाग्वैचित्र्य की प्रधानता विद्यमान है। उसने अपने अभिव्यञ्जना-सिद्धान्त में प्रतिभान (Intuition), रूप (Form), अभिव्यञ्जना (Expression), कल्पना (Imagination), भावना या अनुमान (Fancy), सौन्दर्य (Beauty) और कला (Art) सभी को आत्मिक बनाकर समीकृत कर दिया है। क्या यह वैचित्र्य नहीं है? निश्चय ही यह वैचित्र्य है और स्वाभाविक वैचित्र्य नहीं, अपितु बलात्कृत वैचित्र्य है। यह समीकरण वैसा ही है, जैसे प्राइमरी कक्षा का देशी अध्यापक छोटे-बड़े कक्षा के सभी विद्यार्थियों को 'मुर्गा' बनाकर समीकृत कर देता है। यदि क्रोचे को भाषा की सामाजिक प्रकृति का थोड़ा भी ध्यान रहता तो वह शब्दों के साथ ऐसी स्वेच्छाचारिता बरत कर उनकी जकड़बन्दी न करता। किसी एक शब्द के साथ यह खिलवाड़ (या बलात्कार) किया गया होता तो स्वाभाविक और आवश्यकता-प्रेरित प्रतीत होता, किन्तु बहुत से शब्दों के साथ ऐसा करना वैचित्र्य राग से प्रेरित प्रवृत्ति का बोध कराता है।

क्रोचे की इस प्रवृत्ति की ओर अनेक आलोचकों का ध्यान गया है। 'ए शार्ट हिस्ट्री आव लिट्रेरि क्रिटिसिज्म' के लेखकों— विमसाट और ब्रुक्स ने लिखा है कि 'क्रोचे की (सौन्दर्य) प्रणाली का एक पहलू, साधारणतः भिन्न समझे जाने वाले पदों (Terms) को समान अर्थ में प्रयुक्त करने की उसकी एक बलवती प्रवृत्ति है, जिसने उसके आलोचकों को कुछ शिकायतों के लिए उत्तेजित किया है।'[१५८]

क्रोचे के एक इटैलियन आलोचक श्री जी० पेपिनि (G. Papini) का कहना है कि "क्रोचे की सौन्दर्य प्रणाली 'कला' शब्द के कृत्रिम पर्यायों के एक अन्वेषण मात्र के समतुल्य है, जिसे संक्षेप में ठीक उसी रूप में इस सूत्र में प्रस्तुत किया जा सकता है : कला (Art) = प्रतिभान (Intuition) = कल्पना (Imagination) = भावना (Fancy) = सौन्दर्य (Beauty)। और यह ध्यातव्य है कि इन शब्दों को भेदों और छायाओं के साथ कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए, जिन्हें ये शब्द सामान्य अथवा वैज्ञानिक भाषा में प्रयुक्त होने पर साथ लिए रहते हैं। यहाँ थोड़ा भी ऐसा नहीं है। यहाँ प्रत्येक शब्द मात्र अक्षर-विन्यास में भिन्न है और निरपेक्ष रूप से पूर्णतः समान वस्तु (अर्थ) द्योतित कर रहा है।"[१५९]

क्रोचे का उक्त समीकरण निस्संदेह उसकी कल्पित सृष्टि है। यदि उसके ही 'शब्द' का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि उसका व्यक्तिगत प्रतिभान (Intuition) है, तार्किक या बौद्धिक ज्ञान अथवा सामान्य सत्य नहीं। आत्मवादी या भाववादी होने के कारण उसे भिन्न-भिन्न अर्थों में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले शब्दों को एक या समान अर्थ में प्रयुक्त करने में हिचक नहीं हुई। ऐसा करके उसने अनुपेक्षणीय वाग्वैचित्र्य की सृष्टि की है। उसके अभिव्यंजना सिद्धान्त में वाग्वैचित्र्य का यह एक स्पष्ट पहलू है। अतः शुक्ल जी द्वारा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी 'एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद' या 'भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' कहा जाना, वाच्यार्थतः न सही, किंतु लक्ष्यार्थतः संगत और तत्वतः उचित है।

आचार्य शुक्ल ने वाग्वैचित्र्य की प्रधानता को लक्ष्य कर अभिव्यञ्जनावाद को 'एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद' कहने के साथ ही साथ उसकी प्रमुख सामान्य प्रवृत्तियों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके मतानुसार वे प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

"(१) प्रस्तुत मार्मिक रूपविधान के प्रयत्न का त्याग और केवल अप्रस्तुत रूप विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

(२) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

(३) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम सम्बन्धी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

(४) 'अनन्त', 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

(५) काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात् बेल-बूटे और नक्काशी वाली हलकी धारणा।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।"[१६०]

आचार्य शुक्ल द्वारा अभिव्यंजनावाद की इतनी विस्तृत आलोचना पागल कुत्ते का अनावश्यक भूंकना नहीं अपितु भारतीय साहित्य के सजग प्रहरी का विरोधी तत्वों

पर आवश्यकता-प्रेरित प्रबल प्रहार है। निश्चय ही आज प्रहरी विजयी और स्वस्थ है, विरोधी पराजित और ध्वस्त। यदि अभिव्यंजनावाद की उक्त प्रवृत्तियाँ बंग भाषा के प्रसाद से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में न प्रकट हुईं होतीं तो निश्चय ही शुक्ल जी ने उसका उल्लेख ( या इतना विस्तृत उल्लेख ) न किया होता। ऐसा शुक्ल जी ने स्वयं बताया है।[१६१]

हिन्दी साहित्य पर पड़े अभिव्यंजनावाद के प्रभाव का सम्यक् निरूपण शुक्ल जी ने किया है। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्होंने हिन्दी कविता पर अभिव्यंजनावाद के प्रभाव का उल्लेख संक्षेप में किया है। उन्होंने लिखा है कि 'कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त हुई।'[१६२] और उनके अनुसार 'दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार रुक सा गया।'[१६३]

किन्तु अभिव्यंजनावाद के हिन्दी साहित्य पर पड़े प्रभावों का विस्तृत उल्लेख उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में किया है। वहाँ उन्होंने ऊपर बताई गई अभिव्यंजनावाद की छहों प्रवृत्तियों को क्रमशः निदर्शित किया है। प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान के त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान में ही प्रतिभा या कल्पना के प्रयोग की अभिव्यंजनावाद की पहली प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर उन्होंने लिखा— "अप्रस्तुत योजना पर ही अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति आजकल भी नई रंगत की कविताओं में भी दिखायी पड़ रही है। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे कवियों पर भी, जो जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न हैं, 'अभिव्यंजनावाद' से निकली हुई इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं-कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ जाता है, जैसे उनकी 'छाया' नाम की कविता में।"[१६४]

अभिव्यंजनावाद की दूसरी प्रवृत्ति वैलक्षण्य या वैचित्र्य के हिन्दी के काव्यक्षेत्र में पड़े अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के प्रभावों का उल्लेख उन्होंने किया है। अच्छे प्रभावों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि 'अभिव्यंजनावाद' के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की जो प्रवृत्ति हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आई। + + दूसरी अच्छी बात यह हुई है कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।'[१६५] बुरे प्रभावों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानने लगे हैं। जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के उद्‌घाटन द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं दिखाई दे रही है।'[१६६]

प्रबन्धकाव्यों की ओर से उदासीनता और विशेषतः प्रेमोद्गार पूर्ण प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य की अभिव्यंजनावाद की तीसरी प्रवृत्ति भी तत्कालीन हिन्दी साहित्य में सुस्पष्ट थी। जो प्रबन्धकाव्य लिखे भी गये, उनमें भी प्रगीतात्मकता ने प्रविष्ट होकर उन्हें क्षतिग्रस्त किया। शुक्ल जी ने स्व० मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' का उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है—'पर खेद है कि *एक बड़ा प्रबन्धकाव्य लिखने की इच्छा* उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अंगरेजी ढंग के फुटकल प्रगति काव्यों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी। इससे प्रबन्धकाव्य के अवयवों के जीवन की विविध दशाएँ सामने लाने वाले घटना-चक्र, वस्तु-वर्णन, संवाद और भाव व्यंजना के ठीक-ठीक परिमाण की व्यवस्था वे न रख सके। संवाद और भावव्यंजना, इन्हीं दो अवयवों की प्रधानता हो गई। दो सर्ग तो उर्मिला के वियोग की नाना दशाओं की व्यंजना में ही लग गए। कथा-प्रवाह या सम्बन्ध-निर्वाह बहुत कम पाया जाता है।'[१६७]

असीम, अनन्त ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की अभिव्यंजनावाद की चौथी प्रवृत्ति 'प्रसाद' आदि छायावादी कवियों में स्पष्ट थी। शुक्लजी ने इसे लक्ष्य कर कहा है कि 'वर्तमान काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में आध्यात्मिक शब्द भी बहुत से निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सचाई (Sincerity) की भी कम परवाह की जा रही है।'[१६८]

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात् बेलबूटे और नक्काशी वाली हलकी धारणा की अभिव्यंजनावाद की ५वीं प्रवृत्ति के प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—'यह देखकर खेद होता है कि इस हलकी धारणा का प्रचार बढ़ता जाता है। कारण यह है कि बड़े लोगों की ओर से भी बीच-बीच में इसे सहारा मिलता जाता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी इस धारणा का पूरा प्रभाव जान पड़ता है।'[१६९]

अभिव्यंजनावाद की छठवीं प्रवृत्ति समालोचना का हवाई होना तत्कालीन हिन्दी समालोचना में पर्याप्त मात्रा में प्रविष्ट हो चुकी थी। शुक्ल जी के शब्दों में "अर्थशून्य वागाडम्बर पहले बंगला की मासिक पत्रिकाओं में पहुँचकर और वहाँ से 'छलना', 'कुहकिनी', 'काकली' इत्यादि लेता हुआ हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में घोर रूप में प्रकट हुआ है।"[१७०] इसका किंचित् विशद उल्लेख 'साहित्य के विविध रूप' नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्कालीन हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में अभिव्यंजनावाद का व्यापक प्रभाव पड़ रहा था। समालोचना हवाई हो रही थी, विचारशीलता का ह्रास हो रहा था। संक्षेप में विदेशी साहित्यिक व्याधियाँ हमारे साहित्य को बुरी तरह ग्रस्त कर रही थीं, परिणामतः उसका स्वतन्त्र विकास अवरुद्ध हो रहा था। ऐसी दशा में योरोपीय अभिव्यंजनावाद की सूक्ष्म, गहन, विस्तृत एवं तात्विक समालोचना संक्रमणशील साहित्यिक ऐतिहासिक युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूलभूत आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति आचार्य शुक्ल ने की। इसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शुक्ल जी द्वारा सम्पन्न कार्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए, किन्तु वास्तव में हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने ऐसा नहीं किया, अपितु उन्होंने

अनावश्यक रूप से क्रोचे और कुन्तक के मूल सिद्धान्तों की तुलना द्वारा शुक्ल जी के मूल्यांकन का प्रयास किया। वस्तुतः क्रोचे और कुन्तक की तुलना का यह समस्त कार्य वैसा ही था, जैसे 'अत्याचारिता' को दृष्टि में रखकर किसी अत्याचारी को कोई व्यक्ति 'रावण' कह दे और सुनने वाले लोग कहने वाले के मन्तव्य को सर्वथा उपेक्षित कर उस व्यक्ति में सचमुच 'रावण' के सभी लक्षणों—दस शिरों आदि की खोज करने लगें और उस अत्याचारी व्यक्ति में उन्हें न पाकर कहने वाले को ही भला-बुरा कहने लगें।

यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास के विकास की अवस्था विशेष के परिप्रेक्ष्य में अनिवार्य आवश्यकतावश शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत की गई अभिव्यंजनावाद की विस्तृत तात्त्विक समालोचना का मूल्यांकन किया जाय तो कहना चाहिए कि उन्होंने एक कुशल एवं दूरदर्शी साहित्यिक युग-नायक की भाँति अंधानुकरण की प्रवृत्ति के कारण अस्वास्थ्यकर विदेशी साहित्यिक व्याधियों से ग्रस्त तत्कालीन हिन्दी साहित्य को उन व्याधियों से उबारने और उसके स्वस्थ विकास के लिए, उन व्याधियों के मूल और लक्षणों की लेखकों में विवेक बुद्धि जागृत कर, सुगम मार्ग प्रदर्शित किया।

### काव्य में बिम्ब विधान

'बिम्ब' शब्द अंग्रेजी शब्द 'इमेज' ( Image ) का हिन्दी पर्याय है।'[१७१] आचार्य शुक्ल ने भी 'बिम्ब' शब्द के आगे ( Images ) 'इमेज' शब्द को कोष्ठ के के भीतर प्रयुक्त किया है,[१७२] अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'इमेज' के पर्याय के ही रूप में किया है। हिन्दी में इसके लिए 'भाव-चित्र'[१७३] शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु बिम्ब शब्द ही अधिक प्रचलित है। पश्चिम का आधुनिक काव्य-शास्त्र 'इमेज-बिम्ब' को काव्य का अनिवार्य उपकरण मानता है, उपकरण ही नहीं वरन् काव्य क्रिया-कल्प की विधि का अनिवार्य अंग मानता है। कला की सर्जना वस्तुतः बिम्ब रचना का ही नाम है।[१७४] आचार्य शुक्ल का भी कुछ ऐसा ही मत है—'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है',[१७५] 'कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता',[१७६] 'काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्तभावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं'[१७७] आदि उक्तियाँ इस बात को अक्षरशः प्रमाणित करती हैं।

### बिम्ब का अर्थ

शार्टर आक्सफ़र्ड डिक्शनरी के अनुसार 'इमेज' का अर्थ है—'किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति'। 'चेम्बर्स ट्वेंटिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी के अनुसार इमेज का अर्थ है 'कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य है।' काव्य के सन्दर्भ में 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'काव्य-बिम्ब के पारिभाषिक प्रयोग में

बिम्ब ( Image ) का मूल अर्थ प्रायः सुरक्षित रहता है।' विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न शब्दों में काव्य-बिम्ब की परिभाषाएँ दी हैं—

(क) अपने सरलतम रूप में यह (बिम्ब) शब्दों के माध्यम से निर्मित एक चित्र है।[१७८]

(ख) काव्य-बिम्ब एक भावगर्भित शब्द चित्र है।[१७९]

(ग) बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।[१८०]

(घ) बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्‌बुद्ध हो जाता है।[१८१]

आचार्य शुक्ल ने न तो बिम्ब की परिभाषा दी है और न उसका अर्थ ही स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट किया है, किन्तु फिर भी उनके विवेचन से बिम्ब का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह प्रस्तुत रूप से तत्वतः अभिन्न ही कहा जायगा। उनका मत है कि किसी वर्णन में आयी हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है। —बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण।'[१८२] जब किसी शब्द से उसके द्वारा सूच्य वस्तु की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे, तब वह बिम्ब ग्रहण होगा और यदि कोई चित्र उपस्थित न हो तो वह अर्थग्रहण मात्र होगा।[१८३] स्पष्ट है कि शुक्लजी के मन में बिम्ब का वही बिम्ब है, जो उपर्युक्त विद्वानों के मन में है। काव्य-बिम्ब के बारे में भी उनका यही दृष्टिकोण है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है, जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्ब-ग्रहण होता है अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है।'[१८४]

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का मत है कि 'वह (बिम्ब-सिद्धांत) लक्षणा और व्यंजना शक्ति के स्थान पर केवल अभिधा की सहायता से ही सौंदर्य-सृष्टि का समर्थन करता है।' आचार्य शुक्ल का भी मत कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है कि "यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है।"

बिम्ब के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने एक महत्वपूर्ण बात यह बतायी है कि 'बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।'[१८५] सामान्य या जाति की तो मूर्तभावना हो ही नहीं सकती।'[१८६] उन्होंने स्वयं यह भी स्पष्ट किया है कि उनके इस बिम्ब सिद्धान्त का रस-सिद्धान्तगत साधारणीकरण से कोई विरोध नहीं है। इसका सतर्क विवेचन रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत साधारणीकरण के संदर्भ में किया गया है।

### बिम्ब का विषय

शुक्ल जी केवल गोचर और मूर्त को ही बिम्ब का मूल विषय मानते हैं, अगोचर और अमूर्त को नहीं। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि 'बिम्बग्रहण निर्दिष्ट

गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है ।[१८७] इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है कि 'बिम्ब का मूल विषय मूर्त और अमूर्त व दोनों प्रकार का हो सकता है अर्थात् पदार्थ का भी बिम्ब हो सकता है और गुण का भी ।'[१८८] आपाततः यही मत उचित प्रतीत होता है, किन्तु तत्वतः आचार्य शुक्ल का ही मत सही है; क्योंकि अमूर्त का बिम्बग्रहण अमूर्त पर मूर्त के आरोप द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं ।

### काव्य-बिम्ब का प्रेरक तत्त्व

काव्य बिम्ब का प्रेरक तत्व है भाव । भाव के संस्पर्श के बिना काव्य बिम्ब का अस्तित्व सम्भव नहीं है । लीविस ने उसे अनिवार्य माना है और ठीक ही माना है ।'[१८९] आचार्य शुक्ल ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में काव्य-बिम्ब के प्रेरक के रूप में भाव का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उन्होंने भाव को 'कल्पना का मूल प्रेरक तत्त्व'[१९०] अवश्य स्वीकार किया है, जिसके आधार पर उसे ही काव्य-बिम्ब का भी प्रेरक तत्त्व कहा जा सकता है । उन्होंने अलंकार, प्रतीक, वक्रोक्ति आदि से बिम्ब के सम्बन्ध एवं अन्तर का विवेचन एवं स्पष्टीकरण भी नहीं किया है और न उसका वर्गीकरण ही किया है—यह उसका एक अभावात्मक पहलू है ।

### काव्य में प्रतीक योजना

प्रतीक रूप में वस्तुओं का व्यवहार अच्छी कविता में बराबर होता आया है ।[१९१] शुक्ल जी का मत है कि प्रतीकों की सहायता से काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि होती है ।'[१९२] किन्तु ध्यातव्य है कि काव्य में प्रतीकों के सर्व-सम्मत सामान्य व्यवहार को ही वे उचित और उपयुक्त मानते हैं, वे उसे 'वाद' के रूप में नहीं स्वीकार करते ।[१९३] उनकी स्पष्ट धारणा है कि "जब कोई बात 'वाद' के रूप में किसी सम्प्रदाय विशेष के भीतर ग्रहण की जाती है तब वह बहुत दूर तक घसीटी जाती है इतनी दूर तक कि वह सब के काम की नहीं रह जाती—और उसे कुछ विलक्षणता प्रदान की जाती है ।"[१९४] अपनी इसी धारणा के अनुसार उन्होंने सन् १८८५ में योरप में रहस्य-वाद को लेकर उठे हुए 'प्रतीकवाद' की आलोचना की है ।

शुक्ल जी ने प्रतीक की परिभाषा नहीं दी है, फिर भी उसका स्वरूप उनके विवेचन से कुछ-कुछ झलकता है । उन्होंने लिखा है कि 'किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं ।'[१९५] स्पष्ट है कि प्रतीक का कार्य किसी विशेष मनोविकार या भावना को जाग्रत करना होता है । शुक्ल जी का स्पष्ट वैज्ञानिक मत है कि प्रतीक के रूप में गृहीत वस्तुओं में भावों के उद्बोधन की शक्ति 'कुछ तो उन वस्तुओं के स्व-रूपगत आकर्षक से, कुछ चिर-परिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से आती है ।[१९६] उन्होंने 'उपमान' और 'प्रतीक' के

अन्तर को भी स्पष्ट किया है—उनकी दृष्टि में 'उपमान' और 'प्रतीक' दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं। उनका कहना है, कि अलंकार में 'उपमान' का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते।'[१९७]

'प्रतीक' नवीन भी हो सकते हैं और परम्परागत भी। किन्तु परम्परागत प्रतीकों को ही शुक्ल जी काव्य के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं।'[१९८] परम्परागत प्रतीकों को उन्होंने सिद्ध प्रतीक कहा है। सिद्ध प्रतीकों के नाम मात्र हमारे हृदय में कुछ बँधी हुई भावनाओं का उद्बोधन करते हैं। फारसी की शायरी में बुलबुल, शमा-परवाना, शराब-प्याला आदि सिद्ध प्रतीक हैं।[१९९] 'भाव' और 'विचार' में वैभिन्न्य के दृष्टिकोण से प्रतीकों का वर्गीकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि 'प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते हैं (Emotional symbols) और कुछ भावनाओं या विचारों को (Intellectual symbols)।'[२००] साथ ही उन्होंने यह भी निर्दिष्ट कर दिया है कि 'भावना या कल्पना जगाने वाले प्रतीकों के साथ भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।'[२०१]

शुक्ल जी का मत है कि 'प्रतीक' देश-विशेष की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार होते हैं। उन्होंने लिखा है—"यह तो प्रत्यक्ष है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। 'गुल-बुलबुल' से जिस भावना का संकेत फ़ारस वाले को मिलता है उस भावना का संकेत भारतवासी को नहीं। 'चातक' से जिस भावना का संकेत भारतवासी को मिलता है उस भावना का संकेत योरपीय को नहीं।"[२०२]

काव्य सिद्धांतों में प्रतीक सिद्धान्त का महत्व काव्य के प्रत्येक अध्येता के लिए सुस्पष्ट है। आधुनिक युग में तो काव्य के सम्यक् अनुशीलन के लिए इसका अध्ययन अनिवार्य कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने न तो 'प्रतीक' शब्द का अर्थ ही बताया है और न उसकी परिभाषा ही दी है जिसके कारण प्रतीक का न तो स्वरूप ही स्पष्ट हुआ है और न प्रतीक सिद्धान्त ही। हिन्दी के शब्द-कोषों में इसके अनेक अर्थ मिलते हैं, जैसे चिह्न, लक्षण, आकृति, किसी के स्थान पर या बदले में रखी हुई वस्तु।'[२०३] प्रतीक को अंग्रेजी में सिम्बल (Symbol) कहते हैं जो निम्नांकित अर्थों में प्रचलित है।[२०४]

(क) प्रतीक वह चिह्न होता है जिससे कोई वस्तु जानी जाती है।

(ख) स्वेच्छा से प्रयुक्त या परम्परागत संकेत।

(ग) जो किसी अन्य का प्रतिनिधित्व करता हो।

निश्चय ही इन अर्थों में एकता का अभाव है अतः प्रतीक का स्वरूप धुंधला ही रह जाता है। अनेक विद्वानों ने 'प्रतीक' को परिभाषित किया है।

(क) 'प्रतीक सूच्य का प्रतिनिधि होता है।'[२०५] (डबल्यु० एम० अर्बन)

(ख) 'एक विशेष प्रकार का संकेतात्मक शब्द प्रतीक है।'[२०६] (शिप्ले)

(ग) प्रतीक वह विशेष संकेत-चिह्न होता है जिसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ के प्रतिनिधित्व के लिए होता है ।'[२०७] (डा० गणपतिचन्द्र गुप्त)

इन परिभाषाओं से यह भली भाँति स्पष्ट है कि 'प्रतीक' 'चिह्न' से भिन्न वस्तु है । कुछ विद्वान् 'प्रतीक' और चिह्न को एक ही मानते हैं और प्रत्येक शब्द को प्रतीक घोषित करते हैं,[२०८] किन्तु यह एक भ्रान्ति है । प्रतीक और चिह्न की भिन्नता एक उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है ।

'प्रकाश' को 'ज्ञान' के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । 'प्रकाश' शब्द भी परम्परया एक विशेष तत्त्व का चिह्न है और 'ज्ञान' शब्द भी परम्परया एक दूसरे विशेष तत्त्व का चिह्न है । जब 'प्रकाश' शब्द को उस तत्त्व विशेष के चिह्न के रूप प्रयुक्त किया जाता है जिसके लिए परम्परा 'ज्ञान' शब्द को प्रयुक्त किया जाता है, तब उसे ज्ञान का प्रतीक कहा जाता है । जब प्रकाश शब्द 'प्रकाश' की ही सूचना के लिए प्रयुक्त होता है, तब वह प्रतीक नहीं कहलाता । 'प्रतीक' और 'चिह्न' का यह अन्तर उपेक्षित नहीं किया जा सकता । आचार्य शुक्ल के विवेचन में इस अन्तर का स्पष्टीकरण नहीं हो सका है—यह उसकी सीमा है, किन्तु उन्होंने प्रतीक और उपमान के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्हें दो भिन्न वस्तुएँ माना है—यह उनकी सूक्ष्म समालोचना दृष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण है । जहाँ तक प्रतीक योजना के लक्ष्य या कार्य का प्रश्न है, विद्वानों ने विचार की व्याख्या करना, उसे स्वीकार्य बनाना, उसे आवृत करना, उसे अनुभूति-गम्य बनाना, विषय को अलंकृत करना, आदि[२०९] बताया है । शुक्ल जी ने किसी विशेष मनोविकार या भावना को जाग्रत करना प्रतीक योजना का लक्ष्य माना है जो उपर्युक्त लक्ष्यों के अनुरूप ही है । उनकी प्रतीकों के आन्तरिक चरित्र की समझ कितनी गहरी थी, इसका पता उनके इस कथन मात्र से चल जाता है कि 'भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं ।'[२१०]

### प्रकृति-चित्रण का सिद्धान्त

प्राचीन आचार्यों की रसदृष्टि परिमित थी । उन्होंने काव्य में वर्णित अनुभूतियों में रसात्मकता स्वीकार की, किन्तु लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों में नहीं । डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है कि 'यद्यपि जीवन के अनेक व्यापारों में हम नित्य ही नीरसता और सरसता का अनुभव करते रहते हैं, फिर भी भाववादी विचारकों ने रस को साहित्य तक सीमित करके उसे जीवन में अनुभूत रस से एकदम अलग कर दिया था ।'[२११] किन्तु 'शुक्ल जी जीवन और साहित्य के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं मानते, इसलिए वे रस को भी अलौकिक नहीं मानते । इतना ही नहीं, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग जीवन में भी मानते हैं ।'[२१२] वे न केवल काव्यगत यथा-तथ्य संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण द्वारा ही प्रत्युत प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा भी रसबोध स्वीकार करते हैं । वे अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देखकर होने वाली मधुर भावना के अनुभव को रसात्मक मानते हैं और इस दशा को रसदशा

ही कहते हैं।'[२१३] उन्होंने प्राकृतिक दृश्य को विश्वकाव्य का एक पृष्ठ और उसके दर्शन को पठन कहा है।[२१४] उनकी दृष्टि में यह विश्व अनन्त दृश्य काव्य के रूप में है। अतः जो विश्वरूप अनन्त दृश्य काव्य के दृश्यरूप पृष्ठ के दर्शन रूप पठन से रस-दशा को नहीं पहुँचते, शुक्ल जी की दृष्टि में उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्नकोटि का होता है।'[२१५] प्राचीन भाववादी आचार्यों और शुक्ल जी की रसदृष्टि का यही मौलिक अन्तर उनकी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओं की पृथकता का मूल कारण है।

प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप में माना है, रत्यादि भावों के आलम्बन के रूप में नहीं। उनकी दृष्टि में 'वन, उपवन, ऋतु आदि श्रृङ्गार के उद्दीपन मात्र हैं, वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं।'[२१६] आचार्य शुक्ल इस धारणा से सहमत नहीं। उन्होंने अपनी लोकव्यापी रसदृष्टि के अनुसार प्रकृति को आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने ही पहली बार यह घोषणा की कि भाव का विषय या आलम्बन 'मनुष्य से लेकर कीट, पतग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है।'[२१७] यह भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक क्रांतिकारी घोषणा थी।

शुक्ल जी के मतानुसार प्रकृति 'अंग' और 'स्वतन्त्र' दोनों ही रूपों में हमारे भाव का आलम्बन होती है। जहाँ वह सीधे हमारे किसी भाव का विषय नहीं होती, वहाँ वह हमारे आलम्बन की परिस्थिति चित्रित करती है, जिसके बिना आश्रय और आलम्बन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। किसी भी परिस्थिति हीन चित्रण की अपेक्षा सपरिस्थिति चित्रण में हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत आलंबन रहता है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलम्बन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलम्बन है।[२१८] किन्तु शुक्ल जी का कथन है कि 'प्राकृतिक वर्णन केवल अंग रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं है, स्वतन्त्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन का काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है।'[२१९] इस उद्धरण से प्रकट है कि शुक्ल जी न केवल अंग रूप में अपितु स्वतन्त्र रूप में भी प्रकृति को भावों के आलम्बन के रूप में स्वीकार करते हैं।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भावों के स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रकृति को स्वीकार करने का आधार क्या है? निस्संदेह शुक्ल जी की इस स्वीकृति के पीछे लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों का ठोस भौतिक आधार विद्यमान है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है : 'जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम घूम कर बहते हुए स्वच्छन्द नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों

से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रसदशा नहीं तो क्या है ?'[२२०] निस्संदेह यहाँ उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में रसात्मकता मानी है। उनका सुदृढ़ मत है कि प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन से हर्ष होता है,[२२१] यह असंदिग्ध है। हर्ष एक संचारी भाव है।'[२२२] इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रतिभाव वर्तमान है और वह रति भाव उन दृश्यों के प्रति है।'[२२३] इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति स्वतन्त्र रूप से हमारे भावों का आलम्बन होती है।

प्रत्यक्ष लौकिक जीवन में प्रकृति हमारे भावों का स्वतन्त्र रूप से आलम्बन क्यों होती है ? इसका विस्तृत विवेचन आचार्य शुक्ल ने किया है। उनकी दृष्टि में इसका प्रमुख कारण साहचर्य-जन्य वासना या संस्कार है। उन्होंने लिखा है—'जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है।'[२२४] पूर्वजों की दीर्घ परम्परागत जन्मगत वासना या संस्कार के अतिरिक्त जीवन में मनुष्य बहुत से संस्कार प्राप्त करता है।'[२२५] इतिहास, पुराण एवं लोक कथाओं के पठन एवं श्रवण के द्वारा अनेक प्राकृतिक, भूखण्ड, इतिहास-प्रसिद्ध स्थान इत्यादि के प्रति हमारे अन्तःकरण में एक विशेष भाव प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कारण है कि 'वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं।[२२६]

प्रकृति के प्रेम को आचार्य शुक्ल ने 'देश-प्रेम' से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध करके देखा है। उनकी दृष्टि में देश-प्रेम का आलम्बन सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि है।[२२७] देश-प्रेम भी साहचर्यगत प्रेम होता है। जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है।[२२८] शुक्ल जी की दृष्टि में देश-प्रेम पर्याप्त सीमा तक देश की प्रकृति से प्रेम पर निर्भर करता है। वे कहते हैं कि 'जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों ! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ?[२२९]

इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति के प्रति प्रेम देश-प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक अंग है। उनकी दृष्टि में प्रकृति के प्रति प्रेम मनुष्य का स्वभाव है, उसका अभाव ही स्वभाव के प्रतिकूल है। वे कहते हैं कि 'पशु और बालक

भी जिसके साथ अधिक रहते हैं उनमें परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता।'[२३०] अतः चिर परिचय एवं साहचर्य के कारण प्रकृति हमारे भावों का स्वतन्त्र आलम्बन ठहरती है। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप से हमारे भावों का आलम्बन सिद्ध हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रकृति अपने साधारण एवं असाधारण, कोमल और कठोर, सुन्दर और असुन्दर, दोनों रूपों में हमारे भावों का आलम्बन होती है अथवा किसी एक रूप में ? शुक्ल जी के मतानुसार दोनों रूपों में। उनकी दृष्टि में प्रकृति के—सुन्दर और असुन्दर, कोमल और कठोर, साधारण एवं असाधारण दोनों ही रूपों में आकर्षित करने वाली बात होती है। कारण यह कि प्रेम केवल रूप-सौन्दर्य गत ही नहीं, साह-चर्यगत भी होता है। उनका कथन है कि साहचर्यगत प्रेम को रूप सौन्दर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता। वह सच्चा स्वाभाविक और हेतु ज्ञानशून्य होता है।[२३१] उनका आग्रह है कि प्रकृति के सुन्दर और असुन्दर दोनों रूपों के प्रति आकर्षित हुआ जाय। वे कहते हैं—'कंकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल-करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करने वाली कोई बात नहीं होती। जो फारस की चाल के बगीचों के गोल चौखूंटे कटाव, सीधी-सीधी रविशें, मेंहदी के बने भद्दे हाथी घोड़े, काट-छाँट कर सुडौल किए हुए सरों के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह-वाह करना जानते हैं, उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा, जैसा सज्जनों को खलों का।[२३२]

शुक्ल जी ने असाधारण एवं साधारण के समन्वय का अपना यह सिद्धान्त कि "साधारण असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजना-प्रणाली के असाधारणत्व ही में काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।"[२३३] प्रकृति-वर्णन के सन्दर्भ में ही प्रतिपादित किया है। उनका स्पष्ट मत है कि 'स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ा-घाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते, अधिकांश तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से लोग आतशबाजी, जलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है।'[२३४]

इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में 'केवल असाधारणत्व दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ-साथ जिसमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं।'[२३५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्रौढ़ आधार पर आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष लौकिक जीवन में प्रकृति को अपने सुन्दर-असुन्दर, साधारण-असाधारण, कोमल कठोर दोनों रूपों में भावों का आलम्बन स्वीकार करते हुए उसके प्रत्यक्ष दर्शन को रसात्मक माना है और इसी रूप में उसे उन्होंने काव्य में भी प्रतिष्ठित किया अर्थात् अपने दोनों पक्षों के साथ स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में।

शुक्ल जी आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानते हैं।[२३६] इसी आधार पर उनका कथन है कि "जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द-चित्र यदि कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ, दिखावे। × × ×

× × ×

इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य वर्णन मात्र को चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करें हम काव्य कह सकते हैं।'[२३७]

यह ध्यातव्य है कि काव्य के क्षेत्र में सैद्धान्तिक स्तर पर आलम्बन के रूप में प्रकृति को प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा शुक्ल जी को वस्तुतः संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास, भावमूर्ति भवभूति और अंग्रेजी के विख्यात कवि वर्ड्सवर्थ से मिली। इन्होंने अपनी कृतियों में आलम्बन के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है। इनके काव्य-ग्रन्थों में उपलब्ध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों के अवलोकन और परीक्षण से स्वयं आचार्य शुक्ल ने यह प्रमाणित कर दिया है।[२३८] अतः आश्चर्य की बात यही है कि इन प्रत्यक्ष आधारों पर तत्कालीन साहित्याचार्यों की दृष्टि नहीं गई और उन्होंने साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। आचार्य शुक्ल ने इन आधारों की उपेक्षा न कर प्राचीन आचार्यों की त्रुटि सुधारी और सर्वप्रथम आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन को सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय मान्यता दी। यह भी ध्यातव्य है कि शुक्ल जी की प्रकृति के कोमल और कठोर, सुन्दर और असुन्दर, साधारण और असाधारण दोनों पक्षों के समन्वय की दृष्टि भी इन्हीं कवियों का आदर्श रूप में स्वीकृति स्वरूप है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि—

(क) 'वाल्मीकि ने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरंद पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया, रंगुदी, अंकोट, तेन्दू, बबूल, बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है।'[२३९]

(ख) 'कालिदास ने भी वन-श्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक-एक ब्योरे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड़ खण्डहरों का भी ऐसा ही वर्णन किया है।'[२४०]

काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के स्वतन्त्र आलम्बन सिद्ध हो जाने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके वर्णन में कौन-सा रस होता है ? डॉ० रामलाल सिंह के मतानुसार 'यह रस एक प्रकार का शृंगार ही है ।'[२४१] किन्तु डॉ० सिंह का यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता । उनका यह मत सम्भवत: शुक्ल जी के निम्नांकित कथन पर आधारित है—'वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं. उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान हैं ।'[२४२]

यह सत्य है कि प्राकृतिक दृश्य प्राय: रतिभाव के ही आलम्बन होते हैं, किंतु फिर भी ऐसा नहीं कि वे दूसरे भावों के आलम्बन होते ही नहीं । वे हमारे अन्य भावों के भी आलम्बन हो सकते हैं । अत: उनके वर्णन में भावों की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति हो सकती है, जैसा कि शुक्ल जी के निम्न कथन से भी प्रकट होता है—'जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है ? जो-जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है, क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है ।'[२४३] स्पष्ट है कि यहाँ प्राकृतिक दृश्यों को किसी 'भाव' विशेष का आलम्बन न कहकर उन्हें भावों का आलम्बन कहा है । अत: भिन्न-भिन्न भावों के आलम्बन होने के कारण उनके वर्णनों में भिन्न-भिन्न रस अनिवार्यत: होंगे । बात सच भी है, क्योंकि बाढ़ आदि के भयंकर दृश्य हमारे 'भय' का आलम्बन होने के कारण भयानक रस के अभिव्यंजक होते हैं, शृंगार के नहीं ।

शुक्ल जी ने पुरातन प्रकृति-व्यापारों और समुन्नत बुद्धिजन्य नवीन व्यापारों की तुलना भी भावों को तल्लीन करने की क्षमता के आधार पर की है । उनकी दृष्टि में मनुष्य की समुन्नत बुद्धि के परिणाम-रूप नवीन व्यापारों में प्राचीन प्राकृतिक व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति नहीं होती ।[२४४] तात्पर्य यह कि प्राचीन प्राकृतिक व्यापारों में समुन्नत बुद्धिजन्य नवीन व्यापारों की अपेक्षा हमारी वृत्तियों को तल्लीन करने की शक्ति अधिक होती है । उनका स्पष्ट कथन है कि 'पुतली घर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है ।'[२४५]

अभी तक हमने शुक्ल जी के अभिमत को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जब हम उसकी समीक्षा का प्रयास करेंगे । प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा रस-बोध सिद्ध हो जाने पर काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा रस-बोध स्वत: सिद्ध हो जाता है । प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति की प्रक्रिया के अन्तर्गत 'प्रकृति' प्रायेण दर्शक के 'रतिभाव' का आलम्बन होती है । जब काव्य में उसका यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण होगा तब भी वह कवि के रति भाव का आलम्बन रहेगी, क्योंकि उसके प्रति अपने रतिभाव के कारण ही वह (कवि) उसका वर्णन करता है । यहाँ कवि ही भाव का आश्रय होता है, और जब पाठक या श्रोता इसे पढ़े या सुनेगा तो उसके लिए भी

वह आलम्बन ही रहेगी, तब भाव का आश्रय कवि की भाँति वह स्वयं होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शक, कवि, पाठक और श्रोता सभी की दृष्टि से प्रकृति आलम्बन ठहरती है।

प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार करने में कुछ आपत्तियाँ की जाती हैं, जिनका विचार आवश्यक है। कुछ लोगों का कहना है कि साहित्य शास्त्रों में प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही गृहीत है, आलम्बन के रूप में नहीं, अत: उसे आलम्बन के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं। वस्तुत: यह तर्क तत्त्वहीन और 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' का द्योतक है, क्योंकि साहित्य के शास्त्रपक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं।[२४६] वास्तव में लक्षण ग्रन्थों का निर्माण काव्य ग्रन्थों के ही आधार पर होता है। अत: उसके निर्माण में त्रुटियों की सम्भावनाएँ होती हैं, विश्लेषण और व्याख्या में भूल होने से सारा मामला गड़बड़ा जाता है। शुक्ल जी ने शास्त्र की इस भूल की ओर संकेत किया है। संस्कृत साहित्य के काव्य-ग्रन्थों में आलम्बन के रूप में प्रकृति को ग्रहण किया गया है, किन्तु लक्षण ग्रन्थों में उसे उद्दीपन मात्र माना गया है। शास्त्रकारों की भूलों का सुधार ही काव्य-रचना के विकास के लिए हितकर हो सकता है, उसका अन्धानुगमन नहीं। अत: मात्र इसलिए कि साहित्य-शास्त्रों मे प्रकृति को आलम्बन के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है, उसे आलम्बन के रूप में ग्रहण करने से इन्कार करना उचित नहीं।

कुछ लोगों का कथन है कि आलम्बन को चेतनायुक्त या सजीव होना चाहिए जिससे वह आश्रय के भावों को ग्रहण कर सके। उनकी दृष्टि में प्रकृति जड़ है अत रसानुभूति सम्भव नहीं।

किन्तु रसानुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आलम्बन आश्रय के भावों का ग्रहण कर सके। उसके लिए तो मात्र इतना ही आवश्यक है कि आलम्बन आश्रय के मन में वासना या संस्कार रूप में संस्थित भाव को जाग्रत कर दे। यह बात व्यावहारिक जीवन से सत्य है। शुक्लजी ने अनेक उदाहरणों से सारी स्थिति भली भाँति स्पष्ट कर दी है। आधुनिक युग में तो यह बात और भी सच है, विशेषकर शोषण पर आधारित देशों में। पूँजीपतियों के प्रेम (या लोभ) का जितना प्रबल आलम्बन उनकी लोहे की मशीन, कल-कारखाने और उनके द्वारा होने वाला मुनाफा होता है, उतना आलम्बन एक या दो जीव की तो बात ही क्या हजारों और लाखों मजदूर नहीं बन पाते। वे उलटे शोषण के शिकार होते हैं। अत: स्पष्ट है कि आलम्बन परिस्थिति सापेक्ष होता है। आलम्बनत्व परिस्थिति निरपेक्ष होता तो एक वस्तु के प्रति जो भाव एक समय मन में जगता वही भाव अपरिवर्तित रूप में सदा बना रहता, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं होता। हम एक समय यदि किसी से प्रेम करते हैं तो कोई क्षण ऐसा भी आ सकता है या आता है कि हम उससे घृणा भी करने लगते हैं। यही है आलम्बनत्व की परिस्थिति सापेक्षता। ऐसे समाज में जिसमें सारे उत्पादन के साधन, सारी सम्पत्ति, सुख और सौन्दर्य के साधन तथा सुख और सौन्दर्य मुट्ठी भर कुबेरों की मुट्ठियों में कैद

हों, वहाँ तो प्रकृति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि वनों, नदियों और पहाड़ों, सूरज-चाँद-सितारों पर अभी एक सीमा तक सार्वजनिक अधिकार है, 'टाटा या बिड़ला' का नहीं। ऐसे सार्वजनिक उद्यानों या अन्य स्थानों पर जाकर हम अधिक रसानुभूति करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। आकाश में छिटके हुए तारों को देखकर हम खुश होते हैं—हमें हमारा मालिक ऐसा करने से नहीं रोक सकता, न हमारी तनख्वाह ही वह इस बात पर काट सकता है। वायु के तरल झोंके का सेवन कर हमारा मन नाचेगा ही, भले ही हम जहाँ काम करते हैं वहाँ बिजली के पंखे का प्रवन्ध हो या नहीं। हमें ऐसी सार्वजनिक जगहों में मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य एवं सन्तुलन का लाभ होता है, हमें शक्ति मिलती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हम पिछड़े हैं या हम पीछे लौट जाना चाहते हैं या हम मशीन-विरोधी और विज्ञान विरोधी हैं, तात्पर्य केवल इतना है कि इन पर से एकाधिकार जब तक खत्म नहीं होगा तब तक उनके प्रति हमारी दृष्टि में परिवर्तन नहीं आयेगा। साथ ही वैयक्तिक स्वामित्व के अभाव के कारण प्रकृति सदा साधारणीकृत रूप में रहती है। अतः उसके द्वारा रसानुभूति स्वाभाविक और उचित है।

भारतीय रस-मीमांसा की दृष्टि से भी शुक्ल जी के पक्ष में यह बात कही जा सकती है कि वीभत्स रस मे घृणा का आलम्बन जड़ भी होता है और उसके द्वारा रसानुभूति होती है अतः जड़त्व के आधार पर प्रकृति को भी आलम्बनत्व से च्युत नहीं किया जा सकता। किन्तु इससे भी प्रबल तर्क शुक्ल जी ने स्वयं प्रस्तुत किया है, जिसका खण्डन नहीं किया जा सका है। जब प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा रस-दशा उत्पन्न हो सकती है, तो काव्यगत यथातथ्य प्रकृति-चित्रण से रसानुभूति होगी ही और प्रकृति आलम्बन होगी ही।

इस सम्बन्ध में श्री शिवनाथ जी का कथन है कि 'काव्य के क्षेत्र में वस्तुतः जड़ मानी जाने वाली प्रकृति भी जड़ के रूप में नहीं गृहीत होती। प्रकृति पर भावनाओं का आरोप कर कवि-गण उसे सजीव बना देते हैं। अतः आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित यह मत कि प्रकृति-दर्शन और वर्णन में रसात्मक बोध की क्षमता है, विचार करने पर ठीक उतरता है।'[२४७]

किन्तु शिवनाथ जी का तर्क ठीक नहीं लगता, क्योंकि काव्य में प्रकृति का यथातथ्य वर्णन अपनी भावनाओं के आरोप के बिना भी संभव है। तब इस तर्क के आधार पर वहाँ प्रकृति हमारे भाव का आलम्बन न हो सकेगी, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। स्वयं शुक्ल जी का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि 'पेड़ों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं, अहंकार-वश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।'[२४८] स्पष्ट है कि शुक्ल जी इस पक्ष में नहीं हैं कि कवि-गण प्रकृति पर अपनी भावनाओं का आरोप करके ही उसे देखें, वे उसे उसके अपने यथातथ्य रूप में देखे जाने के पक्ष में हैं। अतः शुक्ल जी की बात को श्री शिवनाथ ने सिद्ध करके भी असिद्ध ही छोड़ दिया

है। शुक्ल जी जिसे नहीं स्वीकार करते हैं, उसे श्री शिवनाथ जी ने अपनी ओर से स्वीकार करने के पश्चात्, उसकी वकालत की थी। आचार्य शुक्ल प्रकृति को यथातथ्य रूप में ही स्वीकार करते हुए उसे काव्यालम्बन मानते हैं। वे शिवनाथ जी की तरह उसे पहले अपनी भावनाओं के आरोप से सजीव बनाने के पश्चात् भावालम्बन के रूप में नहीं प्रतिष्ठित करते।

एक और दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। अभी तक काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत प्रकृति को जड़ और निर्जीव तथा मनुष्य को चेतन और सजीव मानकर विचार-विमर्श किया जाता रहा है, किन्तु विज्ञान की प्रकृति विषयक उपलब्धियों को साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट कराना चाहिए। जहाँ तक जड़ता का प्रश्न है, प्रकृति जड़ नहीं आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में वह गतिशील है। वह निर्जीव भी नहीं कही जा सकती, पेड़ और पौधे सभी अनुभूतियों से सम्पन्न माने जाते हैं। जब यह अन्तर, जड़ता और चेतनता का सजीवता और निर्जीवता का समाप्त हो जाता है तब तो अपने आप आलोचकों द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ भी शून्य में विलीन हो जाती हैं। विज्ञान के अनुसार न केवल मनुष्य प्रकृति से प्रसन्न और दुःखी होता है, बल्कि प्रकृति भी मनुष्य के सम्पर्क से विविध अनुभूतियाँ करती हैं।

इस विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का काव्य में प्रकृति को मात्र भावोत्तेजक अथवा भावोद्दीपक रूप में न स्वीकार कर, आलम्बन के रूप में भी प्रतिष्ठित करना सर्वथा उचित और साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।

आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण और रस-प्रक्रिया

प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण करने पर रस-प्रक्रिया की दृष्टि से एक समस्या उठती है। 'विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अनुसार रसानुभूति के लिए विभावपक्ष—आश्रय और आलम्बन, अनुभाव और संचारी भावों के पूरे चित्रण की आवश्यकता साहित्यशास्त्र में उल्लिखित है तब केवल आलम्बन के चित्रण द्वारा रसानुभूति कैसे होगी ?

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रकृति को लेकर विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना भी हो सकती है पर मैं आलम्बन मात्र के विशद् वर्णन को श्रोता में रसानुभाव (भावानुभाव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।'[२४९]

विचार-विश्लेषण पूर्वक देखने पर यह पता चलता है कि आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन के अवसर पर स्वयं कवि अपने को आश्रय के रूप में स्थित रखता है और रचना के अनन्तर पढ़ते या सुनते समय पाठक या श्रोता या तो स्वयं आश्रय बन जाता है या आश्रय की कल्पना कर लेता है, अतः दोनों ही अवसरों पर आश्रय का अभाव नहीं रह जाता है, अतः शुक्ल जी की उक्त स्थापना संगत है।

शुक्ल जी का प्रकृति-वर्णन सिद्धान्त उनकी लोकव्यापी रसदृष्टि का सहज परिणमन है। जिस प्रकार उन्होंने 'प्रत्यक्ष रूप-विधान' के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण को कुछ विशिष्ट दशाओं में रसात्मक माना उसी प्रकार काव्य के अन्तर्गत उन्हें आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। निश्चय ही उनका यह कार्य भारतीय साहित्य-शास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति है। यह क्रान्ति प्रतिक्रान्ति को पूर्णतः पराजित कर विजयी हुई है। आज शुक्ल जी का ही मत सर्वाधिक प्रभावशाली और मान्य है।

अधिकांश विद्वानों ने शुक्ल जी के प्रकृति-प्रेम की ही चर्चा की है, और ऐसा करके उन्होंने क्रान्तिकारी सिद्धान्त की आलोचना से अपनी जान बचा ली है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'यह बात कुछ दृढ़ता के साथ ही कही जा सकती है कि शुक्ल जी के समान प्रकृति-प्रेमी साहित्यिक बहुत कम ही हुए हैं। वे उन कवियों को एकदम पसन्द नहीं करते थे जो प्रकृति को शुद्ध रूप से तो देख नहीं सकते, केवल झूठे भावों का आरोप करके उसके रूप-माधुर्य को आच्छन्न करके ही हाय-हाय करते रहते हैं।'[२५०] उन्होंने शुक्ल जी की 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता भी उद्धृत की है।[२५१] डॉ० द्विवेदी का उक्त कथन सही है, किन्तु यह भी सही है कि उससे शुक्ल जी के स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित प्रकृति वर्णन सम्बन्धी सिद्धान्त के औचित्य अथवा अनौचित्य पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रकृति को स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में, भाव के विषय के रूप में स्वीकार कर लिया है और उसके वर्णन में रसात्मकता भी मान ली है। निम्न कथन प्रमाण हैं—

(क) 'आलम्बन रूप में वह (प्रकृति) भाव का विषय ही बन जाती है, कवि का और फिर पाठक का, सीधा उसके साथ ही रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है।'[२५२]

(ख) 'प्रकृति-काव्य में अभिव्यक्त या उसके द्वारा प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध यह भाव निश्चय ही आस्वाद्य होता है, + + + + और उसमें तन्मयीकरण की शक्ति भी निस्सन्देह होती है। इसलिए उसकी रसनीयता और उसी के आधार पर उसका रसत्व भी सिद्ध हो जाता है।'[२५३]

किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि—'हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अत्यंत प्रबल शब्दों में प्रकृति-रस की स्थापना की है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में रस की सत्ता मानी है।'[२५४]

ऊपर उद्धृत अंश का परार्ध वस्तु सत्य है, किन्तु पूर्वार्द्ध पूर्णतः असत्य। यह सही है कि शुक्ल जी ने प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में रस की सत्ता मानी है, किन्तु उन्होंने किसी नवीन रस के रूप में प्रकृति-रस की स्थापना कहीं भी नहीं की है।

डॉ० नगेन्द्र ने पहले यह कह कर कि आचार्य शुक्ल ने 'प्रकृति-रस' की स्थापना की है, बाद में उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का खंडन किया है। उन्होंने प्रकृति के विविध रूपों के प्रति उद्‌बुध होने वाले भावों को रति, विस्मय एवं भय में अन्तर्भुक्त किया है। उनका कथन इस प्रकार है—"काव्य में प्राय: प्रकृति के तीन प्रकार के चित्रण मिलते हैं—मधुर, विराट् और भयानक या रौद्र जिसमें प्रकृति के दाँत और पंजे मानव-रक्त से रंजित रहते हैं। स्वभावत: इन तीनों रूपों के प्रति पाठक की समान प्रतिक्रिया नहीं होती : मधुर रूप के प्रति उन्मुखी भाव या रतिभाव होता है, विराट् रूप के प्रति ओज एवं विस्मय तथा भयानक के प्रति भय का — और इन तीन अवस्थाओं में रस का स्वरूप भी स्थायी के अनुसार भिन्न-भिन्न ही होता है, अत: प्रकृति रस का कोई एक विशिष्ट स्वरूप नहीं माना जा सकता और जब उसका स्वरूप एक नहीं है तो स्वतन्त्र रसत्व की कल्पना कैसे सार्थक हो सकती है ?'[२५५]

डॉ० नगेन्द्र के समूचे तर्क का मूलाधार है काव्य-वर्णित प्रकृति की अनेक रूपता और उनके प्रति होने वाली पाठक की असमान प्रतिक्रिया। निश्चय ही यह आधार पूर्णतया वैज्ञानिक है और फलत: उसके आधार पर निकाले गए निष्कर्ष भी पूर्णतया सत्य हैं। किन्तु डॉ० नगेन्द्र का यह तर्क और निष्कर्ष उनका अपना मौलिक तर्क और निष्कर्ष नहीं, अपितु आचार्य शुक्ल के ही तर्क और निष्कर्ष का भिन्न शब्दों में रूपान्तरण है। किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने इसे इस ढंग से प्रस्तुत किया है जिससे प्रतीत होता है कि जैसे आचार्य शुक्ल ने वास्तव में 'प्रकृति रस' नामक स्वतन्त्र रस की जिसका एक विशिष्ट स्वरूप होता है, कल्पना की है और डॉ० नगेन्द्र अपनी ओर से उसका खण्डन कर रहे हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य शुक्ल ने 'प्रकृति-रस' की कल्पना नहीं की है, अपितु प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य वर्णित दोनों प्रकार के आस्वादों में से किसी को भी एकरसात्मक न मानकर अनेक रसात्मक माना है। यह आचार्य शुक्ल के निम्न कथन से स्पष्ट है—"जब कि प्राकृतिक दृश्य भावों के आलम्बन हैं तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा, कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है ? जो-जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन उसके अंतर्गत है, क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है।'[२५६] यहाँ प्राकृतिक दृश्यों को किसी 'भाव' विशेष का आलम्बन न कहकर 'भावों' का आलम्बन कहा गया है। अत: भिन्न-भिन्न भावों के आलम्बन होने के कारण उनके वर्णनों में भिन्न-भिन्न रस भी अनिवार्यत: होंगे। इस विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र का उपर्युक्त कथन कि आचार्य शुक्ल ने 'प्रकृति-रस' नामक स्वतंत्र रस की स्थापना की है, निराधार और असत्य है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि 'प्रकृति-रस' के स्वतंत्र अस्तित्व के निषेध के अनन्तर डॉ० नगेन्द्र द्वारा स्थापित निष्कर्ष आचार्य शुक्ल की ही मूल मान्यता का भिन्न शब्दों में रूपांतरण है।

डॉ० विनयमोहन शर्मा का कथन है कि 'यदि कवि की संवेदना भव्य और सामान्य दोनों दृश्यों के प्रति जाग सकता है तो यह उसकी सफलता एवं पूर्णता की द्योतक है।

और उसकी प्रशंसा अप्रस्तुत नहीं, परन्तु यदि किसी का हृदय भव्यता का ही उपासक है और उसमें वह खूब रमता भी है तो इसके लिए आचार्य को अकरुण कोप प्रदर्शित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी यह समझ में नहीं आता।'[२५७]

स्वयं शर्मा जी के उपर्युक्त कथन के मुताबिक भव्य और सामान्य दोनों दृश्यों के प्रति कवि की संवेदना का जगना उसकी सफलता एवं पूर्णता का द्योतक है, अतः इसी तर्क के अनुसार उक्त दोनों प्रकार के दृश्यों में से किसी भी एक, मात्रभव्य अथवा मात्र सामान्य दृश्य के प्रति कवि की संवेदना का जगना किसी सीमा तक उसकी असफलता एवं अपूर्णता का द्योतक ठहरता है। अतः असफलता एवं अपूर्णता का द्योतक होने के कारण वह अकरुण कोप प्रदर्शित करने की आवश्यकता पैदा करता है, क्योंकि यदि सफलता और पूर्णता यदि प्रशंसनीय है तो असफलता एवं अपूर्णता भी अवश्य ही कोई न कोई 'अनीय' होंगी, उनसे सन्तुष्ट एवं सहमत न होना स्वाभाविक और आवश्यक है। यदि शर्मा जी सफलता एवं पूर्णता की प्रशंसा प्रस्तुत मानते हैं तो असफलता एवं अपूर्णता के प्रति कोप एवं असंतोष को प्रस्तुत क्यों नहीं मानते ? स्पष्ट है कि यह डॉ० शर्मा की एकांगिता है।

डॉ० शर्मा का दूसरा आरोप यह है कि केवल भव्य दृश्यों के देखने वाले व्यक्ति या कवि को आचार्य शुक्ल ने 'तमाशबीन' क्यों कहा है। डॉ० शर्मा के अनुसार उसे 'तमाशबीन' तभी कह सकते हैं, जब वह भव्य दृश्यों में बिना रमे ही उनका उड़ता हुआ वर्णन करके संतुष्ट हो जाता है।[२५८]

डॉ० शर्मा के तर्क का तात्पर्य यह कि तमाशा देखने वाले को तमाशबीन न कहा जाय प्रत्युत अच्छी तरह से तमाशा न देखने वाले को तमाशबीन कहा जाय। लगता है कि डॉ० शर्मा जी की दृष्टि में 'तमाशबीन' कहना गाली देना है। यदि कोई ऐसा मानता है तो ठीक है, तमाशबीन नहीं कहना चाहिए। परन्तु यदि तमाशबीन गाली नहीं है और उसका अर्थ है 'तमाशा देखने वाला' तो निश्चित ही मात्र भव्यत्व, अद्भुतत्व, असाधारणत्व पूर्ण दृश्यों की प्रत्यक्षता के लिए लालायित व्यक्ति को तमाशबीन कहा जाना चाहिए, क्योंकि यह एक प्रकार की विलासिता, लोभ और संकीर्णता है। मानव-जीवन में वास्तविक रूप में ऐसी एकांगिता नहीं। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण को पकड़ पाने में शर्मा जी चूक गये हैं।

डॉ० शर्मा द्वारा उठाया गया तीसरा प्रश्न यह है कि जब आचार्य शुक्ल जी 'चमत्कारपूर्ण अनुरंजन' को साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं, तब प्रकृति के भव्य दृश्य वर्णन से यदि चमत्कारपूर्ण अनुरंजन होता है तो हम उसे 'मजाक' कैसे कह सकते हैं।'[२५९]

यह सच है कि आचार्य शुक्ल 'चमत्कारपूर्ण अनुरंजन' को साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं,[२६०] किन्तु प्रकृति के भव्य दृश्य वर्णन को उन्होंने 'मजाक' कहीं भी किसी भी ग्रन्थ में नहीं कहा है। अतः शर्मा जी का यह आरोप निराधार है।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का कथन है कि—'शुक्ल जी प्रकृति-चित्रण में यथा-तथ्यता चाहते हैं। + + । यथातथ्य रूप में तो प्रकृति एक मनुष्य के लिए आवेष्टन या फ्रेम मात्र रह जाती है।'[२६१]

सचमुच द्विवेदी जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से प्रकृति को यथातथ्य रूप में देखने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। यदि विश्व के वैज्ञानिक इस शोध को स्वीकार कर लें तो निश्चय ही प्रकृति के बारे में कुछ जानना ही न रह जायगा। वह एक मनुष्य कौन है तथा तथ्य रूप में प्रकृति जिसके लिए आवेष्टन या फ्रेम मात्र है? इस शोध के समक्ष सारा प्रकृति-विज्ञान फेल है। शुक्ल जी ने परिस्थिति को 'जीवन का आलम्बन कहा है।'[२६२] परिस्थिति और कुछ नहीं प्रकृति का अंश ही है। बिना परिस्थिति के जीवन सम्भव ही नहीं, किन्तु द्विवेदी जी की दिव्य दृष्टि में प्रकृति यथातथ्य रूप में एक मनुष्य के लिए आवेष्टन या फ्रेम-मात्र है।

प्रकृति के संश्लिष्ट रूप पर भी श्री द्विवेदी जी ने अपनी दृष्टि डाल कर उसे आलोकित किया है। उनका कहना है कि 'संश्लिष्ट रूप में प्रकृति-क्षेपक हो जाती है, जीवन से एकात्मक नहीं।'[२६३]

फिर तो श्री द्विवेदी के इसी तर्क के अनुसार असंश्लिष्ट प्रकृति जीवन से एकात्मक होगी। 'संश्लिष्ट' से या 'असंश्लिष्ट' से द्विवेदी जी कौन सा अर्थ ग्रहण करते हैं, यह ज्ञात नहीं। जहाँ तक शुक्ल जी का सम्बन्ध है, उन्होंने प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में 'संश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग किया है और उनका आशय प्रस्तुत दृश्य के ब्योरों के अंत-र्ग्रथित (अंतर्सम्बद्ध) अंकन से है। प्रकृति वस्तुतः संश्लिष्ट रूप में ही है, उसके उसी रूप से जीवन सम्बद्ध है अतः उसका चित्रण भी उसी रूप में होना चाहिए। यथार्थतः संश्लिष्ट रूप में प्रकृति को क्षेपक कैसे स्वीकार किया जा सकता है, प्रकृति क्षेपक नहीं, जीवन प्रकृति का क्षेपक है, अतः जीवन भी विराट् प्रकृति का ही अंश है। अतः उससे एकात्मक और अभिन्न है।

डॉ० गुलाबराय ने आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन किये जाने के पक्ष में अपनी सहमति व्यक्त की है और उसे 'बिलकुल ठीक' कहा है।[२६४] किन्तु वे, शुक्ल जी की इस बात से कि 'मनुष्य की समुन्नत बुद्धि के परिणाम रूप व्यापारों जैसे कल-कारखानें, गोदाम, स्टेशन, इंजन आदि में प्राकृतिक जैसे वन, पर्वत, कछार, झरना आदि की सी रसमग्न करने की शक्ति नहीं होती, सहमत नहीं। उनका कहना है कि 'यह संस्कार की बात है। औद्योगिक नगरों में शायद ये चीजें भी उतनी ही भावों को जागृति देने वाली बन गई हों।'[२६५]

ज्ञातव्य है कि शुक्ल जी ने भी 'संस्कार' को ही आधार बनाकर अपनी उक्त स्थापना की है। उनकी दृष्टि में 'वासना या संस्कार वंशानुक्रम से चलती आती हुई दीर्घ भाव-परम्परा का मनुष्य जाति की अन्तः प्रकृति में निहित संचय है।'[२६६] वासना या संस्कार रूप में स्थित भाव ही रसरूप में जगा करते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतिक व्यापारों और समुन्नत बुद्धिजन्य नवीन व्यापारों की तुलनात्मक विवेचना करने से ज्ञात

होता है कि प्राकृतिक व्यापारों की रसमग्नता के संस्कार अत्यन्त प्राचीन हैं, उनका अभ्यास अत्यन्त प्राचीन काल से अधिक मात्रा में होता रहा है, किन्तु कल-कारखानों के संस्कार पर्याप्त नवीन हैं, उनका अभ्यास अभी थोड़े ही दिनों से हो रहा है। अभ्यास पर ही संस्कार की सबलता एवं दुर्बलता निर्भर करती है, अतएव निश्चय ही प्राकृतिक व्यापार अपेक्षाकृत सबल संस्कार के कारण कल-कारखानों की अपेक्षा हमारे भावों को अधिक उद्‌बुद्ध करते हैं। यह बात व्यवहारतः प्रत्यक्ष सिद्ध है। आज भी गाँवों के ही मजदूर नहीं, बल्कि कल-कारखानों में दिन-रात खटने वाले शहरों के मजदूर भी थकावट से चूर हो, हरे-भरे वृक्षों की शीतल छाया में या पास के पार्क की हरी दूब पर विरमते और सिनेमे के ही सही—बहारों फूल बरसाओ, मेरा महबूब आया है—आदि गाते हुए अपना मन बहलाते हैं, न कि मशीनों का ध्यान कर रस-विभोर होते हैं। बंगले वालों के बँगलों को देखिए उनमें कुछ भी न होगा तो भी फूलों के गमले जरूर होंगे। ऐसी दशा में यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि शुक्ल जी की धारणा ठीक नहीं। उन्होंने यह तो कहा नहीं कि कल-कारखाने आदि हमारे भावों के आलम्बन हो नहीं सकते, उन्होंने तो केवल उनकी रसमग्न करने की अपेक्षाकृत न्यून क्षमता का ही उल्लेख किया है। वे कल-कारखानों के आलम्बन रूप में चित्रण के पक्ष में है। उनका उद्देश्य उन्हें उपेक्षित रखने अथवा उनका महत्त्व कम करने का कदापि नहीं है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी यह स्वीकार करते हैं कि 'मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडण्डी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जल-राशि, वर्षा की झडी, कोई पालतू या जंगली पशु हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीजें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सबल सिद्ध नहीं हो सकते।'[२६७] किन्तु उनका कहना है कि 'शुक्ल जी का कथन स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना में ऐसा कोई सिद्धांत लागू नहीं होता। किस रचनाकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है, वह कितनी गहरी सहानुभूति उत्पन्न करती है, इसकी तो वह कृति ही प्रमाण हैं। इसके सम्बन्ध में न तो हम कोई सीमा पहले से बांध सकते हैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं।'[२६८]

आचार्य वाजपेयी ने यह कहकर कि 'कला की आलोचना में ऐसा कोई सिद्धांत लागू नहीं होता' एक नया प्रश्न छेड़ दिया है, जिसकी चर्चा शुक्ल जी ने नहीं की है। शुक्ल जी द्वारा स्थापित सिद्धांत अपनी जगह पूरी तरह विज्ञानसम्मत और सत्य है, यह बात दूसरी है कि वह कला की आलोचना में लागू होता है या नहीं। जहाँ तक वास्तव में उसके लागू होने या न होने का प्रश्न है, वह वस्तुतः आलोचक और उसकी आलोचना-दृष्टि पर निर्भर है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है। हाइड्रोजन और आक्सीजन के दो और एक के आनुपातिक योग से पानी बनता है, यह एक सिद्धांत है। जब कोई व्यक्ति प्यास से प्रेरित हो सामान्य पेय पदार्थ के रूप में पानी का अवलोकन करता है, तब वह हाइड्रोजन और आक्साजन के अनुपात से कोई मतलब नहीं

रखता, मात्र स्वच्छता आदि देख लेता है, अतः कहना चाहिए कि उसके द्वारा पानी की इस आलोचना में उक्त सिद्धांत लागू नहीं होता, किन्तु जब कोई वैज्ञानिक पानी के संघटक तत्त्वों की खोज से प्रेरित हो एक विशेष द्रव के रूप में पानी का विश्लेषण करता है तो कहना चाहिए कि उसके द्वारा पानी की इस आलोचना में उक्त सिद्धांत लागू होता है।

प्रकृति-चित्रण की प्रणाली

आचार्य शुक्ल के मतानुसार काव्य में कवि का लक्ष्य 'बिम्ब-ग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थग्रहण कराने का नहीं अतः उसमें प्राकृतिक दृश्यों का भी चित्रण ऐसा होना चाहिए कि उनका पूर्ण बिम्ब ग्रहण हो सके। बिम्ब-ग्रहण के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य चित्रण कहा जायगा।'[२६९] चूंकि काव्य में भावों के प्रकृत आलम्बन का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण ही कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है,[२७०] अतएव उनकी दृष्टि में आलम्बन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य कवि के लिये वर्ण्य हों, उसकी समस्त ऐसी वस्तुएँ एकत्र करने में उसकी कल्पना प्रयुक्त होनी चाहिए, जिनसे उस दृश्य का चित्र पूरा होता हो।[२७१] चित्र की परिपूर्णता में ही चित्रण की सार्थकता होती है। अतः उसे उस प्राकृतिक दृश्य विशेष के ऐसे समस्त ब्योरों को सामने रखना होगा, जिससे उसका एक भरा-पूरा चित्र सामने आ जाये।[२७२] चित्रकार के भरे-पूरे चित्र की भाँति उसे भरा-पूरा होना चाहिए, अधूरे—कहीं रंग भरे, कहीं गैर रंग भरे—चित्र की भाँति अधूरा नहीं। कल्पना के द्वारा चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार का जितना ही अधिक संश्लिष्ट रूप में आकलन होगा, चित्र उतना ही पूर्ण होगा।[२७३] इस आधार पर शुक्ल जी की स्थापना है कि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण संश्लिष्ट रूप में होना चाहिए।

संश्लिष्ट चित्रण का अर्थ वस्तुओं की फेहरिस्त पेश करने या नाम गिनाने से नहीं है। शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि 'वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु-विन्यास नहीं है। आस-पास की वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना होती है।'[२७४] एक उदाहरण द्वारा शुक्ल जी ने अपनी बात भली भाँति स्पष्ट कर दी है। उनकी दृष्टि में "मौर लगे हैं, समीर चलता है, कोयल बोलती है', इस प्रकार कहना केवल वस्तुओं और व्यापारों की गिनती गिनाता है। × × × यह चित्रण नहीं है। (किन्तु) इन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को लेकर यदि हम इस प्रकार योजना करें—'वह देखो, मौरों से गुछी, मन्द-मन्द झूमती हुई आम की डाली पर, हरी-हरी पत्तियों के बीच अपने कृष्ण कलेवर को पूर्णरूप से न छिपा सकती हुई कोयल बोल रही है।' तो यह दृश्य अंकित करने का प्रयत्न कहा जायगा।"[२७५] निष्कर्ष यह कि किसी वस्तु का वर्णन जितना ही अधिक वस्तुओं

के सम्बन्ध को लिए हुए होगा उतना ही वह पेचीदा होगा और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा।[२७६]

ऊपर किये गये विवेचन से स्पष्ट है कि किसी दृश्य की वस्तुओं का उल्लेख जब सम्बन्धहीन ढंग से किया जाता है तो वह वस्तु-परिगणन मात्र होता है, किन्तु जब उन्हीं वस्तुओं को परस्पर सम्बद्ध करके समन्वितरूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वह संश्लिष्ट होकर चित्रण कहलाने का अधिकारी होता है, उसमें पूर्ण बिम्ब-ग्रहण कराने की क्षमता होती है। यही कारण है कि शुक्ल जी प्रकृति-चित्रण के लिए वस्तु परिगणन की प्रणाली उचित नहीं समझते। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि संस्कृत के कवियों के प्रकृति-चित्रण को उत्कृष्ट बतलाया है और अधिकांश हिन्दी-कवियों के प्रकृति-चित्रण को वस्तु परिगणन की शैली पर आधारित और अर्थ-ग्रहण मात्र कराने वाला कहा है।[२७७] उनका कथन है कि "रीतिग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह (वस्तु परिगणन का) ढंग जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु-व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या-क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया,—'आप्त शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदम्ब कुटज, इन्द्रवधू, मेघ गर्जन, विद्युत इत्यादि का नाम लिया जाता रहा वह इसलिए कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी।

कदम्बनिम्बकुंजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
मेघैर्वातिः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालंप्रदर्शयेत्॥

कहना नहीं होगा कि हिन्दी के कवियों के हिस्से में यही आया।"[२७८] इस कथन से प्रकट है कि शुक्ल जी 'प्रत्यक्ष अनुभव' के आधार पर प्रकृति-चित्रण किये जाने के पक्ष में है, 'आप्त शब्द' के आधार पर नहीं। रीतिग्रन्थों अथवा साहित्य-शास्त्रों में गिनाई गई वस्तुओं को नाम लेकर अर्थ-ग्रहण मात्र कराने के स्थान पर सूक्ष्म रूप विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ बिम्ब-ग्रहण कराना ही उनके प्रकृति-चित्रण का आदर्श है।

'प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत अलंकार-योजना' सम्बन्धी शुक्ल जी की धारणा उनकी काव्य-सम्बन्धी मूल दृष्टि के ही अनुरूप है। अलंकार-विवेचन के प्रसंग में यह निर्दिष्ट किया गया है कि शुक्ल जी काव्य में प्रस्तुत-वस्तु-विन्यास को ही प्रमुख मानते हैं, अप्रस्तुत या अलंकार-योजना को गौण और भावाश्रित। प्रकृति-चित्रण के सन्दर्भ में भी उनका कहना है कि 'कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट रूप में भरना जितना जरूरी है, उतना उपमा आदि ढूंढ़ना नहीं।'[२७९] उनकी दृष्टि में दृश्य-वर्णन में अलंकार-योजना की भरमार ठीक नहीं, उसमें तो प्रकृति का यथातथ्य रूप नियोजित होना चाहिये। उन्होंने लिखा है कि 'दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य-वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है सो केवल भाव को तीव्र करने के लिये। अतः वे दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये

जिनसे प्राय: सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों, जो वर्ण्य-वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिये बार-बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है।'[२८०]

प्रकृति-चित्रण में अलंकार-योजना के आधिक्य के पक्षपाती कहते हैं कि अलंकार-योजना प्रधान दृश्य-चित्रण ज्ञातृ-पक्ष प्रधान होता है अत: वह समीचीन होता है। शुक्ल जी कहते हैं कि ठीक है कि किसी वर्णन के ज्ञातृ-पक्ष और ज्ञेय पक्ष दो पक्ष होते हैं, किन्तु 'वस्तु-विन्यास' प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा-बहुत आप से आप होगा। वस्तुओं के सम्बन्ध में इन भावों का ठीक-ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिए कवि कहीं बीच-बीच में अपने अन्त:करण की भी झलक दिखाता चले तो यहाँ तक ठीक है।[२८१] तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है, जितने से बिम्ब ग्रहण करने में दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।[२८२] किन्तु इसके विपरीत प्रस्तुत व्यापार या वस्तु का सृष्टि के बीच एकमात्र गोचर प्रतिरूप दिखाने के उद्देश्य से भावों की अनुभूति में सहायता देने के उद्देश्य से नहीं, उसके मेल में दूसरे व्यापार या वस्तु का रखना शुक्ल जी के मतानुसार प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में कल्पना कोई उत्साह नहीं दिखाती। उनका कहना है कि इस अवस्था में 'प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिम्ब हो जाता है।'[२८३] जैसे—

बुंद अघात सहैं गिरि कैसे ? खल के वचन संत सह जैसे।

आचार्य शुक्ल के मतानुसार जहाँ किसी दृश्य-चित्रण में कवि का हृदय एकदम तटस्थ रहता है (अर्थात् उसमें कवि के रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता) और ऊपर से उसे अलंकार से भी लाद दिया जाता है, तो वह श्रोता या पाठक के भाव का अवलम्बन नहीं बन पाता है, अत: वह काव्य कहलाने से भी वंचित हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई कहे कि 'ललाई के बीच सूर्य का बिम्ब समुद्र के छोर पर डूबा और तारे छिटक गए' तो इस कथन द्वारा चित्रित दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति भाव का आलम्बन होकर काव्य भी कहला सकता है, किन्तु यदि इसे अलंकार से आक्रान्त कर मंखक कवि कहते हैं कि 'नेवले के बालों के सदृश पीली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिम्ब चन्द्रमा का द्रोह करने वाले दिन के कटे हुए सिर के समान, आकाश से पश्चिम-समुद्र में गिरता है और दिशाओं में उत्पन्न संध्या रूपी प्रचण्ड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थिशेष हो गई' तो यह काव्य का स्वरूप खो बैठेगा।[२८४]

यदि यह कहा जाय कि अलंकार द्वारा उक्त दृश्य रूप वस्तु व्यंग्य है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता है।[२८५]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शुक्ल जी ने दृश्य-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान गौण सिद्ध किया है। उनका कहना है कि यदि एक पर्वतस्थली का दृश्य-वर्णन करके किसी को सुनाकर फिर महीने दो महीने बाद उससे उसी दृश्य का वर्णन करने को कहा जाय तो यही देखने को मिलेगा कि 'सम्पूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करने वाली वस्तुओं और व्यापारों में शायद ही किसी का उसे स्मरण रहे। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा उसका संस्कार बना रहा, और इसीलिए संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्-भावना हुई, शेष अंश छूट गया।'[२८६]

प्राकृतिक दृश्य चित्रण के सन्दर्भ में शुक्ल जी ने देश-काल के औचित्य की ओर भी इंगित किया है। महाकवि सूरदास ने एक स्थल पर वर्षा काल के वर्णन में 'कुमुद' और 'कोविद' का उल्लेख किया है—

कुटज, कुमुद, कदंब, कोबिद कनक आरि, सुकंज,
केतकी करबीर, बेलउ बिमल बहुविधि मंजु ॥[२८७]

इसकी आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि 'यह नामावली निरीक्षण का फल नहीं है। इसकी सूचना 'कुमुद' और 'कोविद' (कोविदार) पद दे रहे हैं। कचनार की शोभा वसन्त-ऋतु में ही होती है, जब कि वह फूलता है और कुमुद की तो पत्तियाँ भी वर्षा काल में अच्छी तरह नहीं बढ़ी रहतीं।'[२८८] इस त्रुटि निर्देश से स्पष्ट है कि वे कालौचित्य का ध्यान रखना कवि के लिए प्रकृति-चित्रण में आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार देशौचित्य भी उनकी दृष्टि में प्रकृति-चित्रण में अपेक्षित है।

### साहित्यिक इतिहास की दृष्टि

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की विशेषकर साहित्यालोचन के क्षेत्र की-ही भाँति साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल की विशेष प्रतिष्ठा है। हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहासकार होने का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है। यद्यपि उनसे पूर्व श्री गार्साँ द तासी, श्री शिव सिंह, श्री ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के विकास को शृङ्खलाबद्ध कर इतिहास का रूप देने का प्रयास किया था, किन्तु उनमें से कोई भी सफल साहित्यिक इतिहासकार कहलाने का अधिकारी नहीं हो सका। श्री नलिन विलोचन शर्मा का यह कथन कि 'हिन्दी का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी शब्द सागर की विशद भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया[२८९] निर्विवाद रूप से मान्य है। इसी भूमिका को परिवर्तित तथा परिमार्जित कर उन्होंने १९२९ में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में प्रकाशित किया। शब्दसागर में लिखित भूमिका का शीर्षक था 'हिन्दी साहित्य का विकास।'

हिन्दी साहित्य को शृङ्खलाबद्ध कर सुव्यवस्थित इतिहास का रूप दे सकने की

आचार्य शुक्ल की सफलता के मूल में साहित्यिक इतिहास की उनकी विशिष्ट दृष्टि ही रही है। इस दृष्टि का स्वरूप और लक्षण उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा अपनायी गई दृष्टियों की सापेक्षता में ही स्पष्ट रूप से उभर कर आ सकता है, अतः उनका विवेचनात्मक उल्लेख संक्षेप में ही सही, किन्तु आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास-ग्रंथ फ्रांसीसी विद्वान् श्री गार्सां द तासी की लेखनी द्वारा फ्रेंच भाषा में लिखित—'Historiedela Literature Hindovi Hindustanee' 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी' के प्रथम संस्करण का प्रथम भाग १८३९ में और द्वितीय भाग १८४७ में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय परिवर्तित संस्करण १८७०-७१ में प्रकाशित हुआ था। 'इसमें ७० कवियों का संग्रह वर्णानुक्रम से किया गया है।'[२९०] श्री शर्मा ने लिखा है कि 'तासी की पुस्तक का महत्त्व बहुत कुछ इसी कारण है कि वह हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक इतिहास है। तासी का कवि-वृत्त कालक्रमानुसारी न होकर वर्णक्रमानुसारी है और लेखक ने साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि का निरूपण नहीं किया है।'[२९१] अतः जहाँ तक साहित्येतिहास के रूप में इस ग्रंथ के महत्त्व का प्रश्न है—वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहना होगा कि इसे किसी भी दशा में साहित्यिक इतिहास नहीं कहा जा सकता है। कारण यह कि न तो इसमें कालक्रम का ही ध्यान रक्खा गया है और न तो साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि का ही निरूपण किया गया है। निश्चय ही क्रमहीन कविवृत्त मात्र को व्यापक साहित्यिक इतिहास-दृष्टि की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

हिन्दी साहित्य का द्वितीय इतिहास-ग्रंथ श्री शिव सिंह द्वारा लिखित 'सरोज' नामक वृत्त संग्रह है। इसका प्रकाशन-काल १८७७ है।[२९२] इसे तासी के प्रथम प्रयास का दीर्घ रूप और हिन्दी साहित्य के लिपिबद्ध इतिहास का उच्चतर रूप समझना चाहिए। 'जहाँ तक साहित्येतिहास के रूप में 'सरोज' के महत्त्व का प्रश्न है, यह ग्रंथ सही अर्थ में कवि-वृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्यिक इतिहास तो दूर की बात है, क्योंकि कवियों के जन्म-काल आदि के सम्बन्ध में जो विवरण हैं, वे भी अत्यंत संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित हैं।'[२९३] डॉ० रमाशंकर शुक्ल रसाल के मतानुसार शिवसिंह के 'सरोज' के कारण हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास और ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश पड़ा है, किन्तु 'सरोज' वास्तव में साहित्य के इतिहास का ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें वह सामग्री नहीं, जिसका होना साहित्य के इतिहास में अनिवार्य है। उसमें न तो साहित्य की परम्परागत विचारधाराओं, उनकी शैलियों आदि का ही विवेचन है और न उसमें देश, समाज, समय आदि की संस्कृतियों का ही—जिनके प्रभाव से भाषा और साहित्य प्रभावित होकर प्रगतिशील होते हैं।[२९४] अतः इस ग्रंथ में भी व्यापक एवं व्यवस्थित साहित्यिक इतिहास-दृष्टि का अभाव ही कहा जायगा।

हिन्दी-साहित्य का तृतीय इतिहास-ग्रन्थ श्री ग्रियर्सन द्वारा लिखित द माडर्न वर्नैक्युलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान' है। इसका प्रथम प्रकाशन 'द जर्नल आव द रायल

एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल', भाग १, १८८८ के विशेषांक के रूप में हुआ था। बाद में, इसे ही १८८९ में सोसायटी ने कलकत्ता से पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। इसके सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह का यह कथन कि "ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर आव नार्दर्न हिन्दुस्तान' (१८८९) में शिवसिंह सरोज की ही सामग्री को कालक्रम से इतिहास का रूप देने की चेष्टा की।"[२९५] सच है, किन्तु फिर भी यह कवि वृत्त संग्रह ही कहलाने का अधिकारी है, साहित्यिक इतिहास कहलाने का नहीं।

सन् १९०० से काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सरकार की आर्थिक सहायता से देश के अनेक भागों में राजपुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों ज्ञात तथा अज्ञात कवियों के ज्ञात-अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् १९१३ में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबन्धुओं ने लगभग ५००० कवियों का विशाल वृत्त-संग्रह 'मिश्रबन्धु विनोद' तीन भागों में प्रकाशित किया। इसमें भी प्रत्येक कवि सर्वथा स्वतन्त्र रूप में वर्णित हुआ है और इतिहास पृथक्-पृथक् कवियों की पृथक्-पृथक् समीक्षाओं के संग्रह के ही रूप में उपस्थित हुआ है। अतः यह भी साहित्यिक इतिहास कहलाने का अधिकारी नहीं। श्री शर्मा ने लिखा है कि—"मिश्रबन्धुओं ने भले ही साहित्यिक इतिहास न लिखा हो किन्तु साहित्यिक इतिहास-विषयक उनके विचार इस सम्बन्ध में उनकी सजगता के प्रमाण हैं।"[२९६] अत: साहित्यिक इतिहास विषयक उनकी सजगता का अवलोकन आवश्यक है।

ध्यान देने से ज्ञात होता है कि किसी साहित्य को इतिहास का रूप देने के लिए अनिवार्य पूर्वदशाओं और उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयों पर उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'विनोद' के निर्माण के पूर्व ही उन्होंने लिखा था—'हमने भाषा के उत्तमोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना लिखने का निश्चय किया है और उन आलोचनात्मक लेखों के आधार पर हिन्दी का जन्म और गौरव या अन्य किसी ऐसे ही नाम की पुस्तक निर्माण करने का भी विचार है। इसमें हिन्दी में उसके जन्म से अद्यावधि क्या-क्या उन्नति तथा अवनति हुई है और उसके स्वरूप में क्या-क्या हेर-फेर हुए हैं, इनका वर्णन किया चाहते हैं। यह कार्य समालोचना सम्बन्धी ग्रन्थों के बहुतायत के प्रस्तुत हुए बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकता।'[२९७] सारांश यह कि जब तक पृथक्-पृथक् लेखकों की आलोचना सामने न रहेगी तब तक इतिहास नहीं लिखा जा सकेगा। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की आलोचनाओं को परस्पर सम्बद्ध कर देने मात्र से इतिहास नहीं तैयार हो सकता।

हिन्दी साहित्य का पंचम इतिहास ग्रन्थ, किन्तु सर्वप्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास ग्रन्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन सम्वत् १९८६ में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से हुआ था। इस ग्रन्थ का बड़ा व्यापक और गम्भीर प्रभाव अध्येताओं और परवर्ती साहित्यिक-इतिहास के लेखकों पर पड़ा। श्री जयनाथ नलिन के कथन में कि—'शुक्ल

जी के इतिहास के बाद अनेक इतिहास निकले हैं, जिनमें अधिक तो इसी की नकल हैं। दो-चार इतिहास प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा भी लिखे गये, पर आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित स्वरूप के भीतर ही वे रहे—नई बात बहुत कम कह पाये—'[२९८] पर्याप्त सीमा तक सत्यता विद्यमान है। अब हमें देखना है कि साहित्यिक इतिहास-विषयक आचार्य शुक्ल के विचार क्या हैं ?

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के समस्त इतिहास लेखक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकार थे। उनमें से कोई भी विशिष्ट सामाजिक दृष्टि सम्पन्न न था। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या आचार्य शुक्ल भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकार थे या उन्होंने पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों से भिन्न, सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया ? डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पूर्ववर्ती समस्त इतिहासकार, आचार्य शुक्ल भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकार थे। उनके अनुसार आचार्य द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक 'पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली पहली हिन्दी पुस्तक है।'[२९९] वस्तुतः यह कर डॉ० सिंह ने एक स्पष्ट एवं निर्विवाद विषय को विवादास्पद बना दिया है। क्या सचमुच आचार्य शुक्ल ने सामाजिक ऐतिहासिक प्रणाली न अपना कर व्यक्तिवादी ऐतिहासिक प्रणाली अपनायी है, अथवा यह झूठ है।

आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से किस प्रकार हुआ।"[३००]

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने 'साहित्य' को मात्र 'व्यक्ति' से सम्बद्ध न कर 'जनता' से सम्बद्ध करके देखा है और उसे जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति पर मूलतः आधारित बताकर सुसंगत कार्य-कारण की शृङ्खला स्थापित कर वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया है, न कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण। यही नहीं, जनता की चित्तवृत्तियों को भी उन्होंने परम स्वतन्त्र और निरपेक्ष न मानकर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तमान बतलाया है। इस प्रकार

उन्होंने अयुक्तियुक्त भाववादी दृष्टिकोण न अपना कर सुसंगत भौतिकवादी (यथार्थवादी) दृष्टिकोण ही अपनाया है। उन्होंने साहित्यिक विकास को द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से देखा है, प्रत्येक काल-विशेष का साहित्य जहाँ एक ओर अपनी साहित्य-परम्परा के साथ सम्बद्ध होता है, वहीं वह दूसरी ओर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिवेश से गहराई के साथ सम्पृक्त होता है। इस प्रकार साहित्यिक विकास भी जैविकी विकास की ही भाँति 'परम्परा' और 'परिवेश' द्वारा ही संचालित रहता है। यही शुक्ल जी का साहित्यिक विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण है। चूँकि परिवेश कोई स्थिर वस्तु नहीं है, राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ निरन्तर गतिशील रहती हैं अतएव इस परिवर्तन के अनुरूप जनता की चित्तवृत्ति भी बदलती रहती है, परिणामतः उसके प्रतिबिम्ब अर्थात् साहित्य का स्वरूप भी बदलता रहता है।

*अतः अन्ततः साहित्य के इतिहास के बारे में आचार्य शुक्ल का यह कथन कि* "आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है" उनके सुसंगत सामाजिक दृष्टिकोण का ही परिचायक है, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का नहीं। अपने इतिहास-ग्रन्थ में उन्होंने इस सैद्धांतिक दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। हर कालखण्ड के साहित्य को उन्होंने तत्कालीन नाना परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा है, स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप में नहीं। अतः डॉ० नामवर सिंह का यह दावा कि आचार्य शुक्ल व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकार थे ठोस नहीं प्रतीत होता। स्वयं डॉ० सिंह ने ही अपनी उसी पुस्तक में अन्यत्र कहा है कि पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता की भावना के परिणामस्वरूप "व्यक्ति अपनी समस्त परिस्थितियों के साथ वर्णित हुआ। साहित्य जो इतिहास के अलग-अलग कवियों की समीक्षाओं का संग्रह था, भिन्न-भिन्न युगों की राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन में भी संवलित हो उठा। ......आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१६२६ ई०) और डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१६३०) इस युग के प्रतिनिधि इतिहास हैं।"[३०१] स्पष्ट है कि स्वयं डॉ० नामवर सिंह के कथनों में आत्मविरोध है। अतः आचार्य शुक्ल को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाला साहित्येतिहासकार कैसे माना जा सकता है ? यदि यह तर्क दिया जाय कि उनके इतिहास में वैयक्तिक तत्वों का प्रचुर सन्निवेश है अतः वे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकार थे तो यह भी अनुचित ही होगा। यह सच है कि उनके इतिहास में वैयक्तिक तत्त्वों (Personal Elements) का पुट भी यत्र-तत्र मिलता है। जैसे एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'काश्मीर के किसी ग्राम के रहने वाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जंबू में किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो-एक सवैये भी सुनाए थे।'[३०२] यहाँ अपने निजी जीवन के प्रसंग विशेष का उल्लेख कर उन्होंने प्रकारान्तर से ब्रजभाषा के साहित्य की व्यापकता को ही प्रकाशित किया है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रसंगों का

उल्लेख उनके इतिहास में मिलता है। वस्तुतः हिन्दी के अपने समकालीन साहित्यकारों से उनका बहुत व्यापक और घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः इतिहास लिखते समय उन्होंने अपने तथा अन्य साहित्यकारों के बीच घटित प्रसंगों का भी आवश्यकतानुसार उल्लेख कर दिया है, जिससे उनकी सुसंगत सामाजिक साहित्येतिहास दृष्टि की परिपुष्टि ही हुई है न कि क्षति। अतः इस आधार पर उन्हें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाला साहित्येतिहासकार नहीं कहा जा सकता है। यदि मूलतः और मुख्यतः सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी उन्होंने कहीं-कहीं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से काम लिया है तो भी उसे अपवाद ही समझना चाहिए।

यदि यह पूर्णतया सत्य हो, जैसा कि डॉ० सिंह कहते हैं कि 'शुक्ल जी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थितियों से उत्पन्न बताये जाते हैं वह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होतीं, जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन की दासता जन्य निराशा से उत्पन्न बताना'[३०३] तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण या प्रणाली अपनायी है, सामाजिक नहीं। इससे तो मात्र इतना सिद्ध होता है कि वे स्वयं द्वारा अपनायी हुई सामाजिक प्रणाली को योग्यतापूर्वक पूर्णतया निभा नहीं सके हैं। ऐसी दशा में यही कहना उचित था कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास की सामाजिक प्रणाली और दृष्टिकोण अपनाया अवश्य, किन्तु वे उसका युक्तियुक्त कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित कर पूर्ण निर्वाह करने में सफल नहीं हो सके। किन्तु ऐसा न कहकर डॉ० नामवर सिंह ने उन्हें भी उनके पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाले साहित्येतिहासकारों के झुण्ड में रख दिया है। क्या यह उचित है?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक इतिहास लेखकों से भिन्न साहित्येतिहास विषयक दृष्टिकोण अपनाया। उनके पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था और उनका सामाजिक। इस प्रकार हिन्दी में पहली बार 'साहित्यिक इतिहास' का सृजन हुआ। परिणामतः 'साहित्यिक इतिहास' और 'कविवृत्त संग्रह' का अन्तर भी स्पष्ट हुआ। अपने इतिहास ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की भूमिका में विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा के विधान से उद्भूत साहित्य के विचार-शृङ्खला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि 'भिन्न-भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुंथी वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं?'[३०४] 'विचार-पूर्वक देखने से इस उद्धरण से अधोलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) 'कवि वृत्त संग्रह' और 'साहित्येतिहास' दो भिन्न चीजें हैं।

(ख) वृत्त-संग्रह में केवल काल क्रम से कवियों का उल्लेख मात्र रहता है, साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर स्पष्ट वर्गीकरण नहीं होता।

(ग) कवि वृत्त संग्रह से किसी साहित्य के इतिहास के अध्ययन में बहुत दूर तक सहायता नहीं मिल सकती।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में 'कवि वृत्त संग्रह' और 'साहित्येतिहास' दोनों एक नहीं अपितु गुणात्मक स्तर पर भिन्न वस्तुएँ हैं। वृत्त-संग्रह की अपेक्षा साहित्येतिहास साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि मात्र काल-विभाजन से ही कोई 'कवि वृत्त संग्रह' 'साहित्यिक इतिहास' का रूप नहीं ग्रहण कर सकता है। उन्होंने लिखा है कि—'सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि खण्डों में आँख मूंद कर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।'[305] ठीक यही बात उन्होंने अन्यत्र भी कही है।'[306] यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वे कौन-सी वस्तुएं हैं जिनसे साहित्य का इतिहास 'इतिहास' कहलाता है, 'कवि-वृत्त-संग्रह' नहीं? आचार्य शुक्ल के इतिहास ग्रंथ के प्रथम संस्करण के वक्तव्य के निम्नोद्धृत अंश से इस बात पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा है—"शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सब के सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[307]

विश्लेषण करने पर दो बातें निकलती हैं जो इतिहास अथवा उसके अध्ययन के लिए आवश्यक हैं—(क) शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों की सापेक्षता में साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण और (ख) उन निरूपित प्रवृत्तियों के आधार पर सुसंगत काल-विभाग। अतः हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में जनता की प्रवृत्तियों की सापेक्षता में साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण और उन निरूपित साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर सुसंगत काल-विभाग साहित्यिक इतिहास की दो प्रमुख बातें हैं।

इस बात के स्पष्ट हो जाने पर भी कि कोई कवि-वृत्त संग्रह साहित्यिक इतिहास नहीं होता है, यह बात अस्पष्ट हो रह जाती है कि साहित्यिक इतिहास में कवियों के परिचयात्मक वृत्तों का क्या स्थान होता है? आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—'... कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मैं अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूं, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्तन करना।'[308] इससे स्पष्ट है कि कवि-कीर्तन करना साहित्यिक इतिहास का उद्देश्य नहीं होता है, अतः एक सीमा तक ही कवियों के परिचयात्मक वृत्तों को उसमें स्थान मिलता है। आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण उचित ही है। श्री नलिन विलोचन शर्मा ने भी साहित्यिक इतिहास को 'लेखकों की जीवनियों या अलग-अलग कृतियों के परिशंसन से अलग' माना है। उनके मतानुसार—'साहित्यिक इतिहास की समस्या है कि साहित्य का एक कला के रूप में ऐसा इतिहास लिखा जाय कि जो यथा संभव सामाजिक इतिहास लेखकों की जीवनियों या अलग-अलग कृतियों के परिशंसन से अलग हो।'[309]

साहित्यिक इतिहास के स्वरूप के निर्दिष्ट हो जाने के पश्चात् इतिहास के साथ उसके सम्बन्ध का प्रश्न आ उपस्थित होता है। यह प्रश्न साहित्येतिहास दर्शन का एक अत्यन्त प्रमुख प्रश्न है।

श्री फेदिन के अनुसार 'साहित्य का इतिहास राष्ट्र के इतिहास का एक हिस्सा है…' ये शब्द फेदिन ने सोवियत लेखकों की चौथी कांग्रेस के उद्‌घाटन भाषण में कांग्रेस के सदस्यों से सोवियत साहित्य के विकास के ऐतिहासिक चरणों में भी अनेक समस्याओं के उत्तर खोजने का अनुरोध करते हुए कहे थे।[310] डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है कि—'साहित्य का इतिहास पूर्णतया इतिहास का एक मुख्य अंग होकर उसी पर समाधारित सा रहता है।'[311] वस्तुतः साहित्यिक प्रक्रिया ऐसी सामाजिक सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया है जो तभी विकसित होती है जब इसके लिए सामाजिक आवश्यकता उत्पन्न होती है। अतः डॉ० रसाल का यह कथन कि '…प्रत्येक देश एवं समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक दशा पर ही उसकी साहित्यिक दशा एवं प्रगति समाधारित रहती है'[312] युक्तियुक्त है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण विशेषरूप से द्रष्टव्य है, किन्तु उन्होंने साहित्यिक इतिहास और इतिहास के सम्बन्ध पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया है, तथापि साहित्यिक इतिहास सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। ऊपर सन्दर्भवश यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य शुक्ल ने 'साहित्य' को मात्र व्यक्ति से सम्बद्ध न कर जनता से सम्बद्ध करके देखा है और उसे जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति पर समाधारित बताया है और साथ ही साथ जनता की चित्तवृत्ति को परम स्वतन्त्र और निरपेक्ष न मानकर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील माना है। इस प्रकार उन्होंने प्रकारान्तर से साहित्य को इतिहास पर ही समाधारित बताया है। आखिर राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और धार्मिक परिस्थितियों के अतिरिक्त इतिहास और है ही क्या? इन्हीं परिस्थितियों को ही तो इतिहास कहा जाता है। या दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विशुद्ध इतिहास द्वारा इन्हीं परिस्थितियों का परिचय मिलता है और साहित्यिक इतिहास द्वारा इन्हीं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अतीत साहित्य का परिचय। वस्तुतः आचार्य शुक्ल का भी यही मत है, जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट है। जिस प्रकार 'इतिहास नामों की तालिका मात्र नहीं है। वह केवल घटनाओं और तिथियों की भी सूची नहीं है'[313] उसी प्रकार साहित्यिक इतिहास भी लेखकों की ऐसी तिथिमूलक तालिका नहीं है जिसमें उनकी कृतियों का विवरण और सारांश मात्र हो। साहित्यिक इतिहास के लिए किसी साहित्य-काल की राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण आवश्यक होता है। आचार्य शुक्ल ने अपनी इतिहास-पद्धति में स्पष्टतया यह निर्दिष्ट किया है साहित्यिक इतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों के निरूपण के साथ ही साथ कारणभूत राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का परस्पर

सुसम्बद्ध और सुसंगत रूप में उल्लेख होता है, किन्तु उसी सीमा तक जिस सीमा तक वे परिस्थितियाँ साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण-स्वरूप हों। वस्तुतः यही कारण-कार्य सम्बन्ध की सतत् सुसंगत स्थापना ही साहित्यिक इतिहास का मुख्य कार्य है। इस सिद्धान्त से हिन्दी के आज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् जिन्होंने 'हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास' के रूप में 'विश्वकोष' की सी योजना बना डाली है, यह शिक्षा ले सकते हैं कि किस सीमा तक भूगोल और इतिहास का साहित्यिक इतिहास में प्रवेश हो सकता है। वस्तुतः साहित्यिक इतिहास में आलोच्य वस्तु साहित्यिक कृतियाँ और उनमें अंकित सामाजिक यथार्थ होता है। इन्हीं के परीक्षण और विवेचन के लिए ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का उपयोग होना चाहिए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं कृतियों को इस प्रकार अन्तर्सम्बद्ध होना चाहिए जैसे धरती, फूल का पौधा और उसकी टहनियों के फूल परस्पर सम्बद्ध होते हैं। 'समाज से साहित्य का सम्बन्ध बहुत कुछ वही है जो धरती के फूल का है।'[३१४] यदि किसी साहित्येतिहास के ग्रन्थ में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का खाता और साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवे-चन का खाता साथ-साथ छपने के अतिरिक्त वस्तुतः कार्य-कारण रूप में तत्त्वतः आबद्ध न हो तो उससे साहित्यिक इतिहास का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार 'साहित्येतिहास' और 'साहित्यालोचन' का सम्बन्ध-निरूपण भी साहित्य के इतिहास-दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने किसी सिद्धान्त का प्रति-पादन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने अपने इतिहास में समालोचना के इतिहास को साहित्य के एक विशिष्ट रूप अथवा अंग के इतिहास के रूप में समाहित किया है अतः इसे यदि सैद्धांतिक रूप प्रदान किया जाय तो कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार किसी साहित्य के इतिहास में उसकी आलोचना का भी इतिहास समाहित रहता है और वस्तुतः यह तर्क संगत भी है, क्योंकि 'साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत उसके सभी अंगों—काव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का इतिहास रहता है।'[३१५] किन्तु मात्र इतने से साहित्यालोचन और साहित्येतिहास का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।'[३१६] उनका यह दृष्टिकोण साहित्य मीमांसकों के उस सामान्य विचार के अनुरूप ही है जिसके अनुसार साहित्येतिहास में किसी साहित्य-काल की प्रवृत्तियों की विवेचना होनी चाहिए, उससे सम्बद्ध व्यक्तित्वों की नहीं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्येतिहास में रचनाकारों अथवा कवियों की आलोचना बिल्कुल ही नहीं होती, वह होती अवश्य है, किन्तु उतनी ही मात्रा में जिससे साहित्यिक प्रवृत्तियों के निरूपण के प्रवाह में अवरोह उत्पन्न हो जाने से खंडता न आ सके।

साहित्यिक इतिहास में काल-विभाजन भी एक प्रमुख समस्या है। स्वभावतः साहित्य के इतिहास के अपने कालगत विभाजन होते हैं।[३१७] यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता है कि काल-विभाजन क्यों? आचार्य शुक्ल की ओर से उत्तर के रूप में कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों की परिवर्तनशीलता के कारण। उनके अनुसार

यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन चला जाता है।[३१८] यही परिवर्तन काल-विभाग का वैज्ञानिक आधार है। यदि यह परिवर्तन घटित न होता तो साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी परिवर्तित न होतीं, परिणामतः काल-विभाजन भी विशेष उपयोगी और आवश्यक न होता। किन्तु परिवर्तनशीलता के कारण किसी कालखण्ड विशेष में किसी विशेष प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति या रचना का प्राचुर्य रहता है तो किसी दूसरे कालखण्ड विशेष में किसी दूसरी साहित्यिक प्रवृत्ति या रचना का प्राचुर्य। इसी को ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को निम्नलिखित चार कालों में विभक्त किया है—

आदि काल (वीरगाथा काल, संवत् १०५०-१३७५)
पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल, संवत् १३७५-१७००)
उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् १७००-१९००)
आधुनिककाल (गद्यकाल, संवत् १९००-१९८४)

साहित्यिक इतिहास के काल-विभाजन के आधार को भी उन्होंने स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार साहित्य के ऐतिहासिक काल-विभाजन के लिए रचना के स्वरूप-भेद का निरूपण अनिवार्य होता है। रचना के स्वरूप भेद के बिना साहित्यिक काल-विभाग सम्भव ही नहीं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—'रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग-अलग लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं।'[३१९] इस प्रकार हम देखते हैं कि काल विभाग में स्वेच्छाचारिता नहीं होती। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए। प्रसिद्ध कवियों के नामों के आधार पर भी साहित्येतिहास में काल-विभाजन की प्रथा है। आचार्य शुक्ल ने इसका निषेध तो नहीं किया, किन्तु इसे प्रतिबन्धित अवश्य किया है। उनके मतानुसार—'थोड़े थोड़े अन्तर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उनके काल में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है।'[३२०] हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने काल विभाग के बारे में उन्होंने लिखा है कि—'जिस काल खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखायी पड़ी है वह एक काल माना गया है।'[३२१] रचना-प्राचुर्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी ढंग की रचना को लें वह परिणामों में प्रथम के बराबर न होगी, यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे, यदि किसी काल में पाँच ढंग की रचनाएँ १०,५,६,७ और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढंग की रचना की १० पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता की जायगी,

यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं।'[३२२] इस सम्बन्ध में श्री नलिन विलोचन शर्मा का भी यही दृष्टिकोण है। उनके मतानुसार 'साहित्य के इतिहास में युग-विशेष की परिकल्पना इस आधार पर ही संगत सिद्ध होती है कि उनमें साहित्यिक आदर्श की कोई परिपाटी सर्वातिशायी हो।'[३२३] कहना न होगा कि शुक्ल जी का किसी विशेष ढंग की रचना का प्राचुर्य और शर्मा जी का साहित्यिक आदर्श की परिपाटी का सर्वातिशय्य तत्वतः समानार्थक है।

यह स्पष्ट हो जाने के पश्चात् कि साहित्यिक युग-विभाजन युग-विशेष की रचना की प्रमुख धारा के आधार पर किया जाता है, युग विशेष की रचना की प्रमुख धारा के उप विभाग के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल के मतानुसार विभाजक वैशिष्ट्य के आधार पर किसी युग-विशेष की रचना की प्रमुख धारा को शाखाओं में विभक्त करके उपविभाग किया जा सकता है। उन्होंने ऐसा किया भी है और इसके सम्बन्ध में लिखा है कि 'एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की परम्पराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ शाखाएं अलग-अलग करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ निर्गुण धारा और सगुण धारा निर्दिष्ट की गई हैं। फिर प्रत्येक धारा की दो-दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई हैं—निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफी) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा।'[३२४]

इस उप विभाग के बारे में स्वयं उन्होंने लिखा है कि 'इन धाराओं और शाखाओं का प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढंग पर नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करने वाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखायी भी गई हैं और देखते ही ध्यान में आ भी जायँगी।'[३२५] इससे स्पष्ट है कि उपविभाग के लिए विभाजक वैशिष्ट्य का आधार अनिवार्य है। यही कारण है कि विभाजक वैशिष्ट्य के अभाव के कारण उन्होंने रीतिकालीन रचना की प्रमुख धारा को और उप विभागों में नहीं बाँटा है। उन्होंने लिखा भी है कि 'रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उप विभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला।'[३२६]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति के मानदण्ड के आधार पर ही साहित्यिक-काल-विभाग किया है, मानवीय कार्य-व्यापार के साहित्येतर क्षेत्रों के मानदण्डों के आधार पर नहीं। ऐसा उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण के कारण ही सम्भव हो सका है। वस्तुतः यदि हम मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषा वैज्ञानिक विकास से गहराई के साथ सम्पृक्त रहते हुए भी साहित्य का स्वतन्त्र विकास होता है और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिंब नहीं है, तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदण्ड के सहारे निर्धारित होने चाहिए।[३२७]

साहित्यिक इतिहास में युग-विभाजन की समस्या पर विचार कर लेने के पश्चात् साहित्यिक युगों के नामकरण की समस्या पर विचार कर लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल

ने साहित्यिक युगों के नामकरण का आधार स्पष्ट किया है। उन्होंने नामकरण के दो आधारों को अपनाया है—पहला युग विशेष की प्रचुर रचनाओं के स्वरूप का आधार और दूसरा युग-विशेष में प्रसिद्ध विशेष कोटि के ग्रन्थों के स्वरूप का आधार। दूसरे शब्दों में इन्हें ग्रन्थों की 'प्रचुरता' और 'प्रसिद्धि' का आधार कह सकते हैं। विशेष कोटि के ग्रन्थों की प्रचुरता तो किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की परिचायक होती ही है, किन्तु उनकी दृष्टि में प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि[३२८] होती है। यही कारण है कि उन्होंने इन दोनों ही आधारों को अपनाया है। उन्होंने लिखा है—'*सारांश यह कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल विभाग का नामकरण किया गया है।*'[३२९]

स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने साहित्यिक काल-विभाग के आधार की भाँति उनके *नामकरण का भी साहित्यिक आधार ही अपनाया है—साहित्येतर आधार नहीं।* वस्तुतः 'नाम तो साहित्य की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही होना चाहिए।'[३३०] यह प्रश्न कि किस सीमा तक आचार्य शुक्ल ने स्वयं द्वारा प्रतिपादित साहित्यिक इतिहास के सिद्धांतों को अपने इतिहास ग्रन्थ में व्यावहारिक रूप प्रदान किया है, हमारे विचार-क्षेत्र में प्रमुख स्थान नहीं रखता। किन्तु इतना ज्ञातव्य है कि इस सम्बन्ध में विद्वानों के परस्पर विरोधी मत हैं। प्रो० नलिन विलोचन शर्मा के मतानुसार इन सिद्धान्तों का निर्वाह करने की क्षमता का परिचय देने में वे समर्थ सिद्ध हुए हैं, किन्तु डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार असमर्थ। उन्होंने अनेक त्रुटियाँ दिखायी हैं। उदाहरणार्थ एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि '*एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रकृतियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलने वाली परस्पर* विरोधी विविध सामाजिक शक्तियों के अन्तर्विरोध का पता न था। इसीलिये उन्हें अपने इतिहास के हर युग में फुटकल खाता खोलना पड़ा।'[३३१] कुछ भी हो, यहाँ इस प्रकार के तमाम विवादों के निर्णय का अवसर ही नहीं, किन्तु जयनाथ नलिन का यह कथन सच है कि 'शुक्ल जी के इतिहास के बाद अनेक इतिहास निकले हैं, जिनमें अधिक तो इसी की नकल हैं। दो-चार इतिहास प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा भी लिखे गये पर आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित स्वरूप के भीतर ही वे रहे—नई बात बहुत कम कह पाये।'[३३२] डॉ० रामविलास शर्मा ने भी लिखा है कि "शुक्ल जी के बाद संक्षिप्त और सुबोध इतिहासों की बाढ़ आ गई। कुछ वृहत्काय इतिहास भी लिखे गये। इनमें से ज्यादातर चोरी का माल है, शुक्ल जी की निधि से माल लेकर टके सीधे करने का व्यापार है, बहुत कम लोगों ने नये सिरे से अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ नया जोड़ने की कोशिश की है।'[३३३]

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित साहित्यिक इतिहास के सिद्धान्तों के मूल्यांकन के लिए अच्छा होगा कि उनके परवर्ती इतिहास लेखकों और सिद्धांतकारों के विचारों का भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाय। सबसे पहले हम डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को लेते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ '*हिन्दी साहित्य का इतिहास*' में 'साहित्य का

इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत साहित्यिक इतिहास के सम्बन्ध में अपना विचार विस्तार-पूर्वक प्रकट किया है। मिश्रबन्धुओं और आचार्य शुक्ल ने साहित्य के इतिहास के पूर्व साहित्य के अध्ययन को आवश्यक माना था। डॉ० रसाल ने उनके विपरीत यह कहना युक्तिसंगत समझा कि—'साहित्य के अध्ययन से पूर्व उसके ऐतिहासिक विकास से परिचित होना तथा उसकी विचारधाराओं, रीतियों आदि का यथोचित रूप से जानना अनिवार्य ही है। इसी विचार से साहित्य का इतिहास महत्त्वपूर्ण माना जाता है।'[334] निस्सन्देह साहित्यिक इतिहास से साहित्यिक अध्ययन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायताएँ मिलती हैं, किन्तु साहित्यिक अध्ययन के अभाव में साहित्यिक इतिहास लिखा ही कैसे जा सकता है। वस्तुतः साहित्यिक इतिहास का निर्माण मूलतः साहित्यिक अध्ययन पर ही निर्भर करता है। अतः डॉ० रसाल के इस कथन से कि 'साहित्य के अध्ययन से पूर्व उसके ऐतिहासिक विकास से परिचित होना''''अनिवार्य है' सहमत होना सम्भव नहीं। वस्तुतः इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि साहित्यिक इतिहास के लिए साहित्यिक अध्ययन अनिवार्य शर्त है जब कि साहित्यिक अध्ययन के लिए साहित्यिक इतिहास अनिवार्य नहीं। सारांश यह कि साहित्यिक इतिहास के अभाव में भी साहित्यिक अध्ययन सम्भव है, किन्तु साहित्यिक अध्ययन के अभाव में साहित्यिक इतिहास का निर्माण सम्भव नहीं।

साहित्यिक इतिहास के स्वरूप के सम्बन्ध में डॉ० रसाल का कथन है कि (क) 'जिसमें साहित्य की भिन्न-समय से सम्बन्ध रखने वाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन हो, उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिए।'[335] निस्सन्देह यह परिभाषा विषय से सम्बद्ध होने के कारण साहित्यिक इतिहास के विषय का निर्देश करती है, किन्तु यह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त भी है, क्योंकि इसमें साहित्य की कारणभूत सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की ओर थोड़ा भी संकेत नहीं किया गया है। इस प्रकार का इतिहास तो आकाश-कुसुम ही होगा। इसकी तुलना में आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट साहित्यिक इतिहास का लक्षण निर्दोष और तर्कसंगत ही है। डॉ० रसाल ने पुनः लिखा है—'''किसी भाषा के साहित्य के इतिहास से हमें उस साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों एवं परिणामों आदि का, उनकी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ ज्ञान प्राप्त होता है।'[336] यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है, क्योंकि साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न विषय अनेक हैं और यदि उन्हीं तक नहीं, बल्कि उनके कारणों, परिणामों आदि का उनकी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ ज्ञान प्राप्त कराने की कोशिश साहित्येतिहास करने लगेगा तो वह 'साहित्य का इतिहास' नहीं अपितु विश्व इतिहास बन जायगा। उदाहरणार्थ हम राजनीति को लेते हैं। साहित्य के इतिहास में राजनीति का प्रवेश उसी सीमा तक उचित कहा जायगा जिस सीमा तक वे परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति का प्रवेश अनावश्यक होगा। किन्तु यदि डॉ० रसाल का कोई शिष्य उनके मतानुसार साहित्य के इतिहास में राजनीति के कारणों,

परिणामों आदि का अध्ययन उसकी महत्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ-साथ करने लगे तो परिणाम स्वरूप 'राजनीति का इतिहास' आकार ग्रहण करेगा न कि 'साहित्य का इतिहास।' किन्तु डॉ० रसाल को इससे क्यों प्रयोजन वे तो निष्कर्ष रूप में कहेंगे ही कि '"'साहित्य के इतिहास में हमें साहित्य का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना चाहिए। इससे सम्बन्ध रखने वाले समस्त विषयों का यथाक्रम परिवर्तनशील विकास भी हमें अवगत हो जाना चाहिए। इसके साथ ही साथ भाषा और उसकी शैलियों का ज्ञान तथा उसमें समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों आदि का प्रस्फुटन होना भी प्रकट हो जाना चाहिए।'[३३७] इस विवेचन से स्पष्ट है कि परवर्ती होने के बावजूद डॉ० रसाल साहित्यिक इतिहास के प्रति उतना भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपना सके हैं जितना आचार्य शुक्ल ने अपनाया था। यही कारण है कि वे अपने इतिहास ग्रन्थ में 'अपेक्षया अधिक विस्तृत विवरणों के बावजूद पृष्ठभूमि तथा उस पर उभरे चित्र के अन्तर्संबंध का निर्देश नहीं कर पाये हैं।'[३३८]

शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान निर्विवाद रूप से सर्वोच्च है। निस्संदेह उन्होंने साहित्यिक इतिहास-लेखन की पद्धति को एक कदम आगे बढ़ाया है, किन्तु उन्होंने साहित्यिक इतिहास विषयक किन्हीं नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है। फिर भी उनके द्वारा व्यवहृत इतिहास लेखन की प्रणाली उल्लेखनीय है। स्वयं उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) के संकेतात्मक उपशीर्षक से अपने द्वारा व्यवहृत प्रणाली का निर्देश इन शब्दों में किया है—

'प्रयत्न किया गया है कि यथासम्भव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाय परन्तु पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन छूटने न पाये और विद्यार्थी अद्यावधिक शोध कार्यों के परिणाम से अपरिचित न रह जायँ। उन अनावश्यक अटकलबाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं को छोड़ दिया गया है, जिनसे इतिहास नामधारी पुस्तकें प्रायः भरी रहती हैं। आधुनिक काल को समझने का प्रयत्न तो किया गया है, पर बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का भी प्रयास है। इससे बहुत से लेखकों के नाम छूट गये हैं, पर यथासम्भव साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ नहीं छूटी हैं।'[३३९] श्री नलिन विलोचन शर्मा आदि अनेक विचारकों ने इसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है, किन्तु विचारपूर्वक देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें कोई नई अथवा प्रमुख बात नहीं कही गई है। अनावश्यक अटकलबाजियों, अप्रासंगिक विवेचनाओं और नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने तथा अद्यावधिक शोध कार्यों के परिणाम, 'समाविष्ट करने का प्रयास' कोई नया नहीं है। उनके पूर्ववर्ती सभी इतिहास-लेखकों, मिश्रबन्धुओं आदि ने अपने समय तक के शोध कार्यों के परिणामों को भलीभाँति अपने-अपने इतिहास ग्रंथों में लाने का प्रयास किया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी कोई नवीन देन ही नहीं। द्विवेदी जी ने ही सर्वप्रथम

हिन्दी जाति तथा हिन्दी साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिए हिन्दी पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी साहित्य का निरूपण किया।[३४०] परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयास था। इस नैरन्तर्य निरूपण में समाज-साहित्यकार तथा साहित्य की परस्पर सम्बद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और अंगांगिभाव से निभाई गई कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया।[३४१] इस ठोस आधार पर निष्कर्ष रूप में डॉ० नामवर सिंह का यह कथन कि 'निस्सन्देह 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नवीन युग और साहित्य के नवीन इतिहास की भूमिका है'[३४२]—एक सीमा तक उचित है।

डॉ० नामवर सिंह ने साहित्यिक इतिहास के लिए भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया है और उसकी विवेचना भी की है। उनके कथनानुसार द्वन्द्वात्मक प्रणाली की चार प्रमुख विशेषतायें हैं—

(१) 'द्वन्द्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता यह है कि किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य प्रसंग में देखना।'[३४३]

(२) 'द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दूसरी विशेषता है—वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों को गतिशील, परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना।'[३४४]

(३) 'द्वन्द्वात्मक प्रणाली की तीसरी विशेषता है—विकासक्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना।'[३४५]

(४) 'द्वन्द्वात्मक प्रणाली की चौथी विशेषता है—वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अन्तर्विरोध को पहचानना।[३४६]

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की उपर्युक्त विशेषताओं को बताने के साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि—'ऐसी ऐतिहासिक प्रणाली का सही उपयोग भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही हो सकता है, क्योंकि साहित्य के इतिहास को परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध, गतिशील, आवृत्तहीन, ऊर्ध्वमुख ढंग से वही देख सकता है, जो उसे मूर्त और ठोस रूप में देखें।'[३४७]

निश्चय ही भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक प्रणाली इतिहास की सर्वाधिक विकसित, स्वस्थ और अपेक्षाकृत पूर्ण प्रणाली है, किन्तु इसका निर्वचन जितना सरल है व्यवहार उतना ही कठिन। यह ध्यातव्य है कि इस प्रणाली के आविष्कार का श्रेय नहीं, अपितु *हिन्दी-निर्वचन मात्र का श्रेय डॉ० नामवर सिंह को दिया जाना चाहिए।* जहाँ तक आचार्य शुक्ल द्वारा अपनायी गयी प्रणाली से इसकी तुलना का प्रश्न है, स्पष्ट शब्दों में यह कहना होगा कि उनकी प्रणाली ठोस भौतिकवादी न होते हुए भी द्वन्द्वात्मक अवश्य रही है, अतः वे परस्पर विरोधी कदापि नहीं कही जा सकती, किन्तु भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं पूर्ण मानी जायगी।

## सन्दर्भ

१, २, ३, ४, ५, ६, ७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६४, १६४, १६५, १६५, १६५, १६५, १६५। ८, ९. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६५, १६५। १०. देखिए—रस विमर्श, पृ० ९५। ११, १२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६, १६५। १३, १४, १५, १६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६, १६६, १६६, १६७। १७. रस मीमांसा, पृ० १३१। १८, १९, २० २१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६, १६७, १६७, १६७। २२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५३। २३. आस्था और सौदर्न्य, पृ० ३३। २४. ऐन आटोवायोग्रफि, अनूदक आर० जी० कालिंगवुड, आक्सफोर्ड १९२७, पृ० ९४। २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२. एस्थेटिक, पृ० ४७, २२, ५५, ४७-४८, २२, ५५, २, ५५। ३३. एस्थेटिक, पृ० २। ३४, ३५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१, १७१। ३६, ३७. एस्थेटिक, पृ० १२, १। ३८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१। ३९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१। ४०, ४१. एस्थेटिक, पृ० २, २। ४२. एस्थेटिक, पृ० २, "Now, the first point to be firmly fixed in the mind is that intuitive knowledge has no need of a master, nor to lean upon any one; she does not need to borrow the eyes of others, for she has excellent eyes of her own." ४३. एस्थेटिक, पृ० ५। ४४. एस्थेटिक, पृ० ३। ४५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१। ४६, ४७. एस्थेटिक, पृ० ५, ६। ४८. एस्थेटिक, पृ० ६ "Without matter spiritual activity would not forsake its abstractness to become concrete and real activity, this or that spiritual content, this or that definite intuition." ४९. समीक्षालोक-भगीरथ दीक्षित, पृ० ४९३। ५०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७१, १७२। ५१. एस्थेटिक, पृ० ५-६—"Matter, in its abstraction is mechanism, passivity; it is what the spirit of man suffers but not produce." ५२. एस्थेटिक, पृ० ६। "These are not two acts of ours, opposed to one another; but the one is outside us and assaults and sweeps us off our feet, while the other inside us tends to absorb and identify itself with that which is outside. Matter, clothed and conquered by

form, produces concrete form." ५३. एस्थेटिक, पृ० ६। "It is the Matter, the content, which differenciates one of our intuitions from another : the form is constant : it is spiritual activity, while matter is changable." ५४, ५५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७२, १७१। ५६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ४२२। ५७. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ५८। ५८. समीक्षा लोक, पृ० ४८७। ५९. काव्य में अभिव्यंजनावाद-लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० ९। ६०. 'जिज्ञासा' पत्रिका, १९६८, पृ० १६। ६१. चिन्तामणि भाग २, पृ० १७२। ६२. एस्थेटिक, पृ० ८। "Every true intuition or representation is lso expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and mere natural fact." ६३, ६४. एस्थेटिक, पृ० ८। ६५. एस्थेटिक, पृ० ९। "It is impossible to distinguish intuition from expression in the cognitive process. One appears with the other at the same instant, because they are not two, but one." ६६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७२। ६७. एस्थेटिक, पृ० ९। "...people say that they *have many great thoughts in their minds, but that they are* not able to express them, but if they really had them, they would have coined them in to just so many beautiful, sounding words, and thus have expressed them. If these thoughts seem to vanish or to become few and meagre in the act of expressing them, the reason is that they did not exist or really were few and meagre." ६८, ६९. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ६४, ६५। ७०, ७१, ७२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७६-७७, १७६, १७७। ७३. एस्थेटिक, पृ० ९५। A. "But there is, in fact, an abyss between a man who is the prey of anger with all its natural manifestations and another man who expresses it aesthetically" B. "In common speech, sometimes it is the words of the poet that are called expressions × × × × ×, which manifest cheerfulness." C. "Expression in naturalistic sense simply lacks expression in the spiritual sense, that is to say the very character of activity and of spirituality." ७४, ७५, ७६, ७७. एस्थेटिक, पृ० ९६, ९६, ९६, ९६। ७८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७७। ७९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७७। ८०. एस्थेटिक, पृ० १२। ८१. एस्थेटिक, पृ० १३-१४। "If an epigram be art, why not a

simple word ? If a story, why not the news-jottings of the journalist ? If a landscape, why not a to pographical sketch." ८२. एस्थेटिक, पृ० "Art is always internal and what is called external is no longer a work of Art." ८३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७२। ८४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७३। ८५. एस्थेटिक, पृ० ६८। ८६. एस्थेटिक, पृ० ६८। ८७. दि थिअरी आव ब्यूटी, पृ० १३६। ८८. एस्थेटिक, पृ० ७०। ८९. एस्थेटिक, पृ० ११४ "All the books dealing with classifications and systems of the arts could be burned without any loss whatever." ९०. एस्थेटिक, पृ० ७०। ९१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७३। ९२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७३। ९३, ९४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८६, १८०। ९५. एस्थेटिक, पृ० १७। ९६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७३-७४। ९७. एस्थेटिक, पृ० ७५। ९८. एस्थेटिक, पृ० ७६। ९९. दि आइ-डीआ आफ हिस्ट्री, पृ० १९१। १००, १०१. एस्थेटिक, पृ० १७, १७। १०२. दि थीअरी आव ब्यूटि, पृ० १२६। १०३. दि थिअरी आव ब्यूटी, पृ० १२६। १०४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८३। १०५, १०६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २४४, २४५ : डा० रामविलास शर्मा। १०७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८३। १०८, १०९. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८३, १८३। ११०. एस्थेटिक, पृ० १६ 'The aesthetic fact, therefore is form and nothing but form.' १११. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७२। ११२. एस्थेटिक, पृ० १५। ११३. आस्था और सौन्दर्य—डा० रामविलास शर्मा, पृ० २१। ११४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७४। ११५. एस्थेटिक, पृ० १७। ११६. एस्थेटिक, पृ० ९८। ११७. आस्था और सौदर्न्य, पृ० २२। ११८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६४। ११९. आस्था और सौन्दर्य, पृ० २४। १२०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७५। १२१, एस्थेटिक, पृ० ९९। १२२. एस्थेटिक, पृ० ९८। १२३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८। १२४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२२। १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५२, २१४, २१४, २१४, २१४, १६९। १३१, १३२. ए शार्ट हिस्ट्री आव लिट्रेरी क्रिटि-सिज्म : बिमसाट और ब्रुक्स, पृ० ५००, ५००। १३३. समीक्षा लोक : भगीरथ दीक्षित, पृ० ४८५। १३४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६९। १३५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२५। १३६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२५। १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ९५, ९५, ९७, ९७, ९९, १४२। १४३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ४३० : डा० नगेन्द्र। १४४, १४५, १४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २२९, २३०, २३०। १४७. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ४३१। १४८. समीक्षा लोक : भगीरथ दीक्षित, पृ० ४८५। १४९. समीक्षा लोक :

भगीरथ दीक्षित, पृ० ४८६ । १५०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२६ । १५१, १५२, १५३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७४, ६८, २१२ । १५४. काव्य में अभिव्यंजनावाद : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० ४८ । १५५. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, पृ० ४२१ । १५६. समीक्षा लोक : भगीरथ दीक्षित, पृ० ४८५ । १५७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४२६-३० । १५८. ए हिस्ट्री आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ५०३ । "A FEATURE of Croce's system which has provoked some complaint from his critics is his strong tendency to assert the equivalence of terms that are ordinarily thought of as separate." १५९. फोर एण्ड ट्वेन्टी माइन्ड्स : जिओवान्नी पेपिनि प्रिंसिपुल्स आव लिट्रेरि क्रिटिसिज्म आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० २५५ पर उद्धृत : "The entire aesthetic system of Croce amounts to merely a hunt for pseudonyms of the word 'Art', and may indeed be stated briefly and accurately in this formula : art = intuition = expression = imagination = fancy = beauty. And you must be careful not to take these words with the shadings and distinctions which they have in ordinary or scientific language. Not a bit of it. Every word is merely a different series of syllables signifying absolutely and completely the same thing." १६०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४-१६५ । १६१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४ । १६२, १३३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०२, ६०२ । १६४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१२ । १६५, १६६, १६७, १६८, १२६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१३, २१४, २१४, २१५, २१८, २१८ । १७०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६३ । १७१. काव्य बिम्ब, पृ० १ : डा० नगेन्द्र और साहित्य विज्ञान, पृ० ३१२ : डा० गणपति चन्द्र गुप्त । १७२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८ । १७३. भाषा और संवेदना, पृ० ६ : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी । १७४. काव्य बिम्ब : : डा० नगेन्द्र, पृ० १ । १७५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४५ । १७६, १७७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८ । १७८. In its simplest form, it is a picture made out of words. C. D. Lewis : Poetic Image, Page 18. १७९. A poetic image is a word-picture charged with emotion or passion (same page 19) १८०. An image is a word which arouses ideas of sensory peraption. (The poetic-pattern : Robin Skelton, Page 90). १८१. काव्य बिम्ब : डा० नगेन्द्र, पृ० ५ । १८२, १८३, १८४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४७, १४७, २२९ । १८५, १८६, १८७. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८, २२९, १४५ । १८८. काव्य बिम्ब, पृ० ५ । १८९. काव्य बिम्ब, पृ० ६ ।

१६०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४ । १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६. चिन्तामणि. भाग २, पृ० १०६, ११०, १११, १११, १०६, १११ । १६७, १६८, १६६, २००, २०१, २०२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११०, १०६, १११, १०६, १०६, १०६-११० । २०३. प्रामाणिक हिन्दी शब्दकोष । २०४. चेम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी । २०५. लैंग्वेज एण्ड रियल्टी-डबल्यु० एम० अर्बान । २०६. डिक्शनरी आव लिट्रेरिटर्म्ज़-शिपले । २०७. साहित्य-विज्ञान, पृ० ३३३ । २०८. दि मीनिंग आव मीनिंग—आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० ८६-१०७ । २०६. डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेरिटर्म्ज़ : शिपले, पृ० ४०८ । २१०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०६ । २११, २१२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ५, ४-५ । २१३, २१४, २१५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २५२, २५२, २५२ । २१६, २१७, २१८, २१६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३, २, ३, ४ । २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २५२, ४, ४, ४, ४, ३७, ३३ । २२७, २२८, २२६, २३०, २३१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४०, ४०, ४१, ४२, ६ । २३२, २३३, २३४, २३५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६-७, ६, ८, १० । २३६, २३७, २३८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३४, ३४, २५ । २३६, २४०, २४१, २४२, २४३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ७, १५, ६६, ३३, ३४ । २४४, २४५, २४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३३, ३३, ६२ । २४७. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५-६६—सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक । २४८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ७ । २४६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३४ । २५०. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—सं० डा० गुलाबराय, पृ० २१ । २५१. आलोक रामचन्द्र शुक्ल, सं० डा० गुलाबराय, पृ० २२ । २५२. रस सिद्धान्त, पृ० २७१ । २५३, २५४. रस सिद्धान्त, पृ० २७१, २४६ । २५५. रस सिद्धान्त, पृ० २७२ । २५६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३४ । २५७, २५८. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १५७, १५७ । २५६. रामचन्द्र शुक्ल : सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १५७ । २६०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६ । २६१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—सं० डा० गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २०५ । २६२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३ । २६३, २६४, २६५. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०५, १७३, १७३ । २६६. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २५३ । २६७. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८ । २६८. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८ । २६६, २७०. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २, २ । २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२, १२, १२, २७, २७, २७ । २७७, २७८. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २०, २० । २७६, २८०, २८१, २८२, २८३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२, १७-१८, १७, १८, १८ । २८४, २८५, २८६. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१, २२, २२ । २८७, २८८. चिन्तामणि, भाग २,

पृ० २७, २७। २८६. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ८८। २६०. इतिहास आलोचना—डा० नामवर सिंह, पृ० १७२। २६१. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ७५। २६२. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ७७। २६३. इतिहास और आलोचना, पृ० १७२। २६४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा० राम शंकर शुक्ल रसाल, पृ० १-२। २६५. इतिहास और आलोचना, पृ० १७२। २६६. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ८६। २६७. सरस्वती, दिसम्बर १६०१ (मि० ब० वि०, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृ० १) २६८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ज० ना० न०, पृ० २०। २६६. इतिहास और आलोचना, पृ० १७६। ३००. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १। ३०१. इतिहास और आलोचना, पृ० १७३। ३०२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६६। ३०३. इतिहास और आलोचना, पृ० १७५। ३०४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १। ३०५, ३०६, ३०७, ३०८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १-२, ५, १, ५। ३०६. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ३५। ३१०. समाजवादी साहित्य के सर्जनात्मक सिद्धान्त, पृ० ३४, सोवियत दर्पण खण्ड ३ अंक ४७, २१ सितम्बर १६६८, उपशीर्षक-सोवियत साहित्यालोचन के सैद्धांतिक अनुभव, ले० ए० म्यासिनकोव। ३११, ३१२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २, ३। ३१३. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ३३। ३१४. इतिहास और आलोचना, पृ० १८७। ३१५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६२। ३१६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६। ३१७. समाजवादी साहित्य के सर्जनात्मक सिद्धांत, पृ० ३४, सोवियत दर्पण, खण्ड ३, अंक ४७, २१ सितम्बर, १६६८। ३१८, ३१६, ३२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १, ५, ५ 'वक्तव्य' प्रथम संस्करण। ३२१, ३२२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २, २ 'वक्तव्य', प्रथम संस्करण। ३२३. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ५६। ३२४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५ 'वक्तव्य' प्रथम संस्करण। ३२५, ३२६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५ 'वक्तव्य' प्रथम संस्करण। ३२७. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ५७। ३२८, ३२६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २ 'वक्तव्य' प्रथम संस्करण। ३३०, ३३१. इतिहास और आलोचना, पृ० १६०-१६१, १७५। ३३२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०। ३३३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १६८-१६६। ३३४, ३३५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद १६३१ भूमिका, पृ० १, ८। ३३६, ३३७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८, १०-११। ३३८. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ६१। ३३६. निवेदन, पृ० १, प्रथम संस्करण, १६५२। ३४०. इतिहास और आलोचना, पृ० १७६। ३४१. इतिहास और आलोचना, पृ० १७६-१७७। ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७. इतिहास और आलोचना, पृ० १७७, १८०, १८०, १८१, १८२, १८२।

# समाहार

व्यावहारिक समालोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की अद्वितीय प्रतिष्ठा लगभग सर्वमान्य है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन कि 'समीक्षा-क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था, न अब (उनके स्वर्गवास के अनन्तर) कोई उनका समकक्ष आलोचक है[1] सन्देह से परे है; किन्तु डॉ० जयचन्द्रराय का यह कथन भी असंदिग्ध है कि 'आचार्य शुक्ल आलोचना के सिद्धान्तों के व्याख्याता अथवा निर्माता के रूप में उतने प्रसिद्ध नहीं, जितने प्रयोगात्मक आलोचना लिखने वाले रसग्राही विद्वान् के रूप में।'[2] यह सकारण है, पहला कारण यह है कि उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा के ही अनेक ग्रन्थ लिखे और साहित्य-शास्त्र अथवा समीक्षाशास्त्र पर एक भी स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा। 'रस मीमांसा' का भी प्रकाशन उनके जीवन-काल में न हो सका था। दूसरा कारण यह है कि उनकी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों में स्थान-स्थान पर संदर्भवश प्रतिपादित और कुछ स्वतन्त्र निबन्धों में विवेचित नाना महत्वपूर्ण साहित्य-सिद्धान्तों को काफी दिनों तक गम्भीर एवं सूक्ष्म सैद्धान्तिक दृष्टि के अभाव के कारण सुव्यवस्थित साहित्यशास्त्र का रूप न दिया जा सका। दूसरे शब्दों में भारतीय मानस उसे ग्रहण करने में अक्षम रहा। डॉ० रामविलास शर्मा ने उन्हें आलोचना के क्षेत्र में 'भवभूति का समानधर्मा'[3] ठीक ही कहा है। प्रायः लोगों ने यही समझा कि उन्होंने प्राचीन विचारों की व्याख्यामात्र की है, किन्हीं नवीन विचारों अथवा सिद्धान्तों की स्थापना नहीं। जिन लोगों ने किसी सीमा तक उन्हें साहित्य-सिद्धान्तकार समझा भी, वे भी उनका उचित मूल्यांकन न कर सके, वे निराधार निर्णय ही देते रहे। किन्तु उनके सैद्धान्तिक पक्ष के अध्ययन के आधार पर यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य-सिद्धान्तकार के रूप में भी वे अद्वितीय हैं। उनका कोई समकक्ष नहीं। उनकी मौलिक जीवनदृष्टि की ही भाँति उनकी साहित्यिक दृष्टि भी मौलिक है। उनके गम्भीर, क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की ही भाँति उनके साहित्यिक दर्शन भी गम्भीर, क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक हैं। यहाँ हम उनके जीवन-दर्शन के समानान्तर उनके साहित्य-दर्शन का स्वरूप निरूपित करने का प्रयास करेंगे।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी का प्रयोजन और विकास होता है।'[4] उनका यह कथन उनके जीवनदर्शन और साहित्यदर्शन का मूलाधार है। इसमें लोक (जगत्), जीवन और साहित्य का वस्तुगत अन्तर्सम्बन्ध सूत्रबद्ध है।

जिस प्रकार शुक्ल जी का जीवन और जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण विज्ञान पर समाधारित है, ठीक उसी प्रकार उनका साहित्यिक दृष्टिकोण भी विज्ञान पर समाधारित है। विज्ञान की जानकारी के आधार पर उनकी जीवनदृष्टि वस्तुवादी, पर्याप्त सीमा तक भौतिकवादी, विकासवादी एवं लोकवादी बनी, उनकी चिन्तन-पद्धति द्वन्द्वात्मक हुई। परिणामतः उनकी साहित्यिक दृष्टि भी उसी के अनुरूप विकसित हुई। विज्ञान के आधार पर उनके जीवन एवं जगत् सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण का निर्माण हुआ और उनके जीवन एवं जगत् सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण पर उनके साहित्यिक दृष्टिकोण का निर्माण हुआ। यही उनका यथार्थ क्रम है।

शुक्ल जी के जीवन और साहित्यिक सिद्धान्तों के अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका साहित्य-दर्शन पूर्णतया उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप है। उनका जीवनदर्शन ही उनके साहित्य-दर्शन की उर्वर पृष्ठभूमि है। परिणामतः जिस प्रकार उनकी जीवनदृष्टि एवं विश्वदृष्टि तत्त्वतः वस्तुवादी, द्वन्द्वात्मक, विकासवादी एवं सर्वथा लोकवादी है, ठीक उसी प्रकार उनकी साहित्यिक दृष्टि भी तत्त्वतः वस्तुवादी, द्वन्द्वात्मक, विकासवादी एवं सर्वथा लोकवादी है। उनका कोई भी साहित्य-सिद्धान्त ऐसा नहीं, जो उनकी इस मूल वैज्ञानिक दृष्टि से सम्बद्ध न हो। जिस प्रकार जीवन एवं समाज-दर्शन के क्षेत्र में सामन्तवाद का तख्ता पलट कर उन्होंने लोकवाद की प्रतिष्ठा की, ठीक उसी प्रकार साहित्य-दर्शन के क्षेत्र में भी सामन्ती साहित्य-शास्त्र को ध्वस्त कर उन्होंने लोकवादी साहित्यशास्त्र की संरचना की। जिस प्रकार लोक-मंगल की भावना उनके जीवन-दर्शन की नियामिका है, ठीक उसी प्रकार वह उनके साहित्य दर्शन की भी नियामिका है। उनका हर शब्द लोक-मंगल की भावना के वशीभूत है। जिस प्रकार उनके जीवन-दर्शन में व्यक्तिवाद और व्यक्तिहित लोकवाद और लोकहित के अधीन हैं, ठीक उसी प्रकार उनके साहित्य दर्शन में भी। जिस प्रकार उनके लोकवादी जीवन-दर्शन में लोक मंगल विधायक लोकधर्म के अन्तर्गत ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय है, ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का संयोग है ठीक उसी प्रकार उनके साहित्यिक दर्शन में भी ज्ञान, भाव और कर्म की सम्यक् प्रतिष्ठा है। इनमें ज्ञान प्राथमिक तत्त्व है, वह भावों का मार्ग-दर्शक है, उनके लिए विषय या आधार प्रस्तुत करने वाला है। भावों के लिए उसकी अनिवार्य प्रतिष्ठा है। उससे स्वतन्त्र भाव की सत्ता नहीं। उनका स्पष्ट कथन है कि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है।' किंतु ध्यातव्य है कि 'ज्ञान' प्राथमिक तत्त्व होते हुए भी उनके साहित्य-दर्शन का प्रधान और केन्द्रीय तत्त्व नही है। उनके साहित्य दर्शन का प्रधान और केन्द्रीय तत्त्व है 'भाव'। किन्तु फिर भी उनके समूचे साहित्य-दर्शन को 'भाव-योग' की संज्ञा देना उचित नहीं, अपितु भाव-योग की प्रधानता स्वीकार करना ही उचित है। उनके जीवन-दर्शन की ही भांति उनके साहित्य-दर्शन का अंगी रूप लोकवाद है—भावयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग जिसके अंग या अवयव मात्र हैं। इनमें से कोई भी अवयव कितना भी प्रधान क्यों न हो वह लोकवाद का स्थानापन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार उनका लोकधर्म ज्ञान के

अभाव में अन्धा, भक्ति के अभाव में हृदयशून्य या निष्प्राण और कर्म के अभाव में लूला-लँगड़ा हो जाता है, ठीक उसी प्रकार उनका साहित्यिक लोकवाद भी ज्ञान के अभाव में अन्धा, भाव के अभाव में हृदयशून्य या निष्प्राण और कर्म के अभाव में निर्बल हो जाता है। इनमें से किसी भी पक्ष की उपेक्षा उन्हें स्वीकृत नहीं। यदि उनकी दृष्टि में साहित्य भाव-योग मात्र होता तो रहस्यवाद के विरोध का कोई प्रश्न ही न उठा होता।

शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।'[5] इससे स्पष्ट है कि उनके साहित्यशास्त्र में कर्म सौन्दर्य की भी अनिवार्य सम्यक् प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा लोक-मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनों रूपों में है। जिस प्रकार वे जीवन में कोमल और कठोर, मृदु और उग्र दोनों प्रकार के कर्मों में सौंदर्य के दर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी कर्म-सौन्दर्य के दोनों पक्षों का समन्वय वे चाहते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि —'कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म-सौंदर्य के एक दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृ-भाव के प्रदर्शन और आचरण में ही काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्स्टाय के समय से चला है, वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्म-क्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखायी पड़ती है।'[6]

शुक्ल जी के साहित्य-दर्शन में साहित्य अन्तिम साध्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया गया है। उसकी प्रतिष्ठा अन्ततः लोक-मंगल के साधन के रूप में ही है। लोक-मंगल के साधन के रूप में ही वह साध्य है, अन्यथा नहीं। उनकी दृष्टि में साहित्य अपना प्रयोजन स्वयं नहीं, अपितु वह लोक-जीवन के लिए प्रयोजनीय है। पश्चिमी कलावाद का खण्डन इसका स्पष्ट प्रमाण है। 'साहित्य की परिकल्पना' नामक अध्याय के अन्तर्गत किए गए साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन से यह बात भली भाँति सिद्ध है।

आचार्य शुक्ल के साहित्य-शास्त्र की उपादान सामग्री मुख्यतः परम्परा-प्राप्त है। इसके दो मुख्य स्रोत हैं : १—भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा और २—पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा। इनमें प्रधान है, भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस—ये पाँच संप्रदाय

प्रचलित रहे हैं। इन सभी काव्य-सम्प्रदायों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। इनमें से किसी को भी उन्होंने पूर्णतया निरर्थक नहीं समझा और न किसी को पूर्णतया सार्थक। अपनी जीवन-दृष्टि के अनुसार उन्होंने इन सब का मूल्यांकन किया और सूक्ष्म विश्लेषणात्मक विवेचन के आधार पर सभी का उपयोगी सार तत्त्व ग्रहण किया और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सहारे अपेक्षाकृत पूर्ण सर्वांगीण एवं स्वस्थ साहित्यशास्त्र की सर्जना की। यही भारतीय काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा से उपलब्ध विचार-निधि उनके मौलिक साहित्य शास्त्र का आधारभूत मूल द्रव्य (Matter) है, जिसके अभाव में उनके साहित्यशास्त्र का आकार ग्रहण करना कठिन ही नहीं, सर्वथा असम्भव था।

पाश्चात्य काव्य-विचारणा उनके साहित्य-शास्त्र की मूल सामग्री नहीं, किन्तु सहायक अथवा पोषक सामग्री अवश्य है। इस सामग्री का उपयोग उन्होंने सजगतापूर्वक अपनी साहित्यिक स्थापनाओं के समर्थन में ही अधिकांशतः किया है। किसी भी पाश्चात्य विचारक या विचारणा का अन्धानुकरण उन्होंने नहीं किया। जो भी पाश्चात्य काव्य-विचारणा उनकी अपनी मौलिक साहित्यिक दृष्टि के प्रतिकूल पड़ी, उस पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक प्रहार किया और जो विचारणा अनुकूल पड़ी, उससे उन्होंने अपनी मान्यताओं को परिपुष्ट करते हुए उनका प्रबल प्रतिपादन किया। इसी रूप में उन्होंने पाश्चात्य काव्य विचारणा का उपयोग किया है।

भारतीय काव्य मीमांसा की शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलङ्कार आदि बातों को उन्होंने स्पष्ट और स्वच्छ समीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी समझा और बताया कि 'देशी-विदेशी, नई-पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरोत्तर नवीन विचार-परम्परा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होता रहे।'[७] यहाँ यह कहना आवश्यक है कि साहित्य-सिद्धान्तों अथवा समीक्षा-पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि की आवश्यकता अनुभव करने का अर्थ है उन्हें विकासवादी दृष्टिकोण से देखना। यह कुछ कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं। उनके समय में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अधिकांश लोग ऐसे ही थे जो लक्षणों की पुरानी लकीर से ज़रा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते थे और जो नवीनता के पक्ष में थे भी, उन्हें विलायती समीक्षा क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरप के ग्रन्थकारों की नाममाला जपने से ही फ़ुरसत न थी। ऐसे समय में उन्होंने प्राचीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति एवं समृद्धि की न केवल आवश्यकता महसूस की, बल्कि उन्हें परिष्कृत, उन्नत एवं समृद्ध करने का सफल प्रयास भी किया।

भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों में शुक्ल जी ने सर्वाधिक महत्त्व रस-सिद्धांत को दिया और उसे ही अपने साहित्यशास्त्र में केन्द्रीय एवं प्रधान सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में रस-सिद्धान्त का केन्द्रीय तत्त्व है साधारणीकरण और साधारणीकरण का केंद्रीय तत्त्व है श्रोता-पाठक-सामाजिक या सहृदय मात्र का आश्रय

के साथ तादात्म्य अर्थात् लोकहृदय की एकता। उनकी रस सम्बन्धी धारणा प्राचीन धारणा से हर दृष्टि से उत्कृष्ट है।

रस-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध भावों से है। उनके साहित्यदर्शन में भावों की ही प्रधानता है, यह बताया जा चुका है। वस्तुतः रस की प्रधानता भावों की ही प्रधानता है, रस की प्रधानता और भावों की प्रधानता में कोई विरोध नहीं। रस या भावों की प्रधानता उनके जीवन-दर्शन के सर्वथा अनुरूप है। उनके जीवन-दर्शन में भी भावों की ही प्रधानता है। 'मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं'[८]—वाक्य की याद दिलाना ही काफी है।

जिस प्रकार जीवन में कोमल और कठोर दोनों प्रकार के सभी भावों की आवश्यकतानुसार उपयोगिता उन्हें मान्य है, उसी प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में भी। उनका स्पष्ट कथन है कि 'काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यञ्जना में नहीं माना जा सकता, जैसा कि टालसटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।'[९]

आचार्य शुक्ल ने पूर्व विवेचित रस सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान और लोकवादी जीवनदृष्टि की ठोस पृष्ठभूमि प्रदान की। उन्होंने रस की नित्य आनन्द स्वरूपता का खण्डन कर साहित्य की, मात्र मनोरंजन का साधन बनने से रक्षा की और उसके कंधों पर लोकमंगल के विधान का अत्यन्त गम्भीर उद्देश्य एवं कार्यभार सौंपा। इसी प्रकार उसकी अलौकिकता का खण्डन कर उसे लोक से गहराई के साथ सम्पृक्त किया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आचार्यों की रस-विचारणा में 'लोकवाद' का तत्त्व था ही नहीं, असंदिग्ध रूप से साधारणीकरण के रूप में वह विद्यमान था, किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि रस आनन्दस्वरूप होकर मनोरंजन और अलौकिक होकर जीवन निरपेक्ष-सा हो गया था, शुक्ल जी ने अपनी लोकवादी जीवन-दृष्टि के अनुरूप उसे स्वर्ग से जीवन में अवतरित कर 'लोक सत्ता' में 'व्यक्ति-सत्ता के विलय' के रूप में उसकी व्याख्या की और आनन्द के स्थान पर सत्कर्म में प्रवृत्ति को उसकी चरम परिणति बताया और अन्ततः उसे लोक-मंगल का साधक ठहराया।

शुक्ल जी ने अपनी वस्तुवादी दृष्टि के अनुरूप भाववादी विचारकों के प्रतिकूल जीवनगत एवं काव्यगत भावों की एकता का प्रबल प्रतिपादन किया। जीवनगत भावों का प्रकृत स्वरूप काव्य के क्षेत्र में आकर बदल नहीं जाता—यही उनकी मूल आधारिक मान्यता है। यह मान्यता उस भाववादी (Idealist) मान्यता से भिन्न है जो साहित्यगत भाव को जीवनगत भाव से सर्वथा भिन्न मानती है।

प्राचीन आचार्यों ने अपनी भाववादी विचार-पद्धति के कारण रस को साहित्य तक ही सीमित कर रखा था, किन्तु क्रान्तिकारी चिन्तक शुक्ल जी ने उस सीमा का न केवल उल्लंघन किया अपितु उसे पूर्णतः ध्वस्त कर रस को सम्पूर्ण जीवन में प्रसृत

किया। रस की अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत कर प्रत्यक्ष लौकिक जीवनगत रस और काव्यगत रस की एकता स्थापित की। प्रत्यक्ष जीवन में रसात्मक बोध की उनकी धारणा सर्वथा मौलिक धारणा है। प्रत्यक्ष अनुभूति की ही भाँति स्मृति द्वारा जागरित अनुभूति को भी उन्होंने कुछ दशाओं में रसात्मक माना है। उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने स्मृति द्वारा जागरित अनुभूति को भी रसात्मक नहीं माना था। संक्षेप में उनकी यह स्थापना कि 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है'[10] भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। उनकी यह स्थापना सतर्क और साधार है, तर्कहीन पूर्वाग्रह नहीं। इसका विस्तृत विवेचन 'रस-सिद्धांत' के अन्तर्गत किया गया है।

शुक्ल जी ने रसदशा को हृदय की मुक्तावस्था या लोकहृदय में लीन होने की दशा कहा है। रस की उनकी यह परिभाषा मौलिक, प्राचीन आचार्यों की परिभाषा से नितान्त भिन्न और निश्चय ही उत्कृष्ट है, यह हमारे विवेचन से स्पष्ट है। रस संबंधी उनकी यह धारणा साहित्य-दर्शन के क्षेत्र में उनके लोकवादी जीवन-दर्शन का ही प्रतिबिम्ब है, जिसमें व्यक्ति के निजमंगल और लोकमंगल के संगम की स्पष्ट स्वीकृति है। व्यक्ति-हृदय और लोक-हृदय की एकता का आशय तत्वतः भावात्मक विरोधाभाव होने के कारण आलम्बनगत इजारेदारी का भी अभाव होता है, अतः प्रकारान्तर से उसका अर्थ है व्यक्ति-हित और लोक-हित का संगम।

रस सिद्धान्त की अपनी व्याख्या में अनेक नवीनताओं को समाविष्ट करने के बावजूद शुक्ल जी ने रस को आस्वाद स्वरूप ही माना है, आस्वाद्य नहीं। उनकी इस धारणा पर उनके समग्र काव्य-दर्शन के सन्दर्भ में विचार करने पर एक महत्त्वपूर्ण एवं अनुपेक्षणीय असंगति विद्यमान मिलती है। रस को आस्वाद रूप में मानते हुए भी उसे वे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं, जो अवैज्ञानिक है। उनके रस संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट है कि वह कोई काव्यगत तत्व नहीं, वरन् आस्वाद रूप होने से सहृदयगत तत्व है। ऐसी दशा में उसे काव्यात्मा कैसे माना जा सकता है, क्योंकि काव्यात्मा का निवास तो काव्य में ही होना चाहिए, काव्य के बाहर सामाजिक में नहीं। इस असंगति पर रस स्वरूप के विवेचन के सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं शब्द-शक्ति (ध्वनि) सम्बन्धी सिद्धान्त शुक्ल जी के साहित्य शास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हुए भी गौण सिद्धान्तों के ही रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये समस्त काव्यतत्व रस-तत्व के सहायक या पोषक तत्त्व के ही रूप में उन्हें स्वीकृत हैं, स्वतन्त्र रूप में नहीं। उनकी सत्ता साधन-सिद्धान्तों के ही रूप में है, साध्य सिद्धान्तों के रूप में नहीं।

आचार्य शुक्ल का अलंकार-विवेचन अपेक्षाकृत स्वच्छ और प्रस्फुट है। उसकी वैज्ञानिकता और व्यावहारिक उपयोगिता असंदिग्ध है। उन्होंने अलङ्कारों को जीवित एवं सक्रिय रूप में देखा है। उनके द्वारा निरूपित अलङ्कारों की परीक्षा की कसौटी इतनी युक्तियुक्त और गणितीय है कि उसके माध्यम से किसी भी अलङ्कार की पाई-पाई

की कीमत दशमलव के अंकों तक निकाली जा सकती है। उनकी दृष्टि में मार्मिक भावना या रमणीय अर्थ ही अथवा दूसरे शब्दों में सरसता ही काव्य का नित्य लक्षण है, अलङ्कार नहीं। अतः काव्य में रस ही साध्य है, अलङ्कार नहीं। अलङ्कार भावानुभूति अथवा रसानुभूति को तीव्र करने के साधन मात्र हैं। इसी रूप में काव्य के अन्तर्गत उनकी सार्थकता है, अन्यथा वे भारमात्र हैं। उनके अनुसार यदि किसी वर्णन में अलङ्कार भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक नहीं, तो वे काव्यालङ्कार नहीं। इसी प्रकार अलङ्कार्य और अलंङ्कार का स्पष्ट भेद निरूपण भी उनके अलङ्कार-विवेचन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्ण्य वस्तु का निर्देश करने वाले अलङ्कारों को उन्होंने अलङ्कार नहीं माना। उनकी दृष्टि में अलंकार वर्णन की प्रणालियाँ हैं, वर्ण्य विषय नहीं।

अलङ्कार की ही भाँति रीति तत्त्व भी उनके साहित्यशास्त्र में काव्य में रस तत्त्व के सहायक के रूप में ही प्रतिष्ठित है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य मतों की सापेक्षता में काव्य में रीति तत्त्व के सदुपयोग एवं दुरुपयोग दोनों पक्षों पर विचार किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वे काव्य में नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से रीति-विधान को आवश्यक मानते हैं, किन्तु वहीं तक जहाँ तक उसकी सहायता से भाव-व्यञ्जना और रस परिपाक में सहायता मिले। उनकी दृष्टि में काव्य में रस की प्रतिष्ठा प्रमुख और रीति की प्रतिष्ठा गौण है। वे रीति को रस के आश्रित मानते हैं। उनके साहित्य-शास्त्र में जहाँ रस साध्य के रूप में स्वीकृत है, वहीं रीति रस-परिपाक के साधन मात्र के रूप में, साध्य रूप में नहीं।

शुक्ल जी ने अपने साहित्य-दर्शन में वक्रोक्ति को भी उपेक्षित नहीं किया है। उसके उपयोग की सार्थकता वे एक सीमा तक स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके दुरुपयोग के प्रति वे पूर्णतया सचेत भी हैं। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति काव्य का नित्य लक्षण नहीं। उन्हें उक्ति की वचनभंगी या वक्रता वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं। अलङ्कार और रीति तत्त्व की ही भाँति उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति तत्त्व भी रसाधीन है, स्वतन्त्र नहीं। भावानुभूति या रसानुभूति के रूप में ही उसकी सार्थकता है, अन्यथा वह काव्य के लिए व्यर्थ है।

शुक्ल जी के साहित्य-शास्त्र में शब्द-शक्ति संबंधी सिद्धान्त की सहायक सिद्धांतों में अप्रतिम प्रतिष्ठा है। वे काव्य में योग्य और उपपन्न अर्थ की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। योग्य और उपपन्न अर्थ की प्राप्ति अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीनों शब्द शक्तियों की सहायता से होती है। जहाँ इनमें से किसी भी प्रक्रिया से योग्य और उपपन्न अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, वहाँ वह काव्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। अतः वे काव्य में उक्त तीनों शब्दशक्तियों की सत्ता स्वीकार करते हैं। किन्तु वे अभिधाशक्ति को ही—प्राथमिक, प्रधान एवं लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों के मूल में निहित मानते हैं। इसी आधार पर उन्होंने वाच्यार्थ को भी प्रधान एवं लक्ष्यार्थ तथा

व्यंग्यार्थ के मूल में निहित माना है। शब्द-शक्तियों के विवेचन के ही संदर्भ में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद काव्यत्व या काव्य की रमणीयता का अधिवास सम्बन्धी स्थापना की है, जिसके अनुसार उसका अधिवासवाच्यार्थ में ही रहता है, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। उनकी यह स्थापना उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण है। सत्यता की दृष्टि से यद्यपि डॉ० नगेन्द्र जैसे प्रख्यात आलोचकों ने उसे सही नहीं माना है, किन्तु हमारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसकी सत्यता असंदिग्ध है। उसके प्रतिकूल दिए गए तर्क निर्बल हैं। वह स्थापना पूर्णतया युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है।

शब्द-शक्ति के विवेचन के ही अन्तर्गत भाव-व्यंजना को वस्तु व्यंजना और अलंकार व्यंजना से भिन्न कोटि की वृत्ति निरूपित करना उनकी नवीन एवं मौलिक उपलब्धि है, जिससे उनकी सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का परिचय मिलता है।

औचित्य की किसी सिद्धान्त-विशेष के रूप में प्रतिष्ठा उनके साहित्य शास्त्र में नहीं है। उसे दृष्टि विशेष के ही रूप में ग्रहण किया गया है, किन्तु उसके विवेचन से यह स्पष्ट है कि वह रसानुभूति में अत्यन्त सहायक है।

शुक्ल जी द्वारा किए गए छन्द और लय सम्बन्धी विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे छन्द-बन्धन के त्याग में अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास देखते हैं। अन्य समस्त सहायक तत्त्वों को ही भाँति उनकी दृष्टि में 'छन्द' और 'लय' का विधान भी काव्य में सर्वथा रसाश्रित है। काव्य में रसानुरूप होने पर ही उनकी सार्थकता होती है। रस के विपरीत होने पर वे दोष हो जाते हैं।

आचार्य शुक्ल के साहित्यशास्त्र में प्रकृति-चित्रण, प्रतीक-योजना, बिम्ब-विधान आदि की समीचीन प्रतिष्ठा है। उनका प्रकृति चित्रण सम्बन्धी सिद्धांत उनकी क्रांतिकारी व्यापक रसदृष्टि का सहज परिणमन है। प्राचीन आचार्यों की रसदृष्टि परिमित थी अतः उन्होंने प्रकृति को केवल उद्दीपन के रूप में स्वीकार किया था, आलम्बन के रूप में नहीं। शुक्ल जी ने अपनी लोकव्यापी रसदृष्टि के अनुसार उसे आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह भारतीय साहित्य-शास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण छलांग थी। प्राचीन भाववादी साहित्याचार्यों और शुक्ल जी की रसदृष्टियों में जो मौलिक अन्तर है, वही उनकी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओं की पृथकता का मूल कारण है। शुक्ल जी का प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सिद्धान्त भी सर्वथा उनके रस-सिद्धान्त के अनुरूप और उससे अनुशासित है।

इसी प्रकार उनके साहित्य दर्शन के अनुसार प्रतीक योजना एवं बिम्ब-विधान की भी काव्यगत सत्ताएँ रससापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। किसी विशेष मनोविकार या भावना को जाग्रत करना ही उन्होंने प्रतीक योजना का कार्य माना है। उनके साहित्य शास्त्र में बिम्ब-विधान को प्रतीक योजना की अपेक्षा कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी दृष्टि में 'कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का

प्रयत्न करती है, अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता।'[११] कहने की आवश्यकता नहीं कि बिम्ब-विधान से रसानुभूति में प्रत्यक्ष सहायता मिलती है।

आचार्य शुक्ल की सौन्दर्य दृष्टि भी उनकी जीवन-दृष्टि की ही भाँति वस्तुवादी और विकासवादी है। उनका निर्भ्रान्त मत है कि 'जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं। वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।' सौन्दर्य को शुक्ल जी ने सतत् उसकी गत्यात्मकता के साथ देखा है। स्थिर सौंदर्य की सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं। यह भी ध्यातव्य है कि उनका सौंदर्य मंगल का पर्याय है।

शुक्ल जी की दृष्टि में सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति ही है, अतः उनके साहित्य दर्शन के केन्द्रीय रस सिद्धान्त से उसके विपरीत एवं स्वतन्त्र होने की संभावना ही नहीं रह जाती है। जिस प्रकार उनकी रस-दृष्टि अत्यन्त व्यापक है, उसी प्रकार से उनकी सौन्दर्य दृष्टि भी अत्यन्त व्यापक है। सौन्दर्य के व्यापक क्षेत्र में वे बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति दोनों का समावेश करते हैं।

शुक्ल जी की साहित्यिक इतिहास-दृष्टि भी उनकी जीवन-दृष्टि की ही भाँति लोकवादी अर्थात् सामाजिक है, व्यक्तिवादी नहीं। उनकी साहित्येतिहास दृष्टि को व्यक्तिवादी मानना, जैसा कि डॉ० नामवर सिंह ने माना है, निराधार है। इसका स्पष्ट निरूपण शुक्ल जी की साहित्यिक इतिहास दृष्टि के विवेचन के प्रसंग में किया गया है।

शुक्ल जी ने साहित्य को जनता से सम्बद्ध करके देखा है और उसे जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा है। जनता की चित्तवृत्ति को भी उन्होंने स्थिर, स्वतन्त्र और निरपेक्ष न मानकर समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तमान बताया है। स्पष्ट है कि उन्होंने साहित्यिक इतिहास के प्रति अयुक्तियुक्त भाववादी दृष्टिकोण न अपनाकर सुसंगत वस्तुवादी एवं विकासवादी दृष्टिकोण ही अपनाया है।

साहित्यिक विकास को उन्होंने द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखा है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक काल विशेष का साहित्य जहाँ एक ओर अपनी साहित्य-परम्परा से सम्बद्ध होता है, वहीं वह दूसरी ओर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिवेश से गहराई के साथ सम्पृक्त होता है। इस प्रकार साहित्यिक विकास भी जैविकी विकास की ही भाँति 'परम्परा' और 'परिवेश' द्वारा संचालित रहता है। यही उनका साहित्यिक विकास सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

संक्षेप में शुक्ल जी के साहित्यशास्त्र का यही स्वरूप है। यह हिन्दी का अपना मौलिक साहित्य-शास्त्र है। ज्ञान, भाव और कर्म का सम्यक् योग इस साहित्य शास्त्र की अद्वितीय विशिष्टता है। उसकी यह विशिष्टता प्राचीन या आधुनिक, प्राच्य या पाश्चात्य किसी भी भाषा के साहित्यशास्त्र से उसे कहीं अधिक संगत, स्वस्थ, पूर्ण, सर्वाङ्गीण और वैज्ञानिक सिद्ध करती है।

अपनी इसी मौलिक साहित्यिक दृष्टि के अनुसार साहित्य के स्वरूप निरूपण के साथ ही साथ उसके विविध-रूपों की भी विवेचना शुक्ल जी ने की है, और इसी के

आधार पर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर घातक प्रहार किया है। क्रोचे की अभिव्यंजनावाद सम्बन्धी उनकी मान्यताओं को लेकर विद्वानों में बहुत खलबली है। हम विस्तृत विवेचन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विद्वानों द्वारा शुक्ल जी पर लगाए गए आरोप उचित नहीं हैं। अधिकांश विद्वानों की और परिणामतः हिन्दी साहित्य के अधिकांश विद्यार्थियों की धारणा है कि शुक्ल जी ने क्रोचे को समझा ही नहीं अथवा उसकी अभिव्यंजना को भ्रमवश बाह्य अभिव्यंजना समझा है, किन्तु हमारे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि विद्वानों की यह धारणा एक निराधार निर्णय है। वस्तुतः बिना परीक्षण के निर्णय-देने वाले ऐसे लोगों ने ही न तो शुक्ल जी को समझा है और न तो क्रोचे को ही। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के प्रति शुक्ल जी द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण वस्तुतः उचित है। उनके द्वारा अभिव्यंजनावाद की इतनी विस्तृत आलोचना पागल कुत्ते का अनावश्यक भूँकना नहीं, अपितु भारतीय साहित्य के सजग प्रहरी का अस्वास्थ्यकर विरोधी तत्वों पर आवश्यकता प्रेरित प्रबल प्रहार है। निश्चय ही आज प्रहरी विजयी और स्वस्थ है, विरोधी पराजित और ध्वस्त।

## सन्दर्भ

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, सं० डा० गुलाबराय, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २०-२१। २. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २७। ३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १०। ४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १३४। ५. रस मीमांसा, पृ० १३१। ६. रस मीमांसा, पृ० ५१। ७. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २४६, सं० २००२ वि०। ८. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ७। ९. रस मीमांसा, पृ० ५४। १०. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४३। ११. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८।

# सहायक ग्रन्थ-सूची

## (क) शुक्ल जी का साहित्य

### (१) मौलिक साहित्य

#### निबन्ध

१. साहित्य, १६०४ ई०, सरस्वती, मई-जून, भाग ५, संख्या ५-६।
२. उपन्यास, १६१० ई०, ना० प्र० प०, जुलाई अंक।
३. भाषा की शक्ति, १६१२ ई०, ना० प्र० प०।
४. चिन्तामणि, भाग १, १६५० ई०।
५. चिन्तामणि, भाग २, पंचमावृत्ति, २०१६ वि०।

#### आलोचना

१. गोस्वामी तुलसीदास, १६५१ ई०।
२. जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, ना० प्र० सभा, काशी, अष्टम संस्करण, सं० २०२२।
३. सूरदास, सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सरस्वती मन्दिर, बनारस, तृतीय संस्करण।
४. रसमीमांसा, ना० प्र० सभा, काशी, तृतीय संस्करण, सं० २०१७।

#### इतिहास

१. हिन्दुस्तानी का उद्गम, ना० प्र० सभा, काशी, १६३८ ई०।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, ११वाँ संस्करण, सं० २०१४।

#### भूमिकाएँ

१. स्वसम्पादित 'भारतेन्दु साहित्य' की भूमिका, १६२८ ई०।
२. डॉ० जगन्नाथ शर्मा कृत 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' की भूमिका, १६३० ई०।
३. डॉ० रघुवीर सिंह कृत 'शेष स्मृतियाँ' की भूमिका, १६३८ ई०।
४. श्री वियोगीहरि कृत टीका 'विनय-पत्रिका' की भूमिका, १६३६ ई०।

५. विश्व प्रपंच, भाग १ की भूमिका, १९२० ई० ।
६. श्री प्रभाकरेश्वरप्रसाद उपाध्याय तथा दिनेशनारायण उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'प्रेमघन सर्वस्व' की भूमिका ।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका के विभिन्न अङ्कों की सम्पादकीय टिप्पणियाँ ।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताएँ ।
'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक कहानी, सरस्वती, १९०३ ई० ।

### (२) अनूदित साहित्य

१. मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन, १९०५ ई० ।
२. राज्य प्रबन्ध शिक्षा ।
३. आदर्श जीवन, १९१४ ई० ।
४. विश्व प्रपंच भाग १, १९२० ई० ।
५. विश्व प्रपंच भाग २, १९२० ई० ।
६. शशांक, १९२२ ई० ।
७. बुद्ध चरित्र, १९२२ ई० ।
८. कल्पना का आनन्द, ना० प्र० प०, १९०४ ई० ।
९. प्राचीन फारस का इतिहास, ना० प्र० प०, १९२० ई० ।

## (ख) हिन्दी-संस्कृत के ग्रन्थ

| लेखक | ग्रन्थ |
| --- | --- |
| अभिनवगुप्त | १. (क) हिन्दी अभिनव भारती, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, १९६० ई० । |
| | (ख) अभिनव भारती, गायकवाड़ संस्करण । |
| | २. लोचन—ध्वन्यालोक की टीका । |
| अमर सिंह | अमरकोश, १८८२ ई० । |
| अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' | हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, १९३४ ई० । |
| अरस्तू | अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र, श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र, सं० २०१४ । |
| आनन्दप्रकाश दीक्षित | रस सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, १९६० ई० । |

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| आनन्दवर्धन | १ (क) ध्वन्यालोक, व्याख्याकार : आचार्य जगन्नाथ पाठक, सं० २०११।<br>(ख) हिन्दी ध्वन्यालोक, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, १९५२ ई०। |
| इन्द्रनाथ मदान | आलोचना और साहित्य, १९६४ ई०। |
| इन्द्रपाल सिंह | शृङ्गार रस का शास्त्रीय विवेचन, १९६७ ई०। |
| उदयभान सिंह | भारतीय काव्यशास्त्र, १९६८ ई०। |
| उद्भट | काव्यालंकार सार संग्रह, १९२५ ई०। |
| कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स | १. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, अनुवादक, रमेश सिनहा, चौथा हिंदी संस्करण, १९६५ ई०।<br>२. धर्म, संपादक और अनुवादक रमेश सिनहा १९६५ ई०।<br>३. संकलित रचनाएँ ( चार भाग ) प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९६८ ई०, (अभी तक तीन ही भाग प्रकाशित हुए हैं)। |
| कार्लमार्क्स | पूँजी, १९६५ ई०। |
| कुन्तक | हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, संपादक डॉ० नगेन्द्र, १९५५ ई०। |
| केसरीनारायण शुक्ल | पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, १९६० ई०। |
| कौटिल्य | अर्थशास्त्र, रूपान्तरकार : वाचस्पति गैरोला, १९६२ ई०। |
| कृष्णदेव झारी | १. निबन्धकार रामचंद्र शुक्ल, १९५८ ई०।<br>२. रस शास्त्र और साहित्य समीक्षा, १९६५ ई०। |
| क्षेमेन्द्र | औचित्य विचार चर्चा, सं० मनोहरलाल गौड़, १९६६ ई०। |
| गजानन माधव मुक्तिबोध | एक साहित्यिक की डायरी, १९६४ ई०। |
| गणपति चन्द्र गुप्त | १. साहित्य-विज्ञान, १९६३ ई०।<br>२. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, १९६५ ई०। |
| गणेश त्र्यंबक देशपांडे | भारतीय साहित्य शास्त्र, १९६० ई०। |
| गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' | समीक्षक प्रवर श्री रामचंद्र शुक्ल, १९६६ ई०। |
| गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी | वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, १९६० ई०। |

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| गुलाब राय और विजयेन्द्र स्नातक (सं०) | आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, द्वि० सं०, १९६२ ई० । |
| गुलाबराय | काव्य के रूप, १९५० ई० । |
| | सिद्धांत और अध्ययन, १९५१ ई० । |
| गोविन्द ठक्कुर | काव्य प्रदीप (टीका) । |
| गोविन्द त्रिगुणायत | शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, दो भाग, प्र० भाग तिथि रहित, द्वितीय भाग १९५९ ई० । |
| चक्रधर नौटियाल 'हंस' | वृहद अनुवाद-चंद्रिका, १९६२ ई० । |
| चंद्रशेखर शुक्ल | रामचंद्र शुक्ल, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १९६२ ई० । |
| जगन्नाथ | रस गंगाधर, अनु० मदनमोहन झा, १९५५ ई० । |
| जयचन्द्रराय | आचार्य रामचंद्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य, १९६३ ई० । |
| जयदेव | चंद्रालोक, अनु० नंदकिशोर शर्मा, १९५० ई० । |
| जयनाथ नलिन | आचार्य रामचंद्र शुक्ल, १९६० ई० । |
| जयशंकर त्रिपाठी | आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, १९६८ ई० । |
| जयशंकर प्रसाद | काव्य और कला तथा अन्य निबंध, १९५३ ई० । |
| थियोडोरओइस्तरमान | मार्क्सवाद मूल और सारतत्व, १९६८ ई० । |
| दण्डी | काव्यादर्श, व्याख्याकार : रामचंद्र मिश्र, सं० २०१५ । |
| देवराज | आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्याएँ, १९५५ ई० । |
| देवीशंकर अवस्थी | आलोचना और आलोचना, १९६१ ई० । |
| द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी | संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ । |
| धनंजय | हिन्दी दशरूपक, अनुवादक : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, १९५४ ई० |
| नगेन्द्र | १. अनुसन्धान और आलोचना, १९६१ ई० । |
| | २. आलोचक की आस्था, १९६६ ई० । |
| | ३. काव्य बिम्ब, १९६७ ई० । |
| | ४. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, १९५८ ई० । |
| | ५. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग १, भाग २, १९५५ ई० । |
| | ६. रस-सिद्धान्त, १९६४ ई० । |
| | ७. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, १९४९ ई० । |

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| | ८. विचार और विवेचन, १९४९ ई० । |
| | ९. विचार और विश्लेषण, १९६० ई० । |
| नलिन विलोचन शर्मा | साहित्य का इतिहास दर्शन, १९६० ई० । |
| नन्ददुलारे वाजपेयी | १. आधुनिक साहित्य सं० २००७ वि० । |
| | २. नया साहित्य : नये प्रश्न, १९५५ ई० । |
| | ३. हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, १९६३ ई० । |
| नामवर सिंह | १. इतिहास और आलोचना, १९६२ ई० । |
| | २. कविता के नये प्रतिमान, १९६८ ई० । |
| | ३. छायावाद, १९५५ ई० । |
| पाणिनि | अष्टाध्यायी । |
| प्रेमनारायण टण्डन (सं०) | साहित्य : स्वरूप और समस्याएँ, १९६३ ई० । |
| फ्रेडरिक एंगेल्स | १. ड्यूहरिंग मत खण्डन, विदेशी भाषा, प्रकाशन गृह मास्को । |
| | २. लुडाविग फायरबाख और क्लासिकल जर्मन दर्शन का अन्त, प्रगति प्रकाशन, मास्को । |
| बलदेव उपाध्याय | भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १, सं० २००७ तथा भाग २, १९५२ ई० । |
| भगवतस्वरूप मिश्र | हिन्दी आलोचना, उद्‌भव और विकास, १९५३ ई० । |
| भगीरथ दीक्षित | समीक्षा लोक, १९६४ ई० । |
| भगीरथ मिश्र | १. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, १९४७ ई० । |
| | २. काव्यशास्त्र, १९५७ ई० । |
| भरत | १. नाट्यशास्त्र, काव्य माला । |
| | २. भरत का नाट्यशास्त्र, डॉ० रघुवंश, १९६४ ई० । |
| भानुदत्त | रस तरंगिणी, काशी । |
| भामह | काव्यालङ्कार, सं० १९८५ । |
| भिखारीदास | काव्यनिर्णय, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, १९५६ ई० । |
| भोज | सरस्वती कण्ठाभरण, काव्यमाला । |
| मम्मट | १. काव्यप्रकाश, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, १९६० ई० । |
| | २. काव्यप्रकाश, अनु० हरिमंगल मिश्र, सं० २००० विक्रम । |
| महावीरप्रसाद द्विवेदी | समालोचना-समुच्चय, १९३० ई० । |
| महिमभट्ट | व्यक्ति-विवेक, त्रिवेन्द्रम, संस्कृत सीरीज, १९०१ ई० । |
| मिश्रबन्धु | मिश्रबन्धु-विनोद, १९२९ ई० । |

| लेखक | ग्रन्थ |
| --- | --- |
| रघुवंश | १. प्रकृति और काव्य, १९६० ई० । |
| | २. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, १९६३ ई० । |
| रवीन्द्रसहाय वर्मा | पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिंदी पर उसका प्रभाव, १९६० ई० । |
| रांगेय राघव | काव्य कला और शास्त्र, १९५५ ई० । |
| राजशेखर | काव्य मीमांसा, हिन्दी, व्याख्याकार : डॉ० गंगासागर राय, १९६४ ई० । |
| राधाकृष्णन | १. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार सं० उमापतिराय चन्देल, १९६७ ई० । |
| | २. धर्म और समाज, १९६१ ई० । |
| रामअवध द्विवेदी | १. साहित्य रूप, सं० २०१८ । |
| | २. साहित्य-सिद्धान्त, १९६३ ई० । |
| रामकुमार वर्मा | हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, १९५७ ई० । |
| रामचन्द्र गुणचन्द्र | हिन्दी नाट्य दर्पण, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर, १९६१ ई० । |
| रामचन्द्र द्विवेदी | अलङ्कार मीमांसा, १९६५ ई० । |
| रामचन्द्र वर्मा | प्रामाणिक हिन्दी शब्दकोश, सं० २००८ वि० । |
| रामदरश मिश्र | हिन्दी आलोचना का इतिहास, १९६० । |
| रामदहिन मिश्र | १. काव्य-दर्पण, प्र० सं० १९५१ ई० । |
| | २. काव्य विमर्श, १९५१ ई० । |
| | ३. काव्य में अप्रस्तुत योजना, सं० २००५ । |
| रामनरेश वर्मा | वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना, १९५० ई० |
| राममूर्ति त्रिपाठी | १. औचित्य विमर्श । |
| | २. रसविमर्श १९६५ ई० । |
| | ३. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, १९६६ ई० । |
| रामलाल सिंह | आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत, १९५८ ई० । |
| रामविलास शर्मा | १. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना, द्वि० सं०, १९५९ ई० । |
| | २. आस्था और सौंदर्य, १८८१ शकाब्द । |
| | ३. प्रगति और परम्परा, १९४८ ई० । |
| | ४. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, १९५४ ई० । |
| | ५. भाषा और साहित्य, १९६१ ई० । |
| | ६. साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन, १९६८ ई० । |

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| | ७. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', १९५९ ई० । |
| रामशंकर शुक्ल 'रसाल' | १. हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९३१ ई० । |
| | २. हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास, १९३७ ई० । |
| रामस्वरूप चतुर्वेदी | भाषा और संवेदना, १९६४ ई० । |
| राहुल सांकृत्यायन | १. दर्शन दिग्दर्शन, १९४४ ई० । |
| | २. वैज्ञानिक भौतिकवाद, १९४२ ई० । |
| रुद्रट | १. काव्यालङ्कार, काव्यमाला, सं० १९९६ । |
| | २. काव्यालङ्कार, व्याख्याकार : रामदेव शुक्ल, १९६६ ई० |
| रुय्यक | अलंकार सर्वस्व-संजीवनी, व्याख्याकार : डॉ० रामचंद्र द्विवेदी । |
| लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' | काव्य में अभिव्यंजनावाद सं० २००७ । |
| लेनिन | संकलित रचनाएँ, तीन खण्ड, ६ भाग, १९६० ई० । |
| लोंजाइनस | काव्य में उदात्त तत्त्व, अनुवादक—डॉ० नेमिचंद्र जैन, भूमिका-लेखक—डॉ० नगेंद्र, १९६१ ई० । |
| वामन | काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, १९५४ ई० । |
| विजयेन्द्र स्नातक | चिंतन के क्षण, १९६६ ई० । |
| विद्यानाथ | प्रताप रुद्रीयम् । |
| विश्वनाथ | १. साहित्य दर्पण, अनुवादक—डॉ० सत्यव्रत सिंह, १९५७ ई० । |
| | २. साहित्य दर्पण, विमला टीका, १९५५ ई० । |
| | ३. साहित्य दर्पण, काणे । |
| विश्वनाथप्रसाद मिश्र | वाङ्मय विमर्श, १९४२ ई० । |
| वेदव्यास | अग्निपुराण, १९०० ई० । |
| शंकरदेव अवतरे | हिन्दी साहित्य में काव्य-रूपों के प्रयोग, १९६२ ई०, २०वीं शताब्दी । |
| शारदा तनय | भाव प्रकाशनम् । |
| शाङ्‌र्गदेव | संगीत रत्नाकर, १८९७ ई० । |
| शिवदान सिंह चौहान | १. आलोचना के मान, १९५८ ई० । |
| | २. आलोचना के सिद्धान्त, १९६० ई० । |
| | ३. साहित्य और समस्याएँ, १९५९ ई० । |
| | ४. साहित्यानुशीलन, १९५५ ई० । |
| शिवनाथ | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००२ । |

| लेखक | ग्रन्थ |
| --- | --- |
| श्यामसुन्दर दास | १. साहित्यालोचन, १९५५ ई० । |
| | २. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, सं० १९७७ । |
| सत्यव्रत विद्यालंकार | एकादशोपनिषत्, १९५४ ई० । |
| सीताराम चतुर्वेदी | समीक्षाशास्त्र, सं २०१० । |
| एस० पी० खत्री तथा शिवदान सिंह | आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत, १९६४ ई० । |
| सुधा शुक्ल | आचार्य शुक्ल, १९६२ ई० । |
| हजारीप्रसाद द्विवेदी | १. काव्यशास्त्र, १९६६ ई० । |
| | २. साहित्य सहचर, १९६५ ई० । |
| | ३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९६३ ई० । |
| | ४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, प्रथम संस्करण । |
| हेमचन्द्र | १. काव्यानुशासन । |

## (ग) पत्रिकाएँ

१. आनन्द कादम्बिनी ।
२. आलोचना (इतिहास और आलोचना विशेषांक और नवम्बर, ५५ आदि विभिन्न अंक) ।
३. इन्दु, प्रथम अंक, १९१० ई० ।
४. जिज्ञासा, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, दर्शन विभाग, १९६८, सं० संगमलाल पाण्डेय।
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका ।
६. पारिजात, वर्ष १ अंक ९ ।
७. माधुरी ।
८. सरस्वती ।
९. साहित्य संदेश (शुक्ल विशेषांक) ।
१०. सोवियत दर्पण (अङ्क २७, सितम्बर १९६८ और अङ्क ४७, सितम्बर १९६८ ई०) ।
११. हिन्दुस्तानी ।

## (घ) अंग्रेजी-ग्रन्थ


Abercrombie, Lascelles. 1. Principles of Literary criticism.

Abrams, M. H. 1. The Mirros and the Lamp, 1958.

Aristotle— 1. Poetics—1934.

Arnold, Mathew— 1. Essays in criticism, 1915.

Bradley, A. C. 1. Oxford Lectures on Poetry, 1950.

Carritt, E. F. 1. Theory of Beauty, 1962.

Caudwell, Cristopher. 1. Illusion and Reality, 1947.

Coleridge, S. T. 1. Biographia Literaria, 1906.

Collingwood, R. G. 1. The Idea of History.

Croce, Benedetto— 1. Aesthetic, Translated from the Italian by Douglas Ainslie, 1960.
2. An Autobiography, Translated by R. G. Colling wood, 1927.

Draver, James, 1. A Dictionary of Psychology.

De. S. K. (Dr.) 1. History of Sanskrit Poetics 1923.

Dunton, Watts 1. Poetry (Encyclopaedia Britanika, Ninth Ed.)

Eliot, T. S. 1. Traditions and Individual Talent.

Empson, William. 1. Seven Types of Ambiguity, 1961.

Engels, Fredrick. 1. Dialectics of Nature, 1966.

Finkelstein, Sideny 1. Art and Society, 1947.

Gilbert, Katharine and Kuhn, Helmut. 1. A History of Aesthetics, 1956.

Greene, T. M. 1. The arts and the Art of Criticism, 1947.
2. The meaning of Art.

Gupta, Rakesh (Dr.) 1. Psychological studies in Rasa, 1950.

Hulme, T. E. 1. Speculations, 1960.

Herd, Gerald. 1. These Hurrying years, 1933.

Lewis C. D. 1. The poetic image, 1958.

Mackael, G. W. 1. Lectures on Poetry.

Mcdougall, William 1. Social psychology, 1950.

| | |
|---|---|
| Odgen, C. K., Richards, I. A. | 1. The meaning of meaning, 1956. |
| Papini, G. | 1. Four and Twenty minds. |
| Plekhanove, G. | 1. Unaddressed Letters : Art and Social life, 1957. |
| Raghvan, V. (Dr.) | 1. The number of Rasas Ist Ed. |
| Richards, I. A. | 1. Practical Criticism, 1929. |
| | 2. Principles of Literary criticism, 1963. |
| Russell, Bertrand. | 1. Wisdom of the west, 1959. |
| Sankaran, A. (Dr.) | 1. Some aspects of Literary criticism in Sanskrit or the Theories of Rasa. Ist Ed. |
| Santayana, George. | 1. The Sense of beauty. |
| Shand, A. F. | 1. Foundation of Character, 1914. |
| Shipley | 1. Dictionary of Literary Terms. |
| Skelton, Robin. | 1. The poetic pattern, 1956. |
| Spingarn, J. E. | 1. "The New Criticism" in criticism in America, 1924. |
| Trotsky, Leon | 1. Literature and Revolution, 1923. |
| Welleck, Rene and Warren, Austin. | 1. Theory of Literature, 1963. |
| Welleck, Rene. | 1. The Theory of Literary History, 1936. |
| Wimsatt, W. K. and Brooks, C. | 1. A short History : Literary criticism, 1957. |
| Yokhot, O. | 1. What is Dilectical Materialism, 1965 |
| Zhadanov, A. A. | 1. On Literature, Music and philosophy, 1950. |